वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० ११३

ज्ञानामृत

लेखिका :
पू० गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

प्रकाशक :
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथमावृत्ति
११०० प्रति

वैसाख शुक्ला तीज–अक्षय तृतीया
८ मई सन् १९८९

मूल्य :
४५ ००

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला मे दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, कन्नड, मराठी आदि भाषाओ के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयो पर लघु एव बृहद् ग्रन्थो का मूल एव अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती है।

ग्रन्थमाला सम्पादक

ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन
बी० ए०, शास्त्री

ब्र० कु० माधुरी
शास्त्री

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि के शुभ अवसर पर प्रकाशित

मुद्रक—सुमन प्रिन्टर्स, कनोहरलाल मार्केट, शारदा रोड, मेरठ। ☎ २४३१६

⁂ विषय दर्पण ⁂

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

卐——卐

आद्यमिताक्षर

आर्यिका ज्ञानमती

"ज्ञानामृत" यह ग्रंथ अनेक जैन आगम के मंथन से निकाला गया ज्ञानरूपी अमृत ही है अतः इसका नाम सार्थक है। इसमें "णमोकार मंत्र के अर्थ" से लेकर "शांतिभक्ति" पर्यंत पच्चीस विषय हैं। प्रत्येक विषय एक दूसरे से संबधित न होकर अपने आप मे स्वतन्त्र हैं फिर भी किसी न किसी आगम ग्रंथ के आधार से ही है।

१. णमोकार मंत्र का अर्थ—षट्खंडागम की टीकास्वरूप धवला पुस्तक एक के आधार से यह लेख लिखा गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु भी तीनरत्न से युक्त होने से पूज्य है तथा सिद्धो से पहले अर्हंतों को नमस्कार क्यों किया? इसका अच्छा खुलासा किया गया है। पुनः महामंत्र की महिमा बतलाते हुये महामंत्र के पैंतीस अक्षर आदि का विस्तार करके इस मंत्र से ही श्रुतज्ञान के संपूर्ण अक्षर निकाल कर दिखाये गये हैं। यथा स्थान टिप्पण में ग्रंथो के नाम दे दिये गये हैं।

२. गृहस्थ धर्म—यह प्रकरण भी अतिसक्षेप में सागारधर्मामृत से लिया गया है। इसमें मद्य, मांस, मधु तथा पंच उदुबर फलो के त्यागरूप अष्टमूलगुण से लेकर चार आश्रम तक का वर्णन है। पूजा के प्रकार में मदिर बनवाने से आरभ होता है फिर भी महापुण्य का कारण है ऐसा दिखलाया है। दान के संक्षिप्त भेद दिखलाकर "कन्यादान" भी समदत्ति दान मे आता है यह दिखलाया है। चार आश्रम के नाम व लक्षण चारित्रसार ग्रथ से लिये गये हैं।

३. सम्यक्त्वसार—इसमें दश प्रकार के सम्यक्त्व के लक्षण दिये गये है। यह प्रकरण आत्मानुशासन ग्रथ के आधार से है। इसमें निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व का भी स्पष्टीकरण है।

४. चारित्रप्राभृतसार—अष्टपाहुड़ ग्रंथ में श्रीकुंदकुंददेव ने आठ पाहुड़-प्राभृत ग्रथ बनाये हैं। उनमें से चारित्र-प्राभृत में सम्यक्त्वचरण चारित्र का अच्छा वर्णन किया है इससे आज जो चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र मानते हैं वह निराधार है उसके स्थान में यह सम्यक्त्वचरण ही घटित करना चाहिये। हमें आचार्यों के मान्य विषयों को ही श्रद्धान की कोटि में लेना चाहिये। इसमें श्रीश्रुतसागरसूरि कृत टीका का भी आधार लिया गया है।

श्रावक के बारह व्रतों में शिक्षाव्रत के अंतर्गत ही सल्लेखना व्रत को लिया है। मुनियों के धर्म में तेरह प्रकार के चारित्र का संक्षिप्त वर्णन किया है।

५. बोधप्राभृतसार—इसमें आयतन, चैत्यगृह आदि ग्यारह स्थान बतलाये गये हैं। इनके विस्तार में जिनमुद्राधारी दिगंबर मुनियों को भी लिया है और उन्हें "जंगमप्रतिमा" नाम दिया है। इत्यादि विषय अच्छी तरह समझने योग्य हैं। इसमें भी श्रीश्रुतसागरसूरिकृत टीका का आधार लिया है और आदिपुराण से भी विषयों को स्पष्ट किया है।

६. उपासक धर्म—यह विषय "पद्मनंदिपंचविंशतिका" ग्रंथ से संक्षेप में लिया गया है। इसमें श्रावक की छह क्रियाओं का वर्णन है सात व्यसन के त्याग पर जोर देकर जिनभक्ति और गुरुभक्ति को अच्छा महत्त्व दिया है। जीवदया और बारह अनुप्रेक्षाओं का भी वर्णन है। जो मुनियों की उपासना करे वह उपासक है ऐसा उपासक ही श्रावक है। द्वादशांग में उपासकाध्ययनांग नाम से एक अंग ही स्वतन्त्र है अतः श्रावकों में मुमुक्षु शब्द का प्रयोग आगमसम्मत नहीं है।

७. दान—यह विषय भी "पद्मनंदिपंचविंशतिका" ग्रंथ से लिया गया है। इसमें राजा श्रेयांस को "दानतीर्थकर्ता" कहा है यह अतिमहत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण में धन के सदुपयोग का देते हुये दान की महिमा दिखलायी है। इसमें मुनियों के चरण प्रक्षालन कर गंधोदक लेने का विधान स्पष्ट है। गृहस्थाश्रम की सफलता दान-पूजा से ही है ऐसा सिद्ध करके पात्र के तीन भेद दिखलाये हैं।

८. समयसार का सार—समयसार के स्वाध्याय करने वालों के लिये यह "समयसार का सार" एक महत्त्वपूर्ण निर्देशिका के समान है। इसमें आचार्यश्री कुंदकुंददेव ने ही व्यवहारनय की उपयोगिता सूचक जो गाथायें ली है उनमें से कुछ को उद्धृत किया गया है। इस ग्रन्थ के टीकाकार श्रीअमृतचंद्रसूरि और श्रीजयसेनाचार्य दोनों के अभिप्राय भिन्न-भिन्न नहीं है प्रत्युत् श्रीअमृतचद्रसूरि की गूढ़ टीका के भावार्थ और विशेषार्थ रूप ही श्रीजयसेनाचार्य की टीका है यह अतीव सरल है और स्थल-स्थल पर गुणस्थानों की व्यवस्था को भी खोला गया है। इन दोनों टीकाओ सहित समयसार को पढ़ने से अर्थ का अनर्थ होने की संभावना नहीं रहती है। इसी अभिप्राय से मैंने सन् १९७८ में समयसार का दोनों टीकाओं सहित अनुवाद प्रारंभ किया था किंतु मध्य में अनेक व्यासंग, लेखन कार्य आदि हो जाने से वह छूट गई थी मात्र सोलह गाथाओं का ही अनुवाद हो पाया था पुनः इस वर्ष उसे लिखना प्रारंभ कर अभी १७ मार्च १९८९ के दिन मैंने यह अनुवाद कार्य पूर्ण किया है।

इस समयसार के सार में प्रत्येक अधिकारों के क्रम से संक्षेप में विषयों को उभयनय के आश्रय से स्पष्ट किया है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी स्त्री-पुरुष को यह विषय एक नहीं अनेक बार पढ़ना चाहिये। इसमें टिप्पण में गाथायें, टीका के अंश भी यथास्थान दे दिये गये हैं अतः ग्रन्थकर्ताओं की प्रामाणिकता दिखती है क्योंकि इसमें मेरा निज का कुछ भी नहीं है।

इस प्रकरण में द्रव्यलिंग और भावलिंग का भी समन्वय है न कि निषेध। कुछ समयसारी लोग समयसार से द्रव्यलिंग का सर्वथा निषेध करते हैं किंतु जब श्री कुंदकुंददेव स्वयं निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि थे तो भला वे द्रव्यलिंग का निषेध कैसे करते? अतः भावलिंग सहित होना चाहिये। आगे निर्विकल्प ध्यान में द्रव्यलिंग का विकल्प छोड़ना ही होता है इत्यादि विषय अच्छी तरह समझना चाहिये।

९. सप्तपरमस्थान—यह विषय आदिपुराण के आधार से है। इसमे सातो परमस्थानो का अच्छा विवेचन किया गया है। वास्तव मे सज्जाति के बिना आगे के छह परमस्थान असभव हैं। इसी के बाद सद्गार्हस्थ्य परमस्थान है इसमे श्रावको की दान, पूजा, शील, उपवास ऐसी क्रियायें कही गई हैं। पारिव्राज्य परमस्थान मे दीक्षा के पात्र और उनके मूलगुणो का वर्णन करके सत्ताइस सूत्रपद दिखलाये हैं। आगे सुरेन्द्रता परमस्थान मे सौधर्म इन्द्र के वैभव का वर्णन करके इद्रपद का महत्त्व दिखलाया है। साम्राज्य परमस्थान में चक्रवर्ती का वैभव दिखलाया गया है। अनतर छठ आर्हन्त्य परमस्थान में समवसरण का सुन्दर वर्णन दिया गया है पुन तीर्थंकर देव के चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्यों का वर्णन किया है। आगे निर्वाण परमस्थान मे नियमसार ग्रथ के आधार से अतिसक्षिप्त निर्वाण सुख का वर्णन किया है। ये सात परमस्थान बहुत ही महत्वपूर्ण हैं इनका मैंने अतीव सक्षेप से दिग्दर्शन कराया है।

१०. सुद मे आउस्सतो—हे आयुष्मतो ! मैंने सुना है। इस तरह श्रीगौतमस्वामी के मधुर सबोधन वाक्य से प्रारभ करके इस विषय मे सक्षेप मे श्रावकधर्म का वर्णन किया गया है। आज प्रश्न उठता है कि श्रीगौतमस्वामी ने तो कोई ग्रथ नही रचे है, ठीक है किन्तु इसका समाधान यह है कि श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से निकले हुये प्रतिक्रमण सूत्र है जिनका हम सभी मुनि-आर्यिकाय, क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें आदि प्रतिदिन उच्चारण करते है। टीकाकारो ने इन्हे श्रीगौतमस्वामीकृत ही कहा है। यह मौखिक विद्या गुरुपरपरा से आचार्यों को मिलती रही है। अनतर लिपिबद्ध हुई होगी। अत यतिप्रतिक्रमण, श्रावकप्रतिक्रमण, चैत्यभक्ति और वीरभक्ति तथा गणधरवलय मत्र ये श्री गौतमस्वामी के मुख से निकले हुए माने गये है। इसमे प्रतिक्रमण सूत्र को कतिपय पक्तियो को लेकर अर्थ दिया है साथ ही श्रीसमतभद्रस्वामी रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के पद्यानुवाद से बारहव्रतो के पद्य भी दिये हैं। इसमे देव वदना विधि को भी दिखलाया है। इस देववदना का नाम ही सामायिक है जिसे साधु त्रिकाल करते हैं।

श्रीसमतभद्रस्वामी ने अतिथिसविभाग को वैयावृत्य नाम से कहा है और उसके भी दान के भेद से चार भेद कर दिये हैं। इसे भी स्पष्ट कर दिया है। अनतर पूजा के महत्त्व मे मेढक का उदाहरण रखा है और जिनपूजा के बिना श्रावको की सामायिक नही होती है इसका खुलासा किया है। अत मे सल्लेखना का लक्षण दिखाकर यह "आत्मघात" नही है ऐसा सिद्ध किया है। श्रावक के व्रतो को "धर्म" सज्ञा है और फल परम्परा से निर्वाण है यह विषय श्रीगौतमस्वामी के सूत्रो मे ही रखा है।

११. गतियो से आने-जाने के द्वार—गति चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्य गति और देवगति। नरकगति मे मनुष्य या तिर्यंच ही जा सकते हैं देव या नारकी नही। इस प्रकार से चौबीस दण्डक नाम के लघु प्रकरण से तथा त्रिलोकसार और तिलोयपण्णत्ति से इस प्रकरण को लिखा है। इसको पढ़कर यही समझना विशेष है कि एक मनुष्य गति ही ऐसी है कि जिससे सर्वत्र जाया जा सकता है यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है।

१२. जीव के स्वतत्त्व—जीव के स्वतत्त्व पाँच हैं। इन्हें स्वतत्त्व क्यों कहा ? इनके अवांतर भेद कितने हैं ? ये स्वतत्त्व हैं तो इनका छोड़ना नहीं होने से मोक्ष कैसे होगा ? तत्त्वार्थ-राजवार्तिक के आधार से अच्छा खुलासा है।

१३. द्वादशांग का विषय—सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकली हुई वाणी को श्रीगौतम-स्वामी ने बारह अंगों में गूंथा था। सर्वप्रथम अंग का नाम आचारांग है इसमें मुनियों के मूलगुण, उत्तरगुण, चर्या आदि का विस्तार से वर्णन किया है। आज पंचम काल में दिगम्बर सम्प्रदाय में ये द्वादशांग नहीं हैं, इनका अंशमात्र है जो कि घड़े में भरे हुये गंगाजल के समान पवित्र है, जिनवाणी है। उसी के आधार पर हम और आप मोक्ष मार्ग को देख रहे हैं।

१४. श्रुतपंचमी—"श्रुतावतार" नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ श्रीइंद्रनंदि आचार्य का बनाया हुआ है। उसमें षट्खंडागम सूत्र रचना का इतिहास दिया गया है। यह संक्षेप से धवला पुस्तक में भी है। इसी के आधार से षट्खंडागम सूत्रों की रचना पूर्ण होने पर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन इन ग्रन्थों की चतुर्विध संघ ने पूजा की थी तभी से श्रुतपचमी दिवस मनाया जाता है। इसी की संक्षिप्त कथा ली गई है।

१५. पंचकल्याणक—जो महापुरुष सोलहकारणभावना आदि के द्वारा पुण्य संचित कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेते है वे पांच कल्याणक के स्वामी होते हैं। इंद्रगण स्वर्ग से आकर यहाँ उन तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण के समय महामहोत्सव करते हैं। इन्ही पांचों कल्याणकों का संक्षिप्त वर्णन दिया गया है।

१६. जैनधर्म—जो कर्मशत्रुओं को जीत लेते हैं वे जिन कहलाते हैं उनके उपासक "जैन" कहलाते हैं। और जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित धर्म जैनधर्म कहलाता है। यहाँ इस धर्म के विषय को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चारों में विभक्त करके दिखाया गया है। जैनधर्म को संक्षेप में समझने के लिये यह विषय पर्याप्त है।

१७ मुनिचर्या—इसमें मुनियो के अट्ठाईस मूलगुणों के नाम उनके बाह्य चिन्ह पिच्छी कमंडलु आदि तथा उनकी समाचारी विधि का भी मूलाचार के आधार से कथन किया गया है। मुनियों को आज एकलविहारी नहीं होना चाहिये। मुनियों के अहोरात्र के २८ कृतिकर्म विधि का भी अच्छा स्पष्टीकरण है। पुन: इसमें यह बतलाया है कि आज पंचमकाल में भी मुनि होते हैं ये श्री कुंदकुंददेव के वाक्य हैं।

१८. आर्यिकाचर्या—मूलाचार के आधार से आर्यिकाओं की चर्या लिखी गई है। ये आर्यिकायें मुनियों के समान ही मूलगुणों का पालन करती हैं। आचारसार आदि ग्रन्थों के आधार से इनको उपचार महाव्रती कहा गया है। इनके पास दो साड़ियां होते हुये भी ये लंगोटी मात्रधारी ऐलक से पूज्य हैं ऐसा शास्त्रों के आधार से सिद्ध किया है।

१९. त्रिलोक विज्ञान—इस प्रकरण में अतीव संक्षेप में तीनलोक का वर्णन किया गया है। मध्यलोक में ही मनुष्यों का निवास है। ऊर्ध्वलोक के मस्तक पर सिद्धशिला है जहाँ अनंतानंत सिद्ध भगवान् विराजमान है। इसमें पल्य को समझने का उपाय भी बतलाया गया है।

२०. मानव लोक—मध्यलोक में मात्र ढाई द्वीप में ही मनुष्य रहते हैं। इन मनुष्यों के आर्य म्लेच्छ की अपेक्षा दो भेद हैं। अथवा कर्मभूमियां और भोगभूमिज की अपेक्षा भी दो भेद हैं। इन मनुष्यों का नियमसार तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार आदि के आधार से अच्छा विवेचन किया गया है।

२१. जंबूद्वीप—यह तीन लोक के मध्य जो मध्यलोक है उसके भी ठीक मध्य में है, यह पहला द्वीप कहलाता है अतः इसे ही केन्द्र बिंदु बनाकर असंख्यात द्वीप समुद्र माने गये हैं। इस जंबू-द्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में ही आज का उपलब्ध सारा विश्व है। हम और आप सभी इस आर्यखण्ड में ही रह रहे हैं। इसमें षट्काल परिवर्तन को भी दे दिया है।

२२. अलौकिक गणित—लौकिक और अलौकिक के भेद से गणित के दो भेद प्रमुख हैं। इस प्रकरण में अलौकिक गणित का संक्षेप से कथन किया गया है। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनत भेदों के प्रभेद करके नाममात्र से दिग्दर्शन कराया गया है। विषय क्लिष्ट होते हुये भी पढ़ने का प्रयास करके समझने का प्रयास करना चाहिये।

२३. दशलक्षण धर्म—जैनधर्म में दशधर्म के नाम प्रसिद्ध हैं। प्रतिवर्ष भाद्रमास में दश दिन दशलक्षण पर्व बहुत ही उत्साह से मनाते हैं। मंदिर में दशलक्षण धर्म की पूजा, भक्ति, व्रत, उपवास करके आम जनता में भी उत्तम क्षमा, मार्दव आदि का उपदेश देकर धर्म का अच्छा प्रचार करते है। इन दशधर्मों को मैंने कविताबद्ध करके लिखा है। विद्वानो के लिये उपदेश करने में भी ये कवितायें सरल और उपयोगी है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये तो उपयोगी है ही है।

२४. अध्यात्म पीयूष—यह मेरी अध्यात्मप्रिय लघु रचना है। इसमे आत्मतत्त्व का वर्णन सुन्दर है। पुनः निश्चय-व्यवहारनय का अच्छा समन्वय है। अत के पद्यो में बारह भावनाओ को लिया गया है।

२५. शांतिभक्ति—श्री पूज्यपादस्वामो ने संस्कृत में दश भक्तियाँ बनाई हैं उनमें से यह शांतिभक्ति अतिशयपूर्ण चमत्कारिक रचना है। कहते हैं एक बार श्रीपूज्यपादस्वामी की स्वयं दृष्टि लुप्त हो गई थी तब उन्होंने यह रचना बनाई। इसके प्रसाद से उनकी नेत्रज्योति ज्यों की त्यों वापस आ गई। मुझे भी इस शांतिभक्ति का प्रत्यक्ष चमत्कार अनुभव मेंआया है। कई नेत्र-रोगियों को मैंने इसका सोलह दिन तक सोलह-सोलह बार पाठ करने को कहा है और उन्होंने पाठ करके नेत्रज्योति को प्राप्त कर प्रभावित होकर आकर मुझे बताया है। इसी हेतु मैंने हिंदी पद्यानुवाद सहित इस भक्ति को यहाँ दिया है। इसका प्रतिदिन पाठ करके शारीरिक, मानसिक और आगंतुक सर्व प्रकार की शांति प्राप्त होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

इस प्रकार इन पच्चीस प्रकरणों के ज्ञानामृत ग्रन्थ का स्वाध्याय कर अपनी आत्मा को अमर बनाने का पुरुषार्थ करें। इस भव में भी सर्वाधिक शांति प्राप्त कर अपने लिये उचित चारित्र को ग्रहण कर अपने जीवन को पूर्ण सुखी बनावें यही मेरी मंगलकामना है।

वर्धतां जिनशासनम्।

जिनग्रंथों के आधार से यह ग्रंथ लिखा गया है उन ग्रंथों की नामावली

१. धवला पुस्तक, २. णमोकार मंत्र-एक अनुचिंतन, ३. ज्ञानार्णव,
४. सागारधर्मामृत, ५. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ६. उपासकाध्ययन
७. त्रिविक्रमव्याकरण, ८. जैनसिद्धांत कौमुदी, ९. चारित्रसार,
१०. आत्मानुशासन, ११. आलापपद्धति, १२. चारित्र प्राभृत
१३. पाक्षिकप्रतिक्रमण, १४. तत्त्वार्थसूत्र, १५. बोधप्राभृत
१६. यशस्तिलकचंपू, १७. नीतिसार, १८. आदिपुराण
१९. पद्मनंदिपंचविंशतिका, २०. तिलोयपण्णत्ति, २१. आचार्यभक्ति,
२२. उत्तरपुराण, २३. त्रिलोकसार, २३. गद्यचिंतामणि,
२५. पद्मपुराण, २६. शब्दार्णवचंद्रिका व्याकरण, २७. जयधवला पुस्तक,
२८. नियमसार, २९. श्रावकप्रतिक्रमण, ३०. रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्यावली)
३१. अनगारधर्मामृत, ३२. चौबीस दण्डक, ३३. तत्त्वार्थराजवार्तिक,
३४. धवला पुस्तक ६, ३५. गोम्मटसार कर्मकांड, ३६. हरिवंशपुराण
३७. श्रुतावतार, ३८ मूलाचार, ३९. मोक्षपाहुड़,
४०. आचारसार, ४१. प्रायश्चित्तग्रन्थ, ४२. जंबूद्वीप पण्णत्ति,
४३. श्लोकवार्तिक पंचमखंड, ४४. दशभक्ति ।

दानतीर्थ हस्तिनापुर

—क्षुल्लक मोतीसागर

भगवान् आदिनाथ का प्रथम आहार—

हस्तिनापुर तीर्थ तीर्थों का राजा है। यह धर्म प्रचार का आद्य केन्द्र रहा है। यहीं से धर्म की परम्परा का शुभारम्भ हुआ। यह वह महातीर्थ है जहाँ से दान की प्रेरणा ससार ने प्राप्त की।

भगवान आदिनाथ ने जब दीक्षा धारण की उस समय उनके देखा-देखी चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा धारण की। भगवान ने केशलोच किये उन सबने भी केशलोच किये, भगवान ने वस्त्रों का त्याग किया उसी प्रकार से उन राजाओं ने भी नग्न दिगम्बर अवस्था धारण कर ली। भगवान हाथ लटकाकर ध्यान मुद्रा मे खड़े हो गये वे सभी राजागण भी उसी प्रकार से ध्यान करने लगे किन्तु तीन दिन के बाद उन सभी को भूख प्यास की बाधा सताने लगी। वे बार-बार भगवान की तरफ देखते किन्तु भगवान तो मौन धारण करके नासाग्र दृष्टि किये हुये अचल खड़े थे, एक दो दिन के लिए नहीं पूरे छह माह के लिए। अतः उन राजाओ ने बेचैन होकर जगल के फल खाना एवं झरनों का पानी पीना प्रारम्भ कर दिया।

उसी समय वन देवता ने प्रगट होकर उन्हें रोका कि—"मुनि वेश में इस प्रकार से अनर्गल प्रवृत्ति मत करो।" यदि भूख प्यास का कष्ट सहन नही हो पाता है तो इस जगत पूज्य मुनि पद को छोड़ दो तब सभी राजाओ ने मुनि पद को छोड़कर अन्य वेश धारण कर लिये। किसी ने जटा बढ़ा ली, किसी ने बल्कल धारण कर ली, किसी ने भस्म लपेट ली। कुटी बनाकर रहने लगे।

भगवान ऋषभदेव का छह माह के पश्चात् ध्यान विसर्जित हुआ। वैसे तो भगवान का बिना आहार किये भी काम चल सकता था किन्तु भविष्य में भी मुनि बनते रहें, मोक्षमार्ग चलता रहे इसके लिए आहार के लिए निकले। किन्तु उनको कहीं पर भी विधिपूर्वक एवं शुद्ध प्रासुक आहार नही मिल पा रहा था। सभी प्रदेशों में भ्रमण हो रहा था किन्तु कहीं पर भी दातार नहीं मिल रहा था। कारण यह था उनसे पूर्व में भोग भूमि की व्यवस्था थी। लोगो को जीवन यापन की सामग्री भोजन, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सब कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाते थे। जब भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त समाप्त हुई तब कर्मभूमि में कर्म करके जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करने की कला भगवान के पिता नाभिराय ने एवं स्वयं भगवान ऋषभ देव ने सिखाई।

असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प एवं वाणिज्य करके जीवन जीने का मार्ग बतलाया। सब कुछ बतलाया किन्तु दिगम्बर मुनियों को किस विधि से आहार दिया जावे इस विधि को नही

बतलाया। जिस इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव के गर्भ में आने से छह माह पहले से रत्नवृष्टि प्रारम्भ कर दी थी पाँचों कल्याणकों में स्वयं इन्द्र प्रतिक्षण उपस्थित रहता था किन्तु जब भगवान प्रासुक आहार प्राप्त करने के लिए भ्रमण कर रहे थे तब वह भी नहीं आ पाया।

सम्पूर्ण प्रदेशों में भ्रमण करने के पश्चात हस्तिनापुर आगमन से पूर्व रात्रि के पिछले प्रहर में यहाँ के राजा श्रेयांस को सात स्वप्न दिखाई दिये जिसमें प्रथम स्वप्न में सुदर्शन मेरु पर्वत दिखाई दिया। प्रातःकाल में उन्होंने ज्योतिषी को बुलाकर उन स्वप्नों का फल पूछा। तब बताया कि जिनका मेरु पर्वत पर अभिषेक हुआ है जो सुमेरू के समान महान् हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान के दर्शनों का लाभ प्राप्त होगा।

कुछ ही देर बाद भगवान् ऋषभदेव का हस्तिनापुर नगरी में मंगल पदार्पण हुआ। भगवान् का दर्शन करते ही राजा श्रेयांस को जाति स्मरण हो गया। उन्हें आठ भव पूर्व का स्मरण हो आया। जब भगवान् ऋषभदेव राजा वज्रजंघ की अवस्था में व स्वयं राजा श्रेयांस वज्रजंघ की पत्नी रानी श्रीमती की अवस्था में थे और उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान दिया था। तभी राजा श्रेयांस समझ गये कि भगवान् आहार के लिये निकले हैं।

यह ज्ञान होते ही वे अपने राजमहल के दरवाजे पर खड़े होकर मंगल वस्तुओं को हाथ में लेकर भगवान् का पड़गाहन करने लगे।

हे स्वामी ! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु अत्र तिष्ठ तिष्ठ——विधी मिलते ही भगवान् राजा श्रेयांस के आगे खड़े हो गये। राजा श्रेयांस ने पुनः निवेदन किया—मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है भोजनशाला में प्रवेश कीजिये। चौके में ले जाकर पाद प्रक्षाल करके पूजन की एवं इक्षुरस का आहार दिया। आहार होते ही देवों ने पंचाश्चर्य की वृष्टि की। चार प्रकार के दानों में से केवल आहार दान के अवसर पर ही पंचाश्चर्य वृष्टि होती है। भगवान् जैसे पात्र का लाभ मिलने पर उस राजा श्रेयांस की भोजनशाला में उस दिन भोजन अक्षय हो गया। शहर के सारे नर नारी भोजन कर गये तब भी भोजन जितना था उतना ही बना रहा।

एक वर्ष के उपवास के बाद हस्तिनापुर में जब भगवान् का प्रथम आहार हुआ तो समस्त पृथ्वी मंडल पर हस्तिनापुर के नाम की धूम मच गई सर्वत्र राजा श्रेयांस की प्रशंसा होने लगी। अयोध्या से भरत चक्रवर्ती ने आकर राजा श्रेयांस का भव्य समारोह पूर्वक सम्मान किया। तथा प्रथम आहार की स्मृति में यहाँ एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया।

दान के कारण ही भगवान् आदिनाथ के साथ राजा श्रेयांस को भी याद करते हैं। जिस दिन यहाँ प्रथम आहार दान हुआ वह दिन बैसाख सुदी तीज का था। तबसे आज तक वह दिन प्रति-वर्ष पर्व के रूप में मनाया जाता है। अब उसे आखा तीज या अक्षय तृतीया कहते हैं।

इस प्रकार दान की परम्परा हस्तिनापुर से प्रारम्भ हुई। दान के कारण ही धर्म की परम्परा भी तब से अब तक बराबर चली आ रही है। क्योंकि मंदिरों का निर्माण, मूर्तियो का

निर्माण, शास्त्रों का प्रकाशन, मुनि संघों का विहार दान से ही संभव है। और यह दान श्रावकों के द्वारा ही होता है। श्रवण बेलगोल में एक हजार साल से खड़ी भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा भी चामुण्डराय के दान का ही प्रतिफल है जो कि असंख्य भव्य जीवों को दिगम्बरत्व का, आत्मशांति का पावन संदेश बिना बोले ही दे रही है।

यहाँ बनी यह जम्बूद्वीप की रचना भी संपूर्ण भारतवर्ष के लाखों नर नारियों के द्वारा उदार भावों से प्रदत्त दान के कारण ही मात्र दस वर्ष में बनकर तैयार हो गई जो कि सम्पूर्ण संसार के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गई है। जम्बूद्वीप की रचना सारी दुनिया में अभी केवल यहाँ हस्तिनापुर मे ही देखने को मिल सकती है। नंदीश्वर द्वीप की रचना, समवसरण की रचना तो अनेक स्थलों पर बनी हैं और बन रही है। यह हमारा व आप सबका परम सौभाग्य है कि हमारे जीवन काल में ऐसी भव्य रचना बनकर तैयार हो गई और उसके दर्शनों का लाभ सभी को प्राप्त हो रहा है।

भगवान् आदिनाथ के प्रथम आहार के उपलक्ष में वह तिथो पर्व के रूप में मनाई जाने लगी वह दिन इतना महान हो गया कि कोई भी शुभ कार्य उस दिन बिना किसी ज्योतिषी से पूछे कर लिया जाता है। जितने विवाह अक्षय तृतीया के दिन होते हैं उतने शायद ही अन्य किसी दिन होते हों। और तो और जब से भगवान् का प्रथम आहार इक्षुरस का हुआ तब से इस क्षेत्र में गन्ना भी अक्षय हो गया, जिधर देखो उधर गन्ना ही गन्ना नजर आता है। सड़क पर गाड़ी में आते जाते बिना खाये मुंह मीठा हो जाता है कदम-कदम पर गुड़, शक्कर बनता दिखाई देता है। हस्तिनापुर में आने वाले प्रत्येक यात्री को जम्बूद्वीप प्रवेश द्वार पर भगवान के आहार के प्रसाद रूप में यहाँ लगभग बारह महीने इक्षुरस पीने को मिलता है।

भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक—

भगवान् आदिनाथ के पश्चात् अनेक महापुरुषों का इस पुण्य धरा पर आगमन होता रहा है। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ एव अरहनाथ के चार-चार कल्याणक यहाँ हुए हैं। तीनो तीर्थंकर चक्रवर्ती एवं कामदेव पद के धारी थे। तीनों तीर्थंकरो ने यहाँ से समस्त छह खण्ड पृथ्वी पर राज्य किया किन्तु उन्हें शांति की प्राप्ति नही हुई। छियानवे हजार रानियाँ भी उन्हें सुख प्रदान नहीं कर सकीं अतएव उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की—मुनि बन गये। बारह भावनाओं में पढ़ते हैं—

कोटि अठारह घोड़े छोड़े चौरासी लख हाथी, इत्यादिक संपति बहुतेरी जीरण तृण सम त्यागी।

भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ ने महान तपश्चर्या करके दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति की। उनकी ज्ञान ज्योति के प्रकाश से अनेकों भव्य जीवों का मोक्ष मार्ग प्रशस्त हुआ। अंत में उन्होंने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। आज हजारों लोग उन तीर्थंकरों की चरण रज से पवित्र इस पुण्य धरा की वंदना करने आते हैं। उस पुनीत माटी को मस्तक पर चढ़ाते हैं।

कौरव पांडव की राजधानी—

महाभारत की विश्व विख्यात घटना भगवान नेमीनाथ के समय में यहाँ घटित हुई। यह वही हस्तिनापुर है जहाँ कौरव पांडव ने राज्य किया। सौ कौरव भी पाँच पांडवों को हरा नहीं सके।

क्या कारण था ? कौरव अनीतिवान थे, अन्यायी थे, अत्याचारी थे, ईर्ष्यालु थे, द्वेषी थे। उनमें अभिमान बाल्यकाल से कूट-कूट कर भरा हुआ था। पांडव प्रारम्भ से धीर-वीर-गम्भीर थे। सत्य आचरण करने वाले थे। न्याय नीति से चलते थे। सहिष्णु थे। इसीलिए पांडवों ने विजय प्राप्त की। यहाँ तक कि पांडव भी सती सीता की तरह अग्नि परीक्षा में सफल हुए। कौरवों के द्वारा बनाये गये जलते हुए लाक्षागृह से भी णमोकार महामंत्र का स्मरण करते हुए एक सुरंग के रास्ते से बच निकले।

वे एक बार पुन: अग्नि परीक्षा में सफल हुए। जब गजपंथा में नग्न दिगम्बर मुनि अवस्था में ध्यान में लीन थे उस समय दुर्योधन के भानजे कुर्यधर ने लोहे के आभूषण बनवाकर गरम करके पहना दिये। जिसके फलस्वरूप बाहर से उनका शरीर जल रहा था और भीतर से कर्म जल रहे थे। उसी समय सम्पूर्ण कर्म जलकर भस्म हो गये और अंतकृत केवली बनकर तीन पाडवों ने निर्वाण प्राप्त किया और नकुल, सहदेव उपशम श्रेणी का आरोहण करके ग्यारहवें गुणस्थान में मरण को प्राप्त करके सर्वार्थसिद्धि गये।

कौरव पांडव तो आज भी घर-घर में देखने को मिलते हैं। यदि विजय प्राप्त करना है तो पांडवों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। सदैव न्याय-नीति से चलना चाहिये। तभी पांडवो की तरह यश की प्राप्ति होगी। धर्म की सदा जय होती है।

रक्षा बंधन पर्व—एक समय हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का सघ आया हुआ था। उस समय यहाँ महापद्म चक्रवर्ती के पुत्र राजा पद्म राज्य करते थे। कारणवश बली मंत्री ने वरदान के रूप में सात दिन का राज्य माँग लिया। राज्य लेकर बली ने अपने पूर्व अपमान का बदला लेने के लिए जहाँ सात सौ मुनि विराजमान थे वहाँ उनके चारों ओर यज्ञ के बहाने अग्नि प्रज्वलित कर दी। उपसर्ग समझकर सभी मुनिराज शांत परिणाम से ध्यान में लीन हो गये।

दूसरी तरफ उज्जयनी में विराजमान विष्णुकुमार मुनिराज को मिथिला नगरी में चातुर्मास कर रहे मुनि श्री श्रुतसागरजी के द्वारा भेजे गये क्षुल्लक श्री पुष्पदंत से सूचना प्राप्त हुई कि हस्तिनापुर में मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है और उसे आप ही दूर कर सकते हैं।

यह समाचार सुनकर परम करुणामूर्ति विष्णुकुमार मुनिराज के मन में साधर्मी मुनियों के प्रति तीव्र वात्सल्य की भावना जागृत हुई। तपस्या से उन्हें बिक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई थी। वे वात्सल्य भावमा से ओतप्रोत होकर उज्जयनी से चातुर्मास काल में हस्तिनापुर आते हैं। अपनी पूर्व अवस्था के भाई वहाँ के राजा पद्म को डांटते है। राजा उनसे निवेदन करते हैं—हे मुनिराज ! आप ही इस उपसर्ग को दूर करने मे समर्थ हैं। तब मुनि विष्णु कुमार ने वामन का वेष बनाकर बलि से अढ़ाई पैर जमीन दान में मांगी। बलि ने देने का सकल्प किया। मुनिराज ने विक्रिया ऋद्धि से विशाल शरीर बनाकर दो कदम में सारा अढ़ाई द्वीप नाप लिया, तीसरा पैर रखने की जगह नही मिली। चारों तरफ त्राहिमाम् होने लगा। रक्षा करो, क्षमा करो की ध्वनि गूंजने लगी। बलि ने भी क्षमा मांगी। मुनिराज तो क्षमा के भंडार ही होते हैं। उन्होने बलि को क्षमा प्रदान की। उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने पुन: दीक्षा धारण की। सभी ने मिलकर विष्णुकुमार की बहुत भारी पूजा की।

अगले दिन श्रावकों ने भक्ति से मुनियों को खीर-सिवईं का आहार दिया और आपस में एक दूसरे को रक्षा सूत्र बांधे। यह निश्चय किया कि विष्णुकुमार मुनिराज की तरह वात्सल्य भावना पूर्वक धर्म एवं धर्मायतनों की रक्षा करेंगे। तभी से वह दिन प्रतिवर्ष रक्षा बंधन पर्व के रूप में श्रावण सुदी पूर्णिमा को मनाया जाने लगा। इसी दिन बहनें भाइयों के हाथ में राखी बाँधती हैं।

अब आगे से रक्षा बंधन के दिन हस्तिनापुर का स्मरण करें। देवगुरु शास्त्र के प्रति तन-मन धन न्योछावर कर दें। साधर्मी के प्रति वात्सल्य की भावना रखें। तभी रक्षा बंधन पर्व मनाया सार्थक हो सकता है।

दर्शन प्रतिज्ञा में प्रसिद्ध मनोवती—

गज मोती चढ़ाकर भगवान् के दर्शन कर भोजन करने का अटल नियम निभाने वाली इतिहास प्रसिद्ध महिला मनोवती भी इसी हस्तिनापुर की थी। यह नियम उसने विवाह के पूर्व लिया था। विवाह के पश्चात् जब ससुराल गई तो वहाँ संकोचवश कह नहीं पाई। तीन दिन तक उपवास हो गया। जब उसके पीहर में सूचना पहुँची तो भाई आया, उसे एकांत में मनोवती ने सब बात बता दी। उसके भाई ने मनोवती के स्वसुर को बताया। तो उसके स्वसुर ने कहा कि हमारे यहाँ तो गज-मोती का कोठार भरा है। तभी मनोवती ने गजमोती चढ़ाकर भगवान् के दर्शन करके भोजन किया।

इसके बाद मनोवती को तो उसका भाई अपने घर लिवा ले गया। इधर उन मोतियों के चढाने से इस परिवार पर राजकीय आपत्ति आ गई। जिसके कारण मनोवती के पति बुधसेन के छहो भाइयों ने मिलकर उन दोनों को घर से निकाल दिया। घर से निकलने के बाद मनोवती ने तब तक भोजन नहीं किया जब तक गजमोती चढ़ाकर भगवान के दर्शनों का लाभ नहीं मिला। जब चलते-चलते थक गये तो रास्ते में सो गये पिछली रात्रि में उन्हें स्वप्न होता है कि तुम्हारे निकट ही मदिर है शिला हटाकर दर्शन करो। उठकर सकेत के अनुसार शिला हटाते ही भगवान् के दर्शन हुए। वहीं पर चढ़ाने के लिए गजमोती मिल गये। दर्शन करके भोजन किया। आगे चलकर पुण्ययोग से बुधसेन राजा के जमाई बन गये।

इधर वे छहों भाई अत्यन्त दरिद्र अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। गाँव छोड़कर कार्य की तलाश मे घूमते-घूमते छहों भाई, उनकी पत्नियाँ व माता-पिता सभी वहाँ पहुँचते हैं जहाँ बुधसेन जिन मदिर का निर्माण करा रहे थे। लोगो ने उन्हें बताया कि आप बुधसेन के यहाँ जाओ आपको वे काम पर लगा लेंगे। वे सभी वहाँ पहुँचे उनको काम पर लगाया, बुधसेन मनोवती उन्हें पहिचान गये अन्त मे सबका मिलन हुआ। सभी भाइयों भौजाइयो तथा माता-पिता ने क्षमा याचना की। धर्म की जय हुई। इस घटना से यही शिक्षा मिलती है कि आपस में सबको मिलकर रहना चाहिये। न मालूम किसके पुण्ययोग से घर में सुख शांति समृद्धि होती है।

सुलोचना जयकुमार—

महाराजा सोम के पुत्र जयकुमार भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति हुए। उनकी धर्म परायणा शील शिरोमणि ध०प० सुलोचना की भक्ति के कारण गगा नदी के मध्य आया हुआ उपसर्ग दूर हुआ।

रोहिणी व्रत की कथा का घटना स्थल भी यही हस्तिनापुर तीर्थ है।

जम्बूद्वीप की रचना—

अनेक घटनाओं की शृंखला के क्रम में एक और मजबूत कड़ी के रूप में जुड़ गई जम्बूद्वीप की

रचना। इस रचना ने विस्मृत हस्तिनापुर को पुनः संसार के स्मृति पटल पर अंकित कर दिया। न केवल भारत के कोने-कोने में अपितु विश्व भर में जम्बूद्वीप रचना के दर्शन की चर्चा रहती है। जैन जगत में ही नहीं प्रत्युत वर्तमान दुनिया में पहली बार हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का विशाल खुले मैदान पर भव्य निर्माण हुआ है। जो कि आर्यिका ज्ञानमती माताजी के ज्ञान व उनकी प्रेरणा का प्रतिफल है।

सन् १९६५ में श्रवणबेलगोल स्थित भगवान बाहुबली के चरणों में ध्यान करते हुए जिस रचना के दिव्य दर्शन हुए थे, उसे बीस वर्ष के पश्चात यहाँ हस्तिनापुर में आकर साकार रूप प्राप्त हुआ। वर्तमान में जम्बूद्वीप रचना दर्शन के निमित्त से ही सन् १९७६ से अब तक लाखों जैन जैनेतर दर्शनार्थियों को हस्तिनापुर आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रतिदिन आने वाले दर्शनार्थियों में अधिकतम ऐसे होते हैं जो कि यहाँ पहली बार आने वाले होते हैं।

सभी दर्शनार्थियों के मुख से एक स्वर से यही कहते हुए सुनने में आता है कि हमें तो कल्पना भी नहीं थी कि इतनी आकर्षक जम्बूद्वीप की रचना बनी होगी।

हस्तिनापुर आने वाले दर्शकों को जम्बूद्वीप रचना के साथ ही उसकी प्रेरिका पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के दर्शनों का एवं उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का भी स्वर्णिम अवसर सहज में प्राप्त हो जाता है।

पूज्य माताजी ने जम्बूद्वीप रचना की प्रेरणा तो दी ही साहित्य निर्माण के क्षेत्र में भी अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया। अढ़ाई हजार वर्ष में दिगम्बर जैन समाज में ज्ञानमती माताजी पहली महिला हैं जिन्होंने ग्रन्थों की रचना की। अब से पहले के लिखे जितने भी ग्रंथ उपलब्ध होते है वे सब पुरुष वर्ग के द्वारा लिखे गये हैं—आचार्यों ने लिखे, मुनियो ने लिखे या पंडितो ने लिखे। किसी श्राविका अथवा आर्यिका द्वारा लिखा एक भी ग्रंथ कही के ग्रंथ भी भंडार मे देखने मे नही आया।

पू० ज्ञानमती माताजी ने त्याग और संयम को धारण करते हुए एक दो नहीं डेढ़ सौ छोटे-बड़े ग्रन्थों का निर्माण किया। न्याय, व्याकरण, सिद्धांत, अध्यात्म आदि विविध विषयो के ग्रन्थो की टीका आदि की। भक्ति परक पूजाओं के निर्माण में उल्लेखनीय कार्य किया है। इन्द्रध्वज विधान, कल्पद्रुम विधान, सर्वतोभद्र विधान, जम्बूद्वीप विधान जैसी अनुपम कृतियों का सृजन किया। सभी वर्ग के व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर माताजी ने विभिन्न रुचि के साहित्य की रचनाएँ कीं। प्राचीन धार्मिक कथाओं को उपन्यास की शैली में लिखा। अब तक माताजी की सौ कृतियों का प्रकाशन विभिन्न भाषाओं में दस लाख से अधिक मात्रा में प्रकाशित हुआ है।

पूज्य माताजी की लेखनी अभी भी अविरल गति से चल रही है। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव के इस पावन प्रसंग पर अभी-अभी समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेनकृत टीकाओं का हिन्दी अनुवाद किया। जो कि छपकर जन-जन के हाथों में पहुँच रहा है। प्रकाशन कार्य भी सतत् चल रहा है। इसी शृंखला में यह "ज्ञानामृत" ग्रन्थ स्वाध्याय के लिये अतिशय उपयोगी एक विशेष ग्रंथ है।

ऐसे दानतीर्थ हस्तिनापुर क्षेत्र का दर्शन महान् पुण्य फल को देने वाला है यह तीर्थक्षेत्र युगों-युगों तक पृथ्वी तल पर धर्म की वर्षा करता रहे यही मंगल भावना है।

卐——卐

टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का परिचय:—

लेखिका—ब्र० कु० माधुरी शास्त्री

अवध प्रान्त के टिकैतनगर ग्राम में सन् १९३४ में शरदपूर्णिमा की रात्रि में धरती पर एक चाँद अवतीर्ण हुआ। श्रेष्ठी धनकुमार जी के सुपुत्र श्री छोटेलाल जी की बगिया खिल उठी और श्रीमती मोहिनी देवी का प्रथम मातृत्व धन्य हो गया। कन्या के रूप में मानो कोई देवी ही वरदान बनकर आई थी। कन्या का नाम रखा गया—"मैना"।

वैसे कन्या का जन्म साधारणतया घर में कुछ समय के लिये क्षोभ उत्पन्न कर देता है, किन्तु विश्व में अनादिकाल से पुरुषों के समान नारियो ने भी महान् कार्य कर धरा को गौरवान्वित किया है। बल्कि यो भी कह सकते हैं कि सतियो के सतीत्व के बल पर ही धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है।

सस्कारों का प्रभाव जीवन में बहुत महत्त्व रखता है। ११ वर्ष की उम्र में कुमारी मैना के जीवन पर अमिट छाप पड़ी—अकलंक निकलंक नाटक के एक दृश्य की। विवाह की चर्चा के समय जो बात अकलंक ने अपने माता-पिता से कही थी कि "कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा नहीं रखना ही श्रेयस्कर है।" तदनुसार मैना ने भी उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखने का मन में संकल्प कर लिया था।

सन् १९५२ की शरदपूर्णिमा के दिन बाराबंकी में मैना ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया। बहुतों ने रोका, समझाया, संघर्ष किया लेकिन स्वातन्त्र्य प्रिय कु० मैना को रोकने में सफलता नहीं मिली। वि० सं० २००९ चैत्र कृ० १ के दिन आचार्य श्री से ही श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर क्षुल्लिका दीक्षा प्राप्त की। आपकी दृढ़ता देखकर गुरु ने नाम रखा—"वीरमती"।

जिस समय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की कुंथलगिरि में सल्लेखना हो रही थी उस समय आप भी क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ कुंथलगिरि आईं और आचार्य श्री की विधिवत् सल्लेखना का दृश्य साक्षात् दृष्टि से देखा। आचार्य श्री ने अपने प्रथम शिष्य मुनि श्री वीरसागर जी को आचार्य पट्ट प्रदान किया था। श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार "वीरमती" ने आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में प्रवेश कर वि० सं० २०१३ वैशाख कृष्णा दूज को माधोराजपुरा (राज०) में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य श्री वीरसागर महाराज ने दीक्षोपरांत वीरमती का नाम परिवर्तन कर नामकरण कर दिया—**आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी।**

आर्यिका ज्ञानमती जी ने अपनी छोटी सी अवस्था में ही गुरु के आशीर्वाद से महान् ज्ञानार्जन कर लिया। आचार्य श्री ने इन्हें हमेशा यही सबोधन दिया करते थे—माताजी ! मैंने जो आपका नाम रखा है उसका ध्यान रखना। २ वर्ष पश्चात् गुरुदेव भी जयपुर खानिया में समाधिस्थ हो गये। आचार्य श्री की समाधि के पश्चात् लगभग ६ वर्ष तक आपने आ० शिवसागर महाराज के संघ में ही रहकर ध्यानाध्ययन किया अनंतर आचार्य श्री की आज्ञानुसार अपने आर्यिका संघ सहित सम्मेदशिखर, कलकत्ता तथा संपूर्ण दक्षिण भारत की यात्रा हेतु अलग विहार किया।

दीपक जिस प्रकार स्वयं जलकर भी दूसरो को प्रकाश प्रदान करता है, चदन विषधरों के द्वारा डसे जाने पर भी सुगन्धि ही बिखराता है। उसी प्रकार पू० ज्ञानमती माताजी ने सदैव परोपकार में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है।

जहाँ आपने कुमारी कन्याओं, सौभाग्यवती महिलाओं एवं विधवा महिलाओं को गृहस्थरूपी कीचड़ से निकालकर मोक्षमार्ग में लगाया है वहीं कई नवयुवक एवं प्रौढ़ पुरुषों को भी शिक्षा देकर त्याग के चरम शिखर पर पहुँचाया है। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्ट पर विराजमान आचार्य श्री अजितसागर महाराज वर्तमान में इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। बाल ब्र० श्री राजमल जी को सन् १९५८-५९ में राजवार्तिक, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराया और दीक्षा की प्रेरणा देती रही उसी के फलस्वरूप अपने अथक प्रयासो के बल पर आखिर एक दिन मुनि दीक्षा के लिये ज्ञानमती माताजी ने तैयार कर ही दिया और सन् १९६१ में सीकर (राज०) में आचार्य श्री शिवसागर महाराज ने उन्हें दीक्षा देकर मुनि अजितसागर बना दिया।

देखिए ! त्याग की विशेषता और मातृ हृदय की उदारता, आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने तत्क्षण ही उन्हें नमोस्तु करना प्रारभ कर दिया क्योकि जैनधर्म में जिनलिग—मुनिवेष सर्वाधिक पूज्य माना गया है।

परमपूज्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे—

"पारस मणि तो लोहे को सोना बनाता है, पारस रूप नही बनाता किन्तु ज्ञानमती माताजी वह पारस हैं जो लोहे को सोना ही नहीं किन्तु पारस बना देती हैं। प्रत्युत "निजसम की बात तो जाने दो निज से महान कर देती हैं।" वास्तव मे मैंने भी यह अनुभव किया कि पू० माताजी अपने शिष्यों की तथा दूसरो की उन्नति देख सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती हैं। जिस समय उदयपुर (राज०) में जून १९८७ में मुनि श्री अजितसागर महाराज को आचार्य पट्ट प्रदान किया गया उस समय ज्ञानमती माताजी हस्तिनापुर में बैठकर भी कितनी प्रसन्न हो कर उनके दीर्घ जीवन एवं उज्ज्वल परंपरा की अखंडता हेतु मंगल कामना कर रही थीं।

इसी प्रकार से आपकी शिष्याओं में से आर्यिका श्री जिनमती माताजी, आदिमती माताजी ने आपके मुखारबिन्द से ही धर्माध्ययन करके प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं गोम्मटसार कर्मकाण्ड जैसे ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके एक आदर्श उपस्थित किया है। कई आर्यिकाएँ एवं ब्रह्मचारिणी शिष्याएँ अपनी-अपनी योग्यतानुसार यत्र-तत्र धर्म प्रचार में सलग्न हैं।

साहित्यिक क्षेत्र—

दृढ़ संकल्पी आत्मा का प्रत्येक कार्य अवश्यमेव सफल होता है। जिस प्रकार ज्ञानमती माताजी ने शिष्य निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त की है उसी प्रकार साहित्य निर्माण के क्षेत्र में इस युग में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है।

वर्तमान शताब्दी में जैन समाज की किसी महिला ने भी साहित्यसृजन का कार्य नहीं किया था। किन्तु ज्ञानमती माताजी ने जब से अपनी लेखनी प्रारभ की, तबसे लेकर आजतक उन्होंने लगभग १५० ग्रन्थों की रचना की एवं सैकड़ों संस्कृत स्तुतियाँ आदि बनाईं। जहाँ अष्टसहस्त्री जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया, अध्यात्मग्रंथ नियमसार पर स्याद्वादचन्द्रिका नामक संस्कृत टीका लिखी है वहीं बालोपयोगी बालविकास के ४ भाग तथा उपन्यास शैली में अनेकों कथानक भी लिखे हैं। जिनमें से लगभग १०० ग्रन्थों का लाखों की संख्या में प्रकाशन भी हो चुका है।

निवृत्ति मार्ग में रहते हुए भक्तिमार्ग भी आपसे अछूता नही रहा। उसी का प्रतिफल आज हम देख रहे हैं कि सारे हिन्दुस्तान में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम विधानों की धूम मची हुई है। इसी प्रकार से सर्वतोभद्र महाविधान, तीनलोक विधान, त्रैलोक्य विधान, तीसचौबीसी तथा पंचमेरु आदि विधान पू० माताजी की कलम से लिखे गए है। उनका भी हस्तिनापुर से शुभारंभ हो चुका है। भक्ति मे आदर नही रखने वाले कितने ही व्यक्ति इन विधानो को सुनकर भावितक बन जाते है तथा भक्तिरस मे डूब कर प्रत्येक प्राणी कुछ क्षणो के लिए तो परमात्मा में निमग्न हो ही जाते हैं। धर्म का गूढ़ से गूढ़ रहस्य इन विधानों की जयमालाओ मे भरा हुआ है। आत्मरसिक श्रावक के लिए किसी भी विधान की एक पुस्तक ही पर्याप्त होती है जिसके द्वारा वे चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानमती माताजी ने अपने जीवन में साहित्यसृजन का नवीन कार्य किया है। उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए आज तो कई आर्यिकाओं ने ग्रन्थ निर्माण की ओर अपने कदम बढ़ाए हैं जो नारीजाति के लिए गौरव का विषय है। एक कवि ने कहा भी है—

जो बतलाते नारी जीवन लगता मधुरस की लाली है।
वह त्याग तपस्या क्या जाने कोमल फूलों की डाली है॥
जो कहते योगों में नारी नर के समान कब होती है।
ऐसे लोगों को ज्ञानमती का जीवन एक चुनौती है॥

जंबूद्वीप निर्माण एवं ज्ञानज्योति प्रवर्तन—

सन् १९६५ में आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने ५ आर्यिकाओं सहित आर्यिका संघ का चातुर्मास कर्नाटक प्रान्त के श्रवणबेलगोला में किया। भगवान् बाहुबली की अमरकृति से वहाँ का इतिहास सर्वप्रसिद्ध है। उस वीतराग छवि को हृदयान्तरित करने हेतु पू० माताजी ने एक बार १५ दिन तक मौनपूर्वक विंध्यगिरि पर्वत पर ध्यान करने का संकल्प किया। उसी ध्यान की शृंखला

में एक दिन सम्पूर्ण अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना हुई, चित्त की यात्रा ने जंबूद्वीप को प्रधानता दी। ध्यान की क्रिया सम्पन्न होने के पश्चात् जैनागम का अवलोकन होने लगा। मन में प्रश्न उभरता कि क्या ऐसा अतिशय सम्पन्न स्थान कहीं है ? हाँ, प्रश्नवाचक चिन्ह उत्तर रूप में परिवर्तित हुआ, खोज करते-करते करणानुयोग के तिलोयपण्णत्ति एवं त्रिलोकसार में सारा ज्यों का त्यों वर्णन देखने को मिला। माताजी की प्रसन्नता का पार नही रहा क्योंकि उनका ध्यान आज सार्थक साकार रूप ले चुका था।

इसे तो भगवान् बाहुबली की देन, ध्यान की एकाग्रता और पूर्वभव के संस्कार ही मानना पड़ेगा क्योंकि इससे पूर्व माताजी को कोई ऐसा विकल्प नहीं था। पू० माताजी के मुखारविन्द से इस रचना का विवरण सुनकर सर्वप्रथम तो श्रवणबेलगोल के पीठाधीश भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। पुनः कई स्थानों पर इस निर्माण की चर्चा आई किन्तु होनहार को कोई टाल नहीं सकता, माताजी ने उत्तर प्रान्त में आकर स्थान चयन किया—पावन तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर का।

सन् १९७५ में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान ने हस्तिनापुर में संस्था के नाम से एक भूमि खरीदकर निर्माण कार्य प्रारंभ किया जिसमें प्रथमचरण के रूप में बीचोबीच का ८४ फुट ऊँचा सुमेरुपर्वत सन् १९७९ में बनकर तैयार हो गया उसके १६ जिनमंदिरों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २९ अप्रैल से ३ मई १९७९ तक संपन्न हुई। अजैन बन्धु भी इस पर्वत पर मनोरंजन की भावना से चढ़ते हैं किंतु अनायास ही भगवान् के सामने उन सबका भी मस्तक नत हो जाता है। सुमेरु पर्वत एवं ज्ञानमती माताजी का प्रभाव था कि निर्माण कार्य आगे बढ़ता गया और ६ वर्ष की अल्प अवधि में पूरा जंबूद्वीप बन कर तैयार हो गया।

इसी बीच ४ जून १९८२ को पू० माताजी की प्रेरणा से प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी ने दिल्ली के लालकिला मैदान से जंबूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन किया जिसके द्वारा १०४५ दिनों तक संपूर्ण भारत में जंबूद्वीप एवं भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ तथा अन्त में २८ अप्रैल १९८५ को हस्तिनापुर में समापन समारोह के साथ रक्षामंत्री श्री पी० वी० नरसिंहराव एवं सांसद श्री जे० के० जैन ने यहीं पर उस ज्ञानज्योति की अखंड स्थापना की जो प्रत्येक आगतुक नरनारियों को अहर्निश ज्ञान का सन्देश प्रदान करती है।

यही अवसर था जंबूद्वीप में विराजमान समस्त जिनबिम्बों की प्राण प्रतिष्ठा का। अतः २८ अप्रैल से २ मई १९८५ तक जंबूद्वीप की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई।

अब तो हस्तिनापुर नगरी सचमुच में भगवान् शांतिनाथ का युग दरशा रही है जिसे कभी राजधानी के रूप में माना जाता था। किन्तु मध्यकाल में इसकी गरिमा मात्र पुराणों तक सीमित हो गई थी, वर्तमान दशक में इसकी उन्नति देखकर कविवर द्यानतराय की ये पंक्तियाँ स्मृत हो आती हैं—

गुरु की महिमा वरणी न जाय, गुरु नाम जपो मनवचनकाय ।।

पू० ज्ञानमती माताजी के चरण पड़ते ही यहाँ की रज पुनः चंदन बन गई और वीणा के मूक तार पुनः झंकृत होकर पूर्व इतिहास की गाथा गाने लगे—

अरे ! यह तो वही भूमि है जहाँ आदि तीर्थंकर वृषभदेव को प्रथम बार इक्षुरस का आहार राजा श्रेयांस ने दिया था और स्वप्न में सुमेरु पर्वत देखा था। शायद इसीलिए ऊँचे सुमेरु पर्वत का निर्माण यहाँ की पवित्र स्थली पर हुआ है। एक ही नहीं न जाने कितने इतिहास इस भूमि से जुड़े हैं। देखिए न ! रक्षाबंधन पर्व, महाभारत की कथा, मनोवती की दर्शन प्रतिज्ञा का इतिहास, द्रौपदी के शील का महत्त्व, राजा अशोक और रोहिणी का संबंध, अभिनंदन आदि पांच सौ मुनियों का उपसर्ग, गजकुमार मुनि का उपसर्ग तथा भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ के चार-चार कल्याणक का सौभाग्य यहाँ की ही माटी को प्राप्त हुआ था। उसी का पुनरुद्धार किया परम-तपस्विनी गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने।

अपनी निन्दा प्रशंसा से दूर, आत्महित और जनहित की भावना से ओतप्रोत, रत्नत्रय की इस साधिका के पास न जाने कितने लोग आकर प्रतिदिन उनसे अपना कष्ट कहकर शांति प्राप्त करते हैं।

पूज्य माताजी की दैनिक चर्या—

कर्मभूमि में दिन और रात का विभाजन सूर्य और चाँद के इशारों पर होता है क्योंकि यहाँ की प्रकृति ने इसे ही स्वीकार किया है। मनुष्य सुबह से शाम तक अपनी समस्याओं से जूझता है पुनः थककर निद्रा की गोद में स्थान प्राप्त कर लेता है। प्रातःकाल उठकर अपने धन्धे में लग जाता है। यही क्रम सौ पचास वर्ष की प्राप्त अल्पायु मे चलता है पुनः कालकवलित हो जाता है।

इस क्षणिक विनश्वर जीवन में भी महापुरुष जीवन के प्रत्येक क्षणों का उपयोग करके उसे महान् बना लेते हैं।

आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन भी उन महापुरुषों में एक है जिन्होंने सन् १९५२ से गृहपरित्याग करके आज ३६ वर्षों में अपने को एक महान् साधक की कोटि में पहुँचा दिया है। सुबह से शाम तक उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है।

प्रातः ४ बजे उठकर प्रभु का स्मरण, अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण के पश्चात् ६ बजे तक सामायिक करती है। लेखन चूंकि उनके जीवन का मुख्य अंग ही है पुनः इस शीत ऋतु में पहले ६-३० बजे से ७-३० बजे तक लेखन कार्य करती हैं। वर्तमान में समयसार की दोनों टीकाओं का हिन्दी अनुवाद चल रहा है। उसके पश्चात् ७-३० बजे से त्रिमूर्ति मन्दिर, कमल मन्दिर और जम्बूद्वीप के दर्शन करके अभिषेक देखती हैं।

प्रातः ८ बजे से पू० माताजी समस्त शिष्यों को समयसार ग्रन्थ का संस्कृत टीकाओं से स्वाध्याय कराती हैं। बाहर से आए हुए यात्रियों को धर्मोपदेश भी सुनाती हैं और १० बजे आहार-चर्या के लिए निकलती हैं।

अनंतर मध्यान्ह में सामायिक करती हैं। पुनः २-३० बजे से विभिन्न प्रांतों से आए हुए यात्रीगण उनके दर्शन करते हैं तथा अपनी-अपनी समस्याओं के आधार पर पू० माताजी से समाधान भी प्राप्त करते हैं। यह समय २-३० बजे से ४-१५ बजे तक रहता है। ४-१५ बजे से ५ बजे तक

सामूहिक प्रतिक्रमण होता है पुनः ५ बजे माताजी अपने शिष्य शिष्याओं सहित मंदिरों के दर्शन करती हैं एवं जम्बूद्वीप की ५-७ प्रदक्षिणा लगाती हैं कभी-कभी सुमेरु पर्वत के ऊपर तक जाकर वंदना भी करती हैं।

५-४५ बजे से सायंकालीन सामायिक प्रारम्भ हो जाती है जो ६-४५ तक चलती है पुनः ७ बजे से पूर्वरात्रि स्वाध्याय सुनती हैं। अनंतर स्वयं का चिन्तन करके ६ बजे से रात्रि विश्राम करती हैं। यह तो मैंने स्वयं देखा है कि जब माताजी का स्वास्थ्य अनुकूल था तो उनका ४-५ घण्टे का समय साधुवर्गों को अध्ययन कराने में एवं ३-४ घण्टे लेखन में व्यतीत होता था।

इस प्रकार पू० गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की संक्षिप्त जीवन झाँकी मैंने प्रस्तुत की है आशा है कि हमारे पाठकगण उनके जीवनवृत्त से लाभ उठायेंगे तथा हस्तिनापुर पधार कर साक्षात् पू० माताजी के एवं उनकी अमरकृतियों के दर्शन कर धर्मलाभ प्राप्त करेंगे।

श्री वीर के समवसृति में चंदना थी। गणिनी बनीं जिनचरण जगवंदना थीं।
गणिनी वही पदविभूषित को नमूं मैं। श्रीमात ज्ञानमती को नित हो नमूं मैं॥

"इत्यलम्"

स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि

अथ पौर्वाण्हिक[1] स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ।।

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं सिद्ध मगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो-धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं—पव्वज्जामि। केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(९ बार णमोकार मन्त्र जपना—सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में।)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलिअणंतजिणे। णरपवर लोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे। अरहंते कित्तिस्से चौबीसं चेव केवलिणो ।।२।।

श्रुतभक्ति—

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं ह्यनेकभेदस्थम्।
अंगांगबाह्यभावितमनन्तविषयं नमस्यामि ।।१।।

इच्छामि भंते। सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अंगोवंगपइण्णए पाहुडयपरियम्म-सुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ-धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(णमो अरहताणं से लेकर पूरा पाठ पढ़कर ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें।)

आचार्यभक्ति—

गुरुभक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः।
वंदामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ।।१।।

इच्छामि भंते ! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसणसम्म-चारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकाल अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

पुन: स्वाध्याय समापन करते समय—

नमोऽस्तु पौर्वाण्हिक स्वाध्याय निष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्ववत् णमो अरहताणं आदि पढ़कर ९ बार महामन्त्र जपकर 'थोस्सामि' पढ़कर श्रुत-भक्ति पढ़ें।

---

1. मध्यान्ह में स्वाध्याय करते समय 'अपराण्हिक' बोलें। रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वरात्रिक' बोले।

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।।२।।

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३।।

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, पापप्रणाशणं पुण्यप्रकाशकं भव्यजीवमनः-प्रतिबोधकारकं इदं शास्त्रं श्री ज्ञानामृत[1] नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः, श्री गणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवाः तेषां वचोनुसारं आसाद्य श्री आर्यिकाज्ञानमतीविरचितं[2] ।

मंगलं भगवान्वीरो, मंगलंगौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।४।।

श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ।

---

1. जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना हो उसका नाम लेना चाहिये ।
2. उस ग्रन्थ के जो रचयिता हों उनका नाम लेना चाहिये ।

ज्ञानामृत

(लेखिका—आर्यिका ज्ञानमती)

मंगलाचरण

शंभु छन्द

अर्हंतदेव को नित्य नमूँ, जिनके वचनाम्बुधि मंथन से।
निकला यह 'ज्ञानामृत' सुमधुर, तुम पियो इसे मन अंजलि से।।
यह सूक्तिसुधानिर्झरणी है, परमानंदामृत भर देगा।
आत्मा को परमशुद्ध करके, यह सिद्धिधाम में धर देगा।।१।।

अर्थ—अर्हंत भगवान् को मेरा नित्य ही नमस्कार हो, जिनके वचनरूपी समुद्र के मंथन से यह 'ज्ञानामृत' ग्रन्थ अर्थात् ज्ञानरूपी अमृत निकला है, यह अतिशय मधुर है। हे भव्यजीवों! तुम इसे मनरूपी अजलि से पीवो। यह ज्ञानामृत ग्रथ अच्छी-अच्छी सूक्तिरूपी अमृत का झरना है अतः यह तुम्हारे में परमानद अमृत को भर देवेगा। यही ज्ञानामृत तुम्हारी आत्मा को परम-पूर्ण शुद्ध करके सिद्धिरूपी स्थान में पहुँचा देगा।

विशेषार्थ—लोक में कहावत है कि समुद्र के मंथन से अमृत निकला था, यहाँ वैसी ही कल्पना की गई है। वर्तमान में जिनेंद्र भगवान् की वाणी चार अनुयोगरूप है वही एक महासमुद्र है। उसका मनन-चिंतन करके ही मैंने उस जिनवाणीरूपी समुद्र का मंथन करके यह कुछ ज्ञानरूपी अमृत निकाला है यह अमृत अतिशय मधुर है क्योंकि मन को और कर्ण को भी अतिशय प्रिय लगता है। जो भव्यजन इस 'ज्ञानामृत' ग्रंथ का स्वाध्याय करेंगे, पढ़ेंगे-पढ़ावेंगे, वे मन को अतिशय पुष्ट कर लेंगे क्योंकि इसे हृदय में धारण करना ही मनरूपी अंजलि में भर-भर कर इसे पीना है। इसमें बहुत-सी सूक्तियाँ भरी हुई है जो अमृत के झरने के समान है उनको अपने में उतारने से—उसरूप प्रवृत्ति करने से परमानंदरूप अमृत प्राप्त होगा और पुनः यह आत्मा परमशुद्ध सिद्ध बनकर सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जावेगी यहाँ ऐसा अभिप्राय है।

णमोकार मंत्र का अर्थ

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ।।१।।

अरिहंतो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओ को नमस्कार हो।

(१) 'णमो अरिहंताणं'

'अरिहननादरिहंता !' 'अरि' अर्थात् शत्रुओं के 'हननात्' अर्थात् नाश करने वाले होने से 'अरिहत' कहलाते हैं।

नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले जो अशेष दु ख हैं, उन दु:खो को प्राप्त कराने में निमित्त कारण होने से मोह को 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है।

शंका—केवल मोह को ही अरि मान लेने पर शेष कर्मो का व्यापार निष्फल हो जावेगा ?

समाधान—ऐसी बात नही है, क्योकि बाकी के सभी कर्म मोह के ही आधीन है। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुये नही पाये जाते हैं। जिससे कि वे अपने कार्य में स्वतत्र समझे जाये। इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसी के आधीन हैं।

शंका—मोह कर्म के नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मो की सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोह के आधीन होना नही बनता ?

समाधान—ऐसा नही समझना चाहिये, क्योकि मोहरूप अरि के नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण की परम्परारूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहती है। इसलिये उनका सत्व असत्व के समान हो जाता है। तथा केवलज्ञानादि सपूर्ण आत्म गुणो के आविर्भाव के रोकने मे समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रु के नाश करने से 'अरिहत' यह सज्ञा प्राप्त होती है।

'रजोहननाद्वा अरिहंता'। अथवा रज अर्थात् आवरण कर्मो के नाश करने से 'अरिहत' होते हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलि की तरह बाह्य और अतरग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनंत अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय स्वरूप वस्तुओ को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबधक होने से रज कहलाते है। मोह को भी रज कहते हैं, क्योकि, जिस प्रकार जिनका मुख भस्म से व्याप्त होता है उनमे जिह्मभाव—कार्य की मदता देखी जाती है, उसी प्रकार मोह से जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूति में कालुष्य, मदता या कुटिलता पाई जाती है। शेष कर्मों का विनाश इन तीन कर्मों के विनाश का अविनाभावी है।

'रहस्याभावाद्वा अरिहंता' । अथवा 'रहस्य' के अभाव से भी अरिहंत होते हैं । रहस्य अतराय कर्म को कहते हैं । इस अतराय कर्म का नाश शेष तीन घातिया कर्मों के नाश का अविनाभावी है, और अतराय कर्म के नाश होने पर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं ।

'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः ।' अथवा सातिशय पूजा के योग्य होने से अर्हंत होते हैं, क्योंकि गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पाँचो कल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्यो को प्राप्त पूजाओ से अधिक अर्थात् महान है, इसलिये इन अतिशयों के योग्य होने से अर्हन्त होते है ।

अनतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनतवीर्य, अनंतविरति, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग आदि प्रगट हुये अनत गुण स्वरूप होने से जिन्होंने यही पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिक मणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये सूर्य बिंब के समान जो देदीप्यमान हो रहे है, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने ज्ञान मे ही संपूर्ण प्रमेय के प्रतिभासित होने से जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं, सम्पूर्ण रोगो से दूर हो जाने के कारण जो निरामय हैं, सम्पूर्ण पापरूपी अंजन के नष्ट हो जाने से जो निरंजन है और दोषो की कलाये—सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्कल है, ऐसे उन अरिहतो को नमस्कार हो ।

(२) 'णमो सिद्धाणं'

जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूप मे स्थित है, कृतकृत्य है, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके है उन्हें सिद्ध कहते हैं ।

शंका—सिद्ध और अरिहंतो में क्या भेद है ?

समाधान—आठ कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं और चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले अरिहत होते है । यही उन दोनो मे भेद है ।

शंका—चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अरिहतो की आत्मा के समस्त गुण प्रगट हो हो जाते है. इसलिये सिद्ध और अरिहंत में गुणकृत भेद नही हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योकि अरिहतो के अघातिया कर्मों का उदय और सत्त्व दोनो विद्यमान है । इसलिये इन दोनो मे भेद है ।

शंका—ये अघातिया कर्म शुक्ल ध्यानरूप अग्नि के द्वारा अधजले हो जाने के कारण उदय और सत्त्व के विद्यमान रहते हुये भी अपना कार्य करने मे समर्थ नही है ?

समाधान—ऐसा भी नही है, क्योंकि यदि आयु आदि कर्म अपने कार्य में असमर्थ माने जायें, तो शरीर का पतन हो जाना चाहिये, परन्तु शरीर आदि का पतन तो होता नही है, अतः आयु आदि शेष कर्मों का कार्य करना सिद्ध है ।

शंका—उन कर्मों का कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है । वह अघातिया कर्मों के रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठी के नही पाया जाता है। तथा अघातिया

कर्म आत्मा के गुणों के घात करने में असमर्थ भी हैं। इसलिये अरिहंत और सिद्ध में गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबंधक आयु कर्म का उदय उनके विद्यमान है। तथा च, सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा तो इन दोनो में भेद स्पष्ट ही है।

आठों कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त और तीन लोक के मस्तक पर विराजमान ऐसे सिद्धपरमेष्ठियो को यहाँ नमस्कार किया गया है।

(३) 'णमो आइरियाणं'

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों के पारगत हैं, ग्यारह अंग के धारी हैं अथवा आचारांगमात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं, मेरु के समान निश्चल हैं, पृथ्वी के समान सहनशील है, जिन्होने समुद्र के समान मल-दोषों को बाहर फेंक दिया है और जो सात प्रकार के भय से रहित है उन्हे आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्र में अवगाहन करने से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोषरीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, मेरु के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिह के समान निर्भीक हैं, निर्दोष हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध है, जो संघ के संग्रह और अनुग्रह मे कुशल है, कीर्तिमान हैं, जो सारण—आचरण, वारण—निषेध और शोधन—व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओ मे नित्य ही उद्युक्त हैं उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं, ऐसे आचार्यों को यहाँ नमस्कार किया गया है।

(४) 'णमो उवज्झायाणं'

चौदह विद्यास्थान—चौदह पूर्वों का व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते है। वे सग्रह—शिष्यो को दीक्षा देना और अनुग्रह—उनका संरक्षण करना, आदि गुणो को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।

जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरो को उपाध्याय परमेष्ठी कहते है। ऐसे उपाध्यायों को यहाँ नमस्कार किया गया है।

(५) 'णमो लोए सव्वसाहूणं'

लोक में अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधुओ को नमस्कार हो। जो अनतज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते है उन्हे साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते है।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान नि:सग, सूर्य के समान

तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, सुमेरु के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकंप, चन्द्रमा के समान शांतिदायक, मणि के समान प्रभा पुंजयुक्त, पृथ्वी के समान सर्वबाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान अनियत वसतिका आदि में निवास करने वाले, आकाश के समान निरालंबी और सदा काल मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। ऐसे सम्पूर्ण कर्मभूमियों में उत्पन्न होने वाले त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार किया गया है।

पाँच परमेष्ठियो को नमस्कार करने में इस नमस्कार मंत्र में 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अत दीपक है, अत: सम्पूर्ण क्षेत्र में रहने वाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओ को नमस्कार करने के लिये उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पद के अर्थ के साथ जोड़ लेना चाहिये।

शंका—जिन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहत और सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियो ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नही किया है, अतः उनमें देवपना नहीं आ सकता है, इसलिये उन्हे नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान—ऐसा नही है क्योकि अपने-अपने भेदो से अनंत भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं, अन्यथा (यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाये तो) सम्पूर्ण जीवों को देव मानने की आपत्ति आ जायेगी। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव है। क्योकि अरिहंतादि से आचार्यादि में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नही है। अर्थात् जिस तरह अरिहत, सिद्ध में रत्नत्रय का सद्भाव है उसी तरह आचार्यादि में भी रत्नत्रय का सद्भाव है। अत: आंशिक रत्नत्रय की अपेक्षा से इनमे देवपना बन जाता है।

आचार्यादि में स्थित तीन रत्नों का सिद्ध परमेष्ठी में स्थित रत्नो से भी भेद नही है। यदि दोनों के रत्नत्रय में सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादि में स्थित रत्नों के अभाव का प्रसग आ जावेगा।

शंका—सम्पूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नो का एकदेश देव नही हो सकता ?

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योकि रत्नों के एकदेश में देवपना न मानने पर रत्नों की समग्रता में भी देवपना नही बन सकता है। अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेश मे नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रता मे कहाँ से आ सकता है ?

शंका—आचार्यादि में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मो के क्षय करने में समर्थ नही हो सकते हैं, क्योकि, उनके रत्न एकदेश हैं ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि, "जिस प्रकार पलाल राशि को जलानेरूप कार्य करने में अग्निसमूह समर्थ है, उसी प्रकार से अग्नि का एक कण भी उसको जलाने में समर्थ है। ऐसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये। इसलिये आचार्यादि भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है।"[1]

---

१. "अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।"

अरिहंतों को पहले नमस्कार क्यों किया ?

शंका—सर्वप्रकार के कर्मलेप से रहित सिद्धपरमेष्ठी के विद्यमान रहते हुये अघातिया कर्मो के लेप से युक्त अरिहंतों को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुण वाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहत परमेष्ठी के निमित्त (उपदेश) से ही अधिक गुण वाले सिद्धो में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। अथवा यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थ का परिज्ञान नही हो सकता था। किन्तु अरिहंत परमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है। इसलिये उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतो को नमस्कार किया जाता है।

शंका—इस प्रकार आदि में अरिहंतो को नमस्कार करना तो पक्षपात है ?

समाधान—ऐसा नही कहना, क्योंकि '**न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्।**' यह पक्षपात दोषोत्पादक नही है। किन्तु शुभ पक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है। तथा द्वैत को गौण करके अद्वैत की प्रधानता से किये गये नमस्कार में द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नही सकता है। अर्थात् पक्षपात वही सम्भव है जहाँ दो वस्तुओ में से किसी एक की ओर अधिक आकर्षण होता है। परन्तु यहाँ परमेष्ठियों को नमस्कार करने मे दृष्टि प्रधानतया गुणो की ओर रहती है, अवस्थाभेद की प्रधानता नही है। इसलिये यहाँ पक्षपात किसी भी प्रकार सम्भव नही है।

अथवा आप्त की श्रद्धा से ही आप्त, आगम और पदार्थों के विषय मे दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये भी आदि में अरिहतो को नमस्कार किया गया है। श्री गौतमस्वामी भी कहते है—

"जस्संतियं धम्मपहं णिगच्छे, तस्संतियं वेणयियं पउंजे।
सक्कारए तं सिरपंचएण, काएण वाया मणसा य णिच्चं॥"

जिनके समीप मैंने धर्म मार्ग को प्राप्त किया है उनके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करता हूँ। तथा उनका मैं शिरपंचक अर्थात् दोनो घुटने टेककर, दोनो हाथ जोड़कर, और मस्तक को पृथिवी पर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मन, वचन काय से निरन्तर सत्कार करता हूँ।

इस महामन्त्र के अर्थ को समझकर यह निश्चित हो जाता है कि 'णमो अरिहंताणं' और 'णमो अरहंताणं' दोनों पाठ शुद्ध हैं। तथा अरिहत और सिद्धों में रत्नत्रय पूर्ण प्रकट हो चुके हैं किन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु में ये रत्नत्रय एकदेश ही प्रकट हुये है फिर भी ये तीनों परमेष्ठी भी पूज्य हैं, वद्य हैं। सिद्धो के यद्यपि सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो चुके हैं फिर भी अरिहत परमेष्ठी उपदेशक होने से सर्वोपकारी हैं इसलिये उन्हें पहले नमस्कार करने में दोष नहीं है प्रत्युत् गुण ही है, क्योंकि शुभपक्ष में किया गया पक्षपात, पक्षपात नहीं कहलाता है वह हित के लिये ही होता है। इस महामन्त्र को पढ़ते समय प्रत्येक पदो के अर्थ का चिंतवन करना चाहिये।

卐—卐

महामंत्र की महिमा

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्थ—अर्हंतो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। पंचपरमेष्ठी वाचक इस महामंत्र में सम्पूर्ण द्वादशांग निहित है। यथा—

"आचार्यों ने द्वादशाग जिनवाणी का वर्णन करते हुए प्रत्येक की पदसख्या तथा समस्त श्रुतज्ञान अक्षरो की सख्या का वर्णन किया है। इस महामत्र मे समस्त श्रुतज्ञान विद्यमान है क्योकि पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ नहीं है। अतः यह महामत्र समस्त द्वादशांग जिनवाणी रूप है। इस महामत्र का विश्लेषण करने पर निम्न निष्कर्ष सामने आते है—

इस मत्र में ३५ अक्षर है। ५ पद है। णमो अरिहताण=७ अक्षर, णमो सिद्धाण=५, णमो आइरियाण=७, णमो उवज्झायाण=७, णमो लोए सव्वसाहूण=९ अक्षर, इस प्रकार इस मंत्र में कुल ३५ अक्षर है। स्वर और व्यजनो का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है—

यथा—ण्+अ+म्+ओ+अ+र्+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं।
ण्+अ+म्+ओ+स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं।
ण्+अ+म्+ओ+आ+इ+र्+इ×य्+आ+ण्+अ।
ण्+अ+म्+ओ+उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं।
ण्+अ+म्+ओ+ल्+ओ+ए+स्+अ+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं।

इस तरह प्रथम पद में ६ व्यंजन, ६ स्वर, द्वितीय पद में ५ व्यंजन, ७ स्वर, चतुर्थ पद में ६ व्यजन, ७ स्वर, पंचम पद में ८ व्यंजन, ९ स्वर है। इस मत्र में सभी वर्ण अजंत हैं, यहाँ हलन्त एक भी वर्ण नही है। अतः ३५ अक्षरो मे ३५ स्वर और ३० व्यंजन होना चाहिये था किन्तु यहाँ स्वर ३४ है। इसका प्रधान कारण यह है कि "णमो अरिहताणं" इस पद मे ६ ही स्वर माने जाते हैं। मंत्रशास्त्र के व्याकरण के अनुसार "णमो अरिहंताणं" पद के "अ" का लोप हो जाता है। यद्यपि प्राकृत मे "एङः"[1]—नेत्यनुवर्तते। एङि त्येदोतौ। एदोतोः संस्कृतोक्तः सधिः प्राकृते तु न भवति। यथा देवो अहिणंदणो, अहो, अच्चरिअ, इत्यादि। सूत्र के अनुसार संधि न होने से "अ" का अस्तित्व ज्यों का त्यों रहता है। "अ" का लोप या खंडाकार नहीं होता है, किन्तु मंत्रशास्त्र में "बहुलम्" सूत्र की प्रवृत्ति मानकर "स्वरयोरव्यवधाने प्रकृतिभावो लोपो वैकस्य।"[2] इस सूत्र के अनुसार "अरिहंताण" वाले पद के "अ" का लोप विकल्प से हो जाता है अतः इस पद में ६ ही स्वर माने जाते हैं। अतः मत्र में कुल ३५ अक्षर होने पर भी ३४ ही स्वर माने जाते है। इस प्रकार से कुल स्वर और व्यंजनों

१. त्रिविक्रम व्याकरण पृ० ४, सूत्र २१/२। २. जैन सिद्धांत कौमुदी, पृ० ४, सूत्र १/२/२।

की संख्या ३४ + ३० = ६४ है। मूल वर्णों की संख्या भी ६४ ही है। प्राकृत भाषा के नियमानुसार अ. इ. उ. और ए मूल स्वर तथा ज झ ण त द ध य र ल व स और ह् ये मूल व्यंजन इस मंत्र में निहित हैं। अतएव ६४ अनादि मूल वर्णों को लेकर समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरो का प्रमाण निम्न प्रकार निकाला जा सकता है। गाथा सूत्र निम्न प्रकार है—

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥

अर्थ—उक्त चौसठ अक्षरों का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर दो का अंक देकर परस्पर सपूर्ण दो के अंकों का गुणा करने से लब्ध राशि में एक घटा देने से जो प्रमाण रहता है, उतने ही श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

यहाँ ६४ अक्षरो का विरलन कर रखा तो—

२ २ २ २ २ २ २ २ २ २ २   २
१।१।१।१।१।१।१।१।१।१।१।................१/=
१८४४६७४४०७३७०९५५१६१६————१ =
१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५

समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरो का यही प्रमाण है उसके लिये निम्न गाथा है—

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणयं च ॥

अर्थात्—एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाँच पाँच एक छह एक पाँच, समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर है।

इस प्रकार णमोकार मंत्र में समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर निहित हैं क्योंकि अनादि निधन मूलाक्षरो पर से ही उक्त प्रमाण निकाला गया है अत सक्षेप मे समस्त जिनवाणी रूप यह मंत्र है। इसका पाठ या स्मरण करने से कितना महान् पुण्य का बंध होता है। तथा केवलज्ञान लक्ष्मी की प्राप्ति भी इस मत्र की आराधना से होती है। ज्ञानार्णव में श्रीशुभचन्द्राचार्य ने इस मंत्र की आराधना को बताते हुये लिखा है—

"इस लोक में जितने भी योगियो ने मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सब ने श्रुतज्ञान-भूत इस महामंत्र की आराधना करके ही प्राप्त किया है। इस महामंत्र का प्रभाव योगियो के अगोचर है। फिर भी जो इसके महत्व से अनभिज्ञ होकर वर्णन करना चाहता है मैं समझता हूँ कि वह वायुरोग से व्याप्त होकर ही बक रहा है। पापरूपी पंक से संयुत भी जीव यदि शुद्ध हुए हैं तो इस मंत्र के प्रभाव से ही शुद्ध हुये हैं। मनीषी जन इस मंत्र के प्रभाव से ही संसार के क्लेश से छूटते हैं।"[1]

इसलिये इस महामंत्र की महिमा को अचिन्त्य ही समझना चाहिये।

卐——卐

१. श्रियमात्यन्तिकी प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन। अमुमेव महामंत्रं, सु समाराध्य केवलम् ॥ (ज्ञानार्णव) मंगलमंत्र णमोकार : एक अनुचिंतन पुस्तक के आधार से।

गृहस्थ धर्म

जो स्त्री, पुत्र, धन आदि के मोह से ग्रसित हैं वे सागार या गृहस्थ कहलाते हैं। वे यदि सर्वत्याग रूप मुनिमार्ग मे प्रीति रखने वाले हैं और कारणवश उस पद को ग्रहण नही कर पाते हैं तभी वे श्रावक धर्म को ग्रहण करने के अधिकारी होते है। अन्यथा यदि मुनि धर्म में उनकी हार्दिक प्रीति नहीं है तो वे धर्मात्मा और पाप भीरु नही कहे जा सकते है।

अनादिकालीन जो मोह रूपी अविद्या है उसके निमित्त से प्रत्येक व्यक्ति को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषा रूप चार सज्ञारूपी ज्वर चढ़ा हुआ है जिससे ये जीव निरन्तर ही अपने आत्मज्ञान से विमुख हो रहे है और विषयो में रच-पच रहे हैं। यही कारण है कि गृहस्थ अनादिकालीन अविद्या से चली आई हुई ऐसे परिग्रह आदि मे "ममेदं" यह मेरा है ऐसी बुद्धि को दूर करने में असमर्थ हो रहे है और प्रायः करके इन्द्रियों के भोगों में ही मूर्च्छित हो रहे हैं। वास्तव में जिनका चित्त मिथ्यात्व से ग्रसित है वे मनुष्य होकर भी पशुओं के समान हैं और जिनके हृदय में सम्यक्त्व रूपी चेतना व्यक्त हो चुकी है वे पशु होकर भी मनुष्य के समान हैं।

किन्ही जीवो के लिये यह अगृहीत मिथ्यात्व घोर अन्धकार के समान है। अन्य किन्हीं जीवों का गृहीत मिथ्यात्व उन्हें ग्रह-पिशाच के समान त्रसित किये है और किन्हीं का सांशयिक मिथ्यात्व उन्हें शल्य—काँटे के समान दुःखदायी होता है अर्थात् अनादिकालीन मिथ्यात्वबुद्धि अगृहीत मिथ्यात्व है, पर के उपदेश से विपरीत श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है और अंतरंग मे सत्य और असत्य धर्मों के प्रति सशय बना रहना सशय मिथ्यात्व है। ये तीनों ही जीवो को दुःखदायी है।

कदाचित् आसन्न भव्यता, निकट भव्यता, कर्मों की हानि होना, संज्ञी पंचेंद्रिय होना, विशुद्ध परिणामो को प्राप्त करना, सच्चे गुरु का उपदेश मिलाना आदि कारणों से जीव मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व—समीचीन दृष्टि प्राप्त करता है क्योंकि इस कलिकाल रूपी वर्षाकाल में चारों तरफ मिथ्यात्व रूपी बादल छाये हुये है। ऐसी स्थिति मे सच्चे उपदेश देने वाले गुरुजन जुगनू के समान कदाचित् क्वचित् ही अपना प्रकाश फैलाते हुए उपलब्ध होते है। ऐसे युग में यदि सम्यग्दृष्टि श्रोता न मिले तो जो भद्र हैं उन्हें ही उपदेश सुनाकर सम्यग्दृष्टि बनाना चाहिये।

भद्र का लक्षण क्या है? सो देखिये—

कुधर्मस्थोपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाद्विषन्।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्[1]॥

जो कुधर्म में स्थित है फिर भी यदि वह मिथ्यात्व कर्म की मंदता से सच्चे धर्म में द्वेष नहीं करता है तो वह भद्र है और उपदेश के लिए पात्र है क्योंकि वह भविष्य में सच्चे धर्म को ग्रहण कर सकता है किन्तु जो इस लक्षण से विपरीत है उसे अभद्र कहते हैं।

---

१. सागारधर्मामृत।

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले पुरुष का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन् ।
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी, स्थानालयो ह्रीमयः ।।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी ।
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ।।

अर्थ—न्यायपूर्वक धन कमाने वाला, गुणगुरु, मुनि, आर्यिका आदि संयमी की तथा अपने माता-पिता आदि की यथायोग्य पूजा सत्कार प्रणाम आदि करने वाला, प्रशस्त वचन बोलने वाला, धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का परस्पर विरोध रहित सेवन करने वाला, तीन पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अपने योग्य पत्नी, ग्राम और घर जिसका है ऐसा वह, लज्जाशील, शास्त्रोक्त आहार विहार में प्रवृत्ति करने वाला, आर्य-सज्जन पुरुषों की सगति मे रहने वाला, बुद्धिमान, किये हुए उपकार को मानने वाला, इन्द्रियो को वश मे करने वाला, दयालु और पापभीरु जो ऐसा गृहस्थ धर्म की विधि को सुनता है, वही सागारधर्म—श्रावक धर्म की विधि को सुनता है, वही सागार धर्म-श्रावक धर्म को धारण करने के लिये योग्य माना गया है। अर्थात् इतने ये गुण जिस व्यक्ति मे होते है वही श्रावक धर्म को पालन करने मे समर्थ होता है।

संक्षेप में देखा जाये तो निर्दोष सम्यग्दर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत इनको धारण करना तथा मरणकाल में विधिवत् सल्लेखना करना इतने से ही यह सागार धर्म पूर्ण हो जाता है।

अथवा अष्टमूलगुण को धारण करना, अणुव्रत आदि उत्तर गुणो को पालना, पाँच परमेष्ठी के चरणों की शरण ग्रहण करना; दान और पूजा मुख्य रूप से करना तथा हमेशा सम्यग्ज्ञान रूप अमृत के पिपासु रहना ही श्रावक का लक्षण है।

इनके लिये वैसे दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाये भी होती है। उनमें से यदि एक दो आदि प्रतिमाओं को भी ग्रहण कर लेता है तो वह परम्परा से मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

धर्म, यश और सुख ये तीन चीजें है। कोई इनमें से एक को तथा कोई किन्हीं भी दो को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु जो इन तीनों को प्राप्त करने वाले है उन्ही का मनुष्य जन्म सार्थक है।

श्रावक के तीन भेद माने हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

पाक्षिक—"संकल्पपूर्वक मैं किसी जीव का वध नही करूँगा।" जो ऐसी प्रतिज्ञा करके मैत्री आदि भावनाओ से सहित होता है और धर्म का पूर्णतया पक्ष रखता है वह अभ्यास रूप से श्रावक धर्म को पालता है उसे पाक्षिक श्रावक या प्रारब्ध देश सयमी कहते हैं।

नैष्ठिक—जो निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है। पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक की चर्या का अनुष्ठान करने वाला है अर्थात् उनमें से किसी भी प्रतिमा का धारी है वह श्रावक धर्म में निष्ठ होने से नैष्ठिक श्रावक या घटमान देश सयमी कहलाता है।

साधक—गृहत्याग के अनन्तर जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यान में लीन होकर मरणकाल में समाधिमरण का साधन करता है वह साधक श्रावक या निष्पन्न देश संयमी कहलाता है।

परमवीतरागी, दिगम्बर मुनिराज श्रेणी पर आरूढ़ होकर विकल्पातीत शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव का सच्चा रसास्वादन करते हैं। उस स्थिति से रहित आरम्भादि में फँसे हुए गृहस्थ के योग्य कार्यों का विवेचन महान् तार्किक दिगम्बर जैनाचार्य करुणा बुद्धि से ओतप्रोत होकर करते हैं—

प्रश्न—पाक्षिक श्रावक का विशेष लक्षण क्या है ?

उत्तर—जो श्रावक जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से निरन्तर ही विषयों को छोड़ने योग्य समझता हुआ भी मोह के निमित्त से उन्हें छोडने के लिये असमर्थ है। आचार्यों ने उस गृहस्थ के लिए ही गृहस्थ धर्म पाने की अनुमति दी है। उस गृहस्थ धर्म मे सबसे प्रथम वह गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का श्रद्धान करता हुआ हिसा का छोड़ने के लिये मद्य, मास, मधु और पाँच उदम्बर फलों का त्याग कर ही देवे।

मद्य—शराब के एक बिन्दु में इतने जीव हैं कि वे संचार करे तो तीन लोक को भी पूरित कर सकते है और उसके पीने से जीवो के इहलोक-परलोक दोनो ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इस मदिरा को दूर से ही छोड देना चाहिए। मास का भक्षण तो स्पष्ट में ही बुरा है। यहाँ तक कि विवेकी सभ्यजन मास के नाम को सुनकर भोजन करते हुए भी छोड़ देते है।

प्रश्न—देखो, जैसे मांस प्राणी का अंग है वैसे ही अन्न भी एकेंद्रिय प्राणी का अंग है पुनः अन्न, वनस्पति आदि का भक्षण करना भी मांस दोष के समान है ?

उत्तर—ऐसा नही है, देखो अन्न और मास दोनों ही यद्यपि प्राणी के अग समान रूप से हैं फिर भी अन्तर है क्योकि अन्न खाने योग्य है और मांस खाने योग्य नही है। जैसे स्त्री और माता दोनो ही स्त्रीपने से समान है किन्तु स्त्री ही भोग्य है माता नही। अथवा यों समझिये कि मांस जीव का शरीर है किन्तु जो जो जीव के शरीर है वे सभी मांस नही हैं। जैसे कि नीम तो वृक्ष है किन्तु जितने वृक्ष हैं वे सभी नीम नही है। अथवा गाय से उत्पन्न होकर भी दूध ग्राह्य है किन्तु गोमांस ग्राह्य नही है। सर्प से मणि उत्पन्न होती है वह तो विषनाशक है किन्तु सर्प का डस लेना विषकारक है। इसलिए एकेंद्रिय जीवो के कलेवर अन्न, वनस्पति आदि की मांस संज्ञा नही है किन्तु दो इंद्रिय से लेकर सभी जीवो के कलेवर मास कहलाते है और वे त्याज्य है।

मधु—शहद की एक बिंदु मात्र के भक्षण से सात ग्राम के जलाने जितना पाप लगता है इसलिये यह भी महानिंद्य पदार्थ है। इसी प्रकार से नवनीत—मक्खन को भी दो मुहूर्त से बाद में नहीं खाना चाहिये उसमे बहुत से सूक्ष्म जीव जन्म ले लेते हैं। उसी प्रकार से पीपल, उदम्बर, पाकर, बड़ और अजीर इन फलो को सुखाकर भी नही खाना चाहिये। अष्ट मूलगुणधारी श्रावक का कर्तव्य है कि वह रात्रि भोजन और अनछना पानी भी कभी नहीं पीवे क्योकि स्वास्थ्य और धर्म दोनों की हानि करने वाले हैं। यह पाक्षिक श्रावक पाँच अणुव्रतो को भी अभ्यास रूप से पालता है और सप्त व्यसनों का भी त्याग कर देता है।

दूसरी प्रकार से अष्ट मूलगुणों का वर्णन इस प्रकार है—मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन और पाँच उदम्बर फल इनका त्याग करना तथा पंचपरमेष्ठी की वंदना करना, जीव दया पालना और पानी छानकर पीना। जो भव्य जीव जीवन भर के लिये इन महापापों को छोड़ देता है और जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका है ऐसा शुद्ध बुद्धि वाला जीव ही जिनधर्म को सुनने के लिये योग्य होता है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"अनिष्ट, दुस्तर और पापों के घर ऐसे इन आठों को छोड़कर शुद्ध बुद्धि वाले प्राणी जिन-धर्म की देशना के पात्र होते हैं।"[1]

ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा किया करता है।

प्रश्न—पूजा के कितने प्रकार हैं?

उत्तर—पूजा को इज्या भी कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—नित्यमह, आष्टाह्निक, इन्द्रध्वज, चतुर्मुख और कल्पद्रुम।

नित्यमह—अपने घर पर स्नान करके शुद्ध धुले हुये वस्त्र पहनकर घर से जल चन्दन आदि सामग्री ले जाकर मंदिर में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना नित्यमह कहलाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जिनप्रतिमा-जिनमंदिर आदि का निर्माण कराना, मन्दिर की पूजा व्यवस्था के लिये जमीन, धन आदि मन्दिर में दान देना त्रिकाल मे जिनदेव की आराधना करना, अपने घर के चैत्यालय मे पूजा करना और भक्तिपूर्वक प्रतिदिन मुनियों को दान देना यह सब नित्यमह पूजा है।

आष्टाह्निक—नन्दीश्वर पर्व मे जो पूजा की जाती है वह आष्टाह्निक पूजा है।

इंद्रध्वज—जो पूजा इन्द्र आदिको के द्वारा विशेष रूप से की जाती है वह इन्द्रध्वज कहलाती है।

चतुर्मुख—जो जिन पूजा मुकुटबद्ध मडलेश्वर राजाओ द्वारा की जाती है वह सर्वतोभद्र—महामह या चतुर्मुख कहलाती है।

कल्पद्रुम—इस पूजा में चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर सभी की इच्छा पूर्ण कर देते हैं अर्थात् तुम्हें क्या इच्छा है, तुम्हें क्या इच्छा है ऐसा सभी की इच्छा को पूर्ण करते हुये दान देकर जो जिनेन्द्र देव की महान् पूजा करते है वह कल्पद्रुम इस अपने सार्थक नाम वाली पाँचवी पूजा कहलाती है।

जो गृहस्थ अभिषेक, पूजन, गीत, नृत्य आदि द्वारा पूजन करते हैं वे महान् पुण्य का बध कर लेते हैं।

प्रश्न—अष्ट द्रव्य से पूजन का क्या फल है सो बताइये?

उत्तर—अर्हंत देव के चरणों में जलधारा देने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मरूपी रज शांत हो जाती है। चंदन से पूजा करने से सुगन्धित शरीर प्राप्त होता है। अक्षत से पूजा वैभव को अखण्डित करने वाली है। पुष्प से पूजा करने वाले स्वर्ग में मंदार माला को प्राप्त करते हैं। नैवेद्य से

---

१. अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

पूजा करने से लक्ष्मी के स्वामी होते हैं। दीप से पूजा करने वाले कांति को विस्तृत करते हैं। धूप से पूजन करके उत्कृष्ट सौभाग्य को प्राप्त होते हैं। फल से पूजा करके इच्छित फल को प्राप्त कर लेते हैं और अर्घ से पूजा करके अभिमत वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं। इसके सिवाय जिन पूजा का फल तो अचिन्त्य है। सम्यग्दृष्टि पूजक को मैं पहले, मैं पहले कहते हुये सभी सुख संपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं।

निर्विघ्नता से पूजा, बड़े-बड़े विधान आदि करने के लिये यथायोग्य दान-मान आदि सत्कारों से विधर्मियों को भी अपने अनुकूल करके और सहधर्मियो को भी अपने आधीन करके पूजा करना चाहिये। जो श्रावक स्त्री संसर्ग, आरम्भ आदि सहित हैं वे विधिवत् स्नान आदि करके शुचि होकर ही जिन पूजा करे।

प्रश्न—मंदिर बनवाने से तो महान् आरम्भ होता है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, जिन प्रतिमा, जिन मंदिर, वसतिका और स्वाध्याय भवन आदि बनवाने वालों को महान् सातिशय पुण्य का बध होता है और परम्परा से वे लोग इस पुण्य के बल से कर्मों का भी नाशकरदेते है, क्योकि गृहस्थ तो हमेशा पाप क्रिया रूप आरम्भ में व्यापार में मकान बनवाने आदि में ही प्रवृत्त रहते है यद्यपि मन्दिर बनवाने आदि के आरम्भ मे हिंसा है तो भी उसके महान् पुण्य में वह समुद्र के जल में एक कण विष के समान क्या कर सकता है। और तो क्या—"मुक्ति प्रासादसोपानमाप्तेरुक्तो जिनालयः" शास्त्र में ऐसा कहा है कि जिनेंद्रदेव ने मन्दिर को मुक्ति महल की सीढ़ी बताया है।

ग्रंथकार कहते हैं कि—इस दुःषमा कालरूपी रात्रि को धिक्कार हो कि जहाँ पर बड़े-बड़े शास्त्र के विद्वान् भी जिनबिंबदर्शन के बिना प्रायः करके भगवान् की भक्ति करने में प्रवृत्त नही होते है। इसलिये प्रत्येक स्थान पर जिनमन्दिर की परम आवश्यकता है। अहो ! इस पंचम काल मे गृहत्यागी मुनियों का मन भी रागादि परिणति से चचल होकर धर्म-कर्म में प्रवृत्ति नही कर पाता है इसलिये जिनमन्दिर की बहुत ही आवश्यकता है अर्थात् मुनिगण भी मन्दिर और जिन प्रतिमाओ के आश्रय से अपनी प्रवृत्तियो को नियमित कर पाते है उन्हें भी आज इनकी पूरी आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार सरल प्रवृत्ति से जिनपूजा करने वालों के सभी दुःख नष्ट हो जाते है और दशो दिशायें उनके मनोरथों को पूर्ण करती है।

महान करुणावन्त तीर्थंकर परमदेव, चारज्ञान के धारक गणधर देव तथा उसी अन्वय में आगत दिगम्बर जैनाचार्यों ने गृहस्थियों के लिए परम्परा से मोक्षप्राप्ति का उपाय बताया है उसी बात को परम कारुणिक भावना से ओतप्रोत हो ग्रन्थकार यहाँ समझा रहे हैं।

प्रश्न—आपने कहा है कि पाक्षिक श्रावक अष्टमूल धारण करें और जिनेन्द्रदेव की पूजन करे। इसके अतिरिक्त और क्या कर्त्तव्य मुख्य हैं ?

उत्तर—वह श्रावक जैन शास्त्रों की भी विधिवत् पूजा करें। गणधर देव ने ऐसा कहा है कि जो भव्य जीव भक्तिपूर्वक श्रुत की अर्चा करते है समझ लो कि वे वास्तव में जिनेन्द्रदेव की ही अर्चा

कर रहे है क्योकि "श्रुत और अर्हत देव में कुछ भी अन्तर नही है[१]।" उसी प्रकार से गुरुओं का भी नितप्रति पूजन करना चाहिये, क्योकि गुरु की भक्ति से बड़े बडे विघ्न क्षण मात्र में समाप्त हो जाते हैं। छल कपट रहित मनोवृत्ति से और गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति से हमेशा विनय से गुरु के मन मे प्रवेश करके गुरु के मन को अनुरंजित कर लेवे जैसे कि राजा का मन अनुरंजित किया जाता है। गुरु के पास बैठने पर शास्त्र विरुद्ध ऐसी कोई भी क्रियाये नही करनी चाहिये जैसे कि क्रोध, हँसी, विवाद आदि नही करना, असत्यभाषण नही करना, ताली, चुटकी आदि नही बजाना इत्यादि।

प्रश्न—**दान के कितने भेद है ?**

उत्तर—पात्रदत्ति, समदत्ति दयादत्ति और अन्वयदत्ति ऐसे दान के चार भेद माने गये है। दान को दत्ति शब्द से कहते है।

(१) **पात्रदत्ति**—यह धन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है और आश्चर्य इस बात का है कि यह प्राणो के साथ ही विनष्ट हो जाता है अर्थात् यही पर छूट जाता है, साथ मे अणुमात्र भी नही आता है इसीलिए परलोक मे इसे अपने साथ अनत गुणित रूप करके लेने के लिए यदि कोई उपाय है तो एक पात्रदान ही है।

आजकल[२] के मुनियो मे पूर्वमुनियो की स्थापना करके भक्ति से उनकी पूजा करनी चाहिये जैसे कि आप पाषाण की प्रतिमाओ मे जिनेंद्रदेव की स्थापना करके उनकी पूजा करते है क्योकि अतिचर्चा--क्षोदक्षेम करने वालो का कल्याण कैसे हो सकता है !

अन्यत्र ग्रन्थो मे भी कहा है कि—भोजनमात्र प्रदान करने के लिए तुम्हे साधुओ की परीक्षा से क्या लाभ है ? वे मुनि ठीक हो या न हो, दान से गृहस्थ तो शुद्ध हो ही जाता है। गृहस्थो के धन का व्यय तो हर प्रकार के आरभ मे हो ही रहा है अतः पात्रदान मे उन्हे इतना अधिक सोच विचार नही करना चाहिए। जैसे एक खभे पर घर नही ठहर सकता है उसी प्रकार से केवल छोटे या बड़े के ऊपर ही लोक की स्थिति नही हो सकती है। देखो, इस कलिकाल में यह शरीर तो अन्न का कीडा बना हुआ है, चित्त मर्कट के समान अत्यन्त चंचल है ऐसी स्थिति में यदि जिनमुद्रा के धारी मुनिजन दिखते हैं, तो समझना चाहिए कि यह बहुत बडे आश्चर्य की बात है।[३]

ज्ञानमर्च्यं तपोंऽगत्वात् तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः।
द्वयमर्च्यं शिवांगत्वात् तद्वंतोऽर्च्या यथागुणम् ॥

ज्ञान पूज्य है क्योकि वह तप का कारण है। तप भी पूज्य है क्योकि वह ज्ञान के अतिशय मे कारण है। ये ज्ञान और तप दोनो ही पूज्य है क्योकि ये मोक्ष के कारण है। इसलिये उनक यथायोग्य गुणों के अनुसार ज्ञानी और तपस्वी दोनो ही पूजनीय होते हैं। अभिप्राय यह है कि किन्ही साधु में ज्ञान विशेष है तप नही है वे भी पूज्य हैं, किन्ही में तप विशेष है ज्ञान अल्प है वे भी पूज्य है और जिनमें दोनो हैं वे तो विशेष रीति से मान्य हो जाते हैं।

---

१. न किंचिदंतरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः। (सागार)

२. विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव। भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥ (सागार)

३. कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधराः नराः॥ (उपासकाध्ययन)

अनगार मुनि उत्तम पात्र हैं, प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवी प्रतिमाधारी तक क्षुल्लक ऐलक आदि मध्यपात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं। इनमें यथायोग्य दान देने से यदि कोई भव्य जीव सम्यग्दृष्टि नही है तो क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोग भूमि को प्राप्त कर लेता है जैसे कि राजा वज्रजघ, रानी श्रीमती और नकुल, वानर, सूकर तथा व्याघ्र ने मुनियों को दान देखकर उत्तम भोग भूमि प्राप्त की थी। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है वे दान के प्रभाव से स्वर्ग के सुख भोगकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

यह जिनधर्म जगत् का बंधु है इसकी परम्परा को सतत चलाने के लिये मुनियो को पैदा करने का प्रयत्न करें तथा जो वर्तमान में हैं उनके ज्ञान आदि गुणो को बढाकर उनके उत्कर्ष को बढाने का प्रयत्न करना यह श्रावक का कर्त्तव्य है। यदि कलिकाल के दोष से या साधु के कुछ कर्मोदय के कारण प्रयत्न करने पर भी उनके गुणो का विकास नहीं हुआ तो भी प्रयत्न करने वाले श्रावक का तो कल्याण हो ही जाता है। यदि साधु में गुणो का विकास हो जाय तो फिर श्रावक को और उसके निमित्त से अनेको जीवो को भी उन मुनि से लाभ हो जाता है। अतः साधुओं को ज्ञानदान के लिये विद्वान की व्यवस्था करना आदि कार्य बहुत ही उपयोगी हैं। उसी प्रकार से आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लिका आदि का भी यथायोग्य दान आदि के द्वारा सत्कार करना चाहिए। उन्हें उनके पद के योग्य वस्त्र आदि भी देने चाहिये। यह सब पात्रदत्ति का स्वरूप हुआ।

२. **दयादत्ति**—दुःख से भयभीतजनों को अभयदान देना दयादत्ति है अथवा अपने आश्रित जनो को या दीन दुःखी जनों को वस्त्र, भोजन आदि करूणा भाव से देना दयादत्ति है।

३. **समदत्ति**—जिस जैन में ज्ञान और तप नही है केवल एकमात्र जैनत्व गुण ही स्फुरायमान है वह तमाम अजैनों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जिसके मन मे इतना विश्वास है कि 'जिनदेव ही संसार समुद्र से पार करने वाले हैं वह कल्याण का इच्छुक है, सबसे प्रथम उस पर अनुग्रह करना चाहिये। "एक[1] जैन पर उपकार करना जितना श्रेष्ठ है हजारों अजैनो पर उपकार करना उतना श्रेष्ठ नही है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से जैन चार प्रकार के होते हैं। नाम मात्र का जैन नामजैन है। वास्तव में नाम जैन और स्थापना जैन भी इतरो की अपेक्षा श्रेष्ठ है फिर यदि वे द्रव्य से या भाव से जैन हुये तो फिर कहना ही क्या है ?

ऐसे अपने समान धर्म वाले जैन को कन्या, भूमि, सुवर्ण, रत्न, मकान आदि देना समदत्ति कहलाती है।

निर्दोष श्रावक को अपनी कन्या विवाह कर धर्म की परम्परा को अविच्छिन्न चलाना यह भी एक दान ही है। जिसने जिसको कन्या दी है समझो उसने उसे त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों को ही दिया है। आज के युग में जिसके कन्या है वे माता-पिता कन्या को भार-भूत समझते हैं कारण कि दहेज प्रथा ने माता पिता के जीवन को महान् कष्ट कर बना दिया है। सभी सुशिक्षित कन्याओं का एवं सुशिक्षित युवा वर्गो का कर्त्तव्य है कि इस कुरीति का जड़मूल से विनाश करके विश्व में और अपने गृहस्थ्य जीवन मे भी सुख शांति की स्थापना करें। देखिये—

"सत्कन्यां ददतः दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः।
गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥"

---

१. वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः।

उत्तम कन्या को देने वाले साधर्मी गृहस्थ के लिये तीनों वर्ग सहित गृहस्थाश्रम ही दिया है क्योंकि विद्वान् लोग गृहिणी को ही घर कहते हैं किन्तु दीवाल और वासादि के समूह को घर नहीं कहते हैं। यह सब समदत्ति दान कहलाता है।

४. **अन्वयदत्ति**—अपने योग्य पुत्र पर घर का भार छोड़कर आप गृहस्थी से निवृत्त होना अन्वयदत्ति कहलाती है।

इस प्रकार से पाक्षिक श्रावक अपनी प्रवृत्ति को देव पूजन, दान, स्वाध्यायमय बना लेता है तथा शक्ति अनुसार तपश्चरण भी करता है।

अनेक जिज्ञासुओं की उत्कण्ठा को दृष्टि में रखते हुए गृहस्थावस्था में गृहस्थ धर्म को सार्थक बनाने की समीचीन विधि प्रदर्शित की जा रही है—

पाक्षिक श्रावक अपने से अधिक गुणों के अनुराग से दान आदि के द्वारा समयिक, साधक समयद्योतक, नैष्ठिक और गणाधिपों को संतुष्ट करे। अर्थात् समयिक, साधक आदि के भेद से धर्म-पात्र पांच प्रकार के माने गए हैं।

समयिक—जिन धर्म का आश्रय लेने वाले यति या श्रावक समयिक कहलाते हैं।

साधक—ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र आदि निमित्तों के ज्ञाता और भी लोकोपकारक शास्त्र के ज्ञाता साधक कहलाते है।

समयद्योतक—वादविवाद के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करने वाले समय द्योतक कहलाते हैं।

नैष्ठिक—मूलगुण—उत्तरगुण और प्रशसनीय तप मे विशेष निष्ठा रखने वाले नैष्ठिक कहलाते हैं।

गणाधिप—धर्माचार्य—दिगम्बर आचार्य और गृहस्थाचार्य ये दोनो ही गणाधिप कहलाते है।

इन सभी में उनके विशेष विशेष गुणो अनुसार यथायोग्य दान, सम्मान, सभाषण आदि के द्वारा उनको दान देवे इसी बात को और स्पष्ट करते हैं—

१. जिन धर्म के धारक यति अथवा श्रावक दान देने के समय जो भी उपलब्ध हों, सम्यग्दृष्टि यथोचित उनका सत्कार करे उन्हे दान देवे क्योकि ये समयिक हैं।
२. परोक्ष अर्थ को जानने मे जिनकी बुद्धि समर्थ है ऐसे ज्योतिषशास्त्र, मंत्रशास्त्र, निमित शास्त्र आदि के ज्ञाता—साधक कहलाते है। कर्त्तव्य के जानने वाले होने से ये भी पात्र है सम्यग्दृष्टि इन्हे दान आदि देकर सम्मान करे।
३. यदि ऐसे ज्ञानी न रहें तो उनके बिना जैन धर्म के मर्मज्ञ की दीक्षा, प्रतिष्ठा, यात्रा, क्रिया कैसे हो सकेगी ? तथा इस विषयक प्रश्न होने पर जैन धर्म की उन्नति कैसे होगी ? इसलिये 'समय द्योतक' विद्वान का भी आदर करना चाहिये।
४. मूलगुण—उत्तर गुण तथा श्रेष्ठ तप के द्वारा जिनका विशेष स्थान है और इसी कारण जो नैष्ठिक कहलाते हैं ऐसे साधु भी धर्मात्माओं द्वारा भले प्रकार पूजनीय है।

५. जो ज्ञानकांड और क्रिया कांड के विषय में चतुर्वर्ण में अग्रणी माने जाते हैं, जो संसार सागर के पार उतारने में जहाज के समान हैं वे सूरि भी देव के समान पूज्य हैं।

इन धर्म पात्रों में उत्तम, मध्यम और जघन्य तीनों प्रकार के पात्र आ जाते हैं। इनमें दान देते समय यथा योग्य पात्रदत्ति और समदत्ति को समझ लेना चाहिये। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन रत्नत्रय सहित पात्रों में भक्ति से दिया गया दान पात्रदत्ति की कोटि में आता है और गृहस्थों में यथायोग्य रीति से वात्सल्य बुद्धि से दिया गया दान समदत्ति की कोटि में आता है, ऐसा समझना चाहिए।

गृहस्थों के छह आर्य कर्म होते हैं—इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप। इनमें से इज्या अर्थात् पूजा के ५ भेद पहले आ चुके हैं। असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प-कला इनसे आजीविका करना/धन उपार्जन करना वार्ता है। चार प्रकार की दत्ति का वर्णन स्पष्ट किया गया है। निर्दोष आप्त के द्वारा दिव्य ध्वनि रूप से जिनका प्रतिपादन किया है। गौतम गणधर आदि के द्वारा जो रचे गये हैं पुनः परम्परा से आचार्यों द्वारा वर्णित हैं ऐसे ग्रंथों को पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना, मनन करना, उपदेश करना आदि स्वाध्याय हैं। षट्काय जीवों की या त्रसजीवों की दया पालना, इंद्रिय और मन को वश में करना संयम है। अनशन आदि तपश्चरण करना तप है। तप इस आवश्यक कर्म में अनेक प्रकार के व्रतों का वर्णन किया गया है।

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तितः। व्रतयेत् सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते[1] ॥७७॥

जितने काल तक विषय (कोई भी पदार्थ) सेवन करने में नही आते हैं तब तक उनमें प्रवृत्ति न होने से उनका नियम कर लेना चाहिये। अर्थात् जब तक मै इस वस्तु का सेवन नहीं करूँगा तब तक के लिये मुझे इनका त्याग है ऐसा नियम करे। यदि कदाचित् व्रतसहित मर गया तो परलोक मे भी सुखी हो जाता है।

इसके अतिरिक्त पंचमीव्रत, णमोकार पैंतीस, जिनगुणसंपत्ति, रोहिणी, रत्नत्रय, लब्धिविधान, में बृहत्पल्य आदि व्रतों को भी विधिवत् करना चाहिये।

किसी भी वस्तु का त्याग करना व्रत कहलाता है। उसको विधिवत् गुरु के सान्निध्य में ग्रहण करना चाहिये—

समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः। छिन्नं दर्पात् प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमंजसा[2] ॥७९॥

अपनी स्थिति को देखकर व्रत लेना चाहिये, ग्रहण किये हुये व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये। गर्व से या प्रमाद से यदि व्रतभंग हो जाये तो शीघ्र ही प्रायश्चित लेकर पुनः उस व्रत को ग्रहण कर लेना चाहिये।

संकल्पपूर्वकः सेव्यो नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि[3] ॥८०॥

---

१. सागार धर्मामृत पृ० १६०. २. सा० पृ० १६१. ३. सा० पृ० १६२।

सेवन करने योग्य विषयो का संकल्पपूर्वक नियम करना अथवा अशुभ कार्यों से सकल्पपूर्वक निवृत्त होना—उनका त्याग करना अथवा शुभ कार्यों मे अहिंसादिव्रत को ग्रहण करने में प्रवृत्ति करना व्रत कहलाता है अर्थात् भक्ष्य नमक, घी आदि वस्तुओं का भी जीवन भर के लिए या कुछ दिन के लिए त्याग कर देना। हिंसादि पापो का या अभक्ष्य आदि वस्तुओ का कुछ दिन के या जीवन भर के लिए त्याग कर देना अथवा शुभ कार्यों को, व्रतो को गुरुसाक्षी पूर्वक ग्रहण करना यह सब व्रत कहलाते हैं। इन श्रावक क्रियाओ को पालन करने वाले श्रावक का कर्तव्य है कि वह हर हालत मे संकल्पी हिंसा का त्याग अवश्य कर देवे।

अपने सम्यक्त्व को निर्मल करने के लिए गिरनार, पावापुरी, चंपापुरी, सम्मेदशिखर जी आदि तीर्थ यात्राये भी करते रहना चाहिये तथा लौकिक चिंता को दूर करने के लिए हर्ष से इष्ट मित्रो को भोजन कराना आदि क्रियायें भी करता रहे। जीमन करने-कराने से कभी भी धन की हानि नही होती है प्रत्युत धन की वृद्धि ही होती है और आपस का प्रेम बढ़ता है। गृहस्थ को चित्त की प्रसन्नता के लिए कीर्ति उपार्जन करना चाहिए क्योकि अपकीर्ति से मन संतापित होता है और मन मे सताप होने से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है तथा कीर्ति से मन प्रसन्न होता है और मन की प्रसन्नता से शुभ कर्मों का आस्रव होकर पुण्यबंध होता है। इसलिए अपने में असाधारण गुणो की वृद्धि करना चाहिए, विद्वानो द्वारा प्रशसनीय, पापनाशक दान, सत्य, शौच, शील, सयमादि उत्तम-उत्तम गुणो को अपने मे लाना चाहिए जिससे इस लोक में शाति और सुख मिलता है तथा कीर्ति प्राप्त होती है। परलोक मे सुख शांति की वृद्धि होते हुए अंत में परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति भी हो जाती है।

चार आश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और भिक्षुकाश्रम (सन्यस्ताश्रम) जैनो के ये चार आश्रम होते है। ऐसा सातवे उपासकाध्ययन नामक अंग मे बताया गया है। यथा—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमांगाद्विनिःसृताः[1]॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये चार आश्रम सातवे उपासकाध्ययन से निकले हुये है।

१. **ब्रह्मचर्याश्रम**—जहाँ पर पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन होता है उसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहते हैं। ब्रह्मचारी के पाँच भेद है—उपनयन, अवलंब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक। उपनयनब्रह्मचारी—जो मौजीबन्धन विधि के अनुसार गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण कर गुरु के पास उपासकाध्ययन आदि शास्त्रो का अभ्यास करते है और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनयन ब्रह्मचारी कहते हैं। अवलंबब्रह्मचारी—गुरु के पास क्षुल्लक रूप से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके बाद मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने वाले अवलब ब्रह्मचारी है। अदीक्षा ब्रह्मचारी—जो ब्रह्मचारी के वेष को धारण किए बिना ही शास्त्रों का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते

---

१. चारित्रसार।

हैं उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं। गूढ़ ब्रह्मचारी—जो बाल्यावस्था में ही गुरु के पास रहकर शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। नग्न रहकर ही संयम पालते हैं (किन्तु दीक्षा नही ली है) पुनः कारण-वश गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते हैं, वे गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जो व्रत के चिन्ह शिरोलिंग–चोटी, उरोलिंग–जनेऊ, कटिलिंग–लंगोटी एवं करधनी धारण करते हैं। भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं। जो स्नातक या व्रती है, सदा जिन पूजा आदि करने में तत्पर हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्याश्रम चारों ही आश्रमों में प्रमुख है। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी व्यक्ति पहले कुमार काल—बाल्यावस्था में ब्रह्मचारी ही रहता है। यदि वह ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर अर्थात् गुरुकुल आदि में रहकर यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से सुसंस्कृत होकर शास्त्रो का अभ्यास करते है पुनः उनकी इच्छा हो तो मुनि भी बन जाते है जैसे भद्रबाहु श्रुतकेवली और जिनसेनाचार्य आदि। कोई गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है जैसे जीवधर कुमार आदि।

२. **गृहस्थाश्रम**—यदि वह भव्यजीव मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए समर्थ नही है तो वह गुरुकुल से आकर धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु "माता-पिता की अनुकूलता से सजातीय कन्या के साथ विवाह करे'।" "उत्तम श्रावक उत्तम कन्या साधर्मी मनुष्य को दी है समझना चाहिए कि उसने धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों को ही दे दिया है, क्योंकि विद्वान् लोग गृहिणी को ही घर कहते है किन्तु दीवाल आदि के समूह को घर नही कहते हैं'।" घर में सुयोग्य स्त्री के बिना धर्म की परम्परा नही चल सकती है। इसलिये धर्मसतति, संक्लेशरहित रति, व्रत, कुल की उन्नति और देवपूजा, अतिथिदान आदि की परंपरा चालू रखने हेतु ही विवाह किया जाता है न कि मात्र भोग के लिये ही। गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होकर वह श्रावक अपनी धर्मपत्नी को प्रेमपूर्वक धर्म में व्युत्पन्न कर दे, क्योंकि मूर्ख अथवा विरुद्ध स्त्री अपने पति को धर्म से भ्रष्ट कर देती हैं। कुलस्त्री का भी कर्तव्य है कि वह हमेशा पति के अनुकूल ही आचरण करे चूंकि पतिव्रता स्त्रियाँ ही धर्म लक्ष्मी, सुख और कीर्ति का एक स्थान है। श्रावक भी अन्न के समान शारीरिक और मानसिक संताप को शांति पर्यंत ही स्त्री का सेवन करे क्योंकि अधिक विषयासक्तिधर्म, अर्थ और शरीर को नष्ट कर देती है। वह गृहस्थ अपने पुत्र-पुत्रियो को भी प्रारम्भ से ही धर्म के सस्कार से संस्कारित कर देवे अन्यथा अन्य सस्कार पड़ जाने के बाद धार्मिक संस्कार का पडना कठिन हो जाता है। जैसे वस्त्र पर पहले पक्का नीला या काला रंग चढ़ जाये तो उस पर पीला रग चढ़ाना कठिन क्या असभव ही है।

गृहस्थ के छह आर्य कर्म होते हैं—इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप। इनका वर्णन पहले आ चुका है।

३. **वानप्रस्थ आश्रम**—जो दिगंबर रूप को धारण न करके खंडवस्त्र ग्रहण करते हैं अर्थात् क्षुल्लक ऐलक अवस्था मे रहते है वे वानप्रस्थ कहलाते हैं।

---

१. ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया। वैवाहिके कुले कन्यामुचिता परिणेष्यतः॥

२. सत्कन्या ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः। गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसहतिम् ॥५९॥

(सागारधर्मामृत)

४. सन्यस्ताश्रम—अरहंत भगवान् की दिगंबर मुद्रा को धारण करने वाले सन्यासी या भिक्षुक कहलाते हैं।

भिक्षुक के चार भेद हैं—अनगार, यति, मुनि और ऋषि।

अनगार—सामान्य मुनियों को अनगार कहते हैं।

यति—जो उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में स्थित हैं वे यति हैं।

मुनि—अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियों को मुनि कहते हैं।

ऋषि—जिन्हे ऋद्धियां प्राप्त हो चुकी है वे ऋषि कहलाते हैं।

ऋषि के चार भेद है—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

जिन्हें विक्रियाऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हो चुकी हैं वे 'राजर्षि' हैं। बुद्धि ऋद्धि और औषधि ऋद्धि को धारण करने वाले 'ब्रह्मर्षि' हैं। आकाश गामिनी ऋद्धिधारी 'देवर्षि' है। केवलज्ञानी 'परमर्षि' कहलाते है।

वर्तमान में जितने भी दिगम्बर मुनि हैं चाहे आचार्य हों, उपाध्याय हों अथवा साधु हों, वे सभी अनगार में ही सम्मिलित हैं। जो उन्हें ऋषि मुनि या यति कहते हैं वे उपचार की अपेक्षा है अथवा साधु के ये सभी पर्यायवाची नाम हैं इसोलिये कहते हैं। वहां इन लक्षणों की अपेक्षा नहीं रहती है।

卐——卐

सम्यक्त्वसार

दश प्रकार के सम्यक्त्व—

[सम्यक्त्व ज्योति आत्मा के स्वस्थ भाव को प्रगट कर समस्त परभाव को आत्मा से जुदा दिखलाने वाला एक अमूल्य और अलौकिक पारदर्शक यंत्र है।]

आज्ञासमुद्‌भव, मार्गसमुद्‌भव, उपदेशसमुद्‌भव, सूत्रसमुद्‌भव, बीजसमुद्‌भव, संक्षेपसमुद्‌भव, विस्तारसमुद्‌भव, अर्थसमुद्‌भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इस प्रकार से सम्यग्दर्शन के दश भेद माने गये हैं[1]।

१. दर्शन मोहनीय के उपशांत हो जाने से ग्रन्थश्रवण के बिना ही केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् शास्त्राभ्यास के बिना यदि किसी जीव को सर्वज्ञदेव की आज्ञा पर ही निश्चल श्रद्धान हो जाता है कि ये जिनेंद्रदेव चूंकि सर्वदोष रहित वीतराग हैं और केवलज्ञान सहित होने से सर्वज्ञ हैं अतः ये अन्यथा उपदेश नहीं दे सकते। इनके जो वचन हैं सो सर्वथा सत्य ही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है उसी का नाम आज्ञा सम्यक्त्व है चूंकि यह जिनेंद्रदेव की आज्ञामात्र से उत्पन्न हुआ है।

२. ग्रन्थों के अर्थ विस्तार पूर्वक श्रवण किये बिना ही जो दर्शन मोह के उपशम से कल्याणकारी रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष मार्ग का श्रद्धान हो जाता है वह मार्ग सम्यक्त्व है। अर्थात् इस सम्यक्त्व में जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग को हितकर समझकर दृढ़ श्रद्धान कर लेता है। इसीलिये मोक्ष मार्ग से उत्पन्न हुआ जो श्रद्धान है वह मार्ग समुद्‌भव सम्यग्दर्शन है।

३. त्रेसठ शलाकापुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यक्त्व प्रगट होता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है ऐसा गणधर देव ने कहा है। अर्थात् कोई जीव यदि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव आदि महापुरुषों के चारित्र को सुनकर और उससे पुण्य-पाप के फल को विचार कर जिन धर्म पर दृढ़ श्रद्धान कर लेता है तब उपदेश से उत्पन्न हुए सम्यक्त्व को उपदेश सम्यग्दर्शन कहते हैं।

---

1. आत्मानुशासन श्लोक ११ से १४ तक।

४. मुनि के चारित्र के अनुष्ठान को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम सूत्र सम्यक्त्व कहा है। अर्थात् चरणानुयोग ग्रन्थ मूलाचार आदि में वर्णित मुनियों के महाव्रत आदि चारित्र को सुनकर जो उससे तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहा है।

५. जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणित आदि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है। उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते है। अर्थात् करणानुयोग से सम्बन्धित गणित आदि की प्रधानता से वर्णित दुर्गम तत्त्वों का ज्ञान सर्वसाधारण के लिये दुर्लभ है। कोई जीव ऐसे क्लिष्ट किन्हीं बीजपदों के निमित्त से उस ज्ञान को प्राप्त करके जो जिनधर्म पर या तत्त्वार्थों पर दृढ़ श्रद्धान कर लेता है वह बीज पदों से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व बीजसम्यग्दर्शन कहलाता है।

६. जो भव्यजीव जीवादि पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्व श्रद्धान कर लेता है उसके संक्षेप सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् सूत्र, तत्त्वार्थ ग्रन्थ या सिद्धांत ग्रन्थ रूप द्रव्यानुयोग के द्वारा पदार्थों को संक्षेप से ही जानकर जो तत्त्वरुचि प्रगट हो जाती है उसे संक्षेप ज्ञान की अपेक्षा उत्पन्न हुआ होने से संक्षेपसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

७. जो जीव बारह अंगों को पढ़कर तत्त्व श्रद्धानी होता है उसके विस्तार सम्यग्दर्शन होता है। अर्थात् विस्तार से संपूर्ण बारह अंगों का ज्ञान हो जाने पर जो दृढ़ विश्वास विशेष होता है उसे ही विस्तार सम्यक्त्व कहा है।

८. अंगबाह्य आगमों के पढ़ने के बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो द्वादशांगज्ञानी जीव के विशिष्ट क्षयोपशम के वश से श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे अर्थसम्यग्दर्शन कहते हैं। अर्थात् इस सम्यग्दर्शन में जीव विशिष्ट क्षयोपशम के बल से श्रुत को सुने बिना ही उसमें प्रतिपादित किसी अर्थ विशेष से दृढ़ श्रद्धानी हो जाता है इसीलिये इसे अर्थसम्यग्दर्शन कहा है।

९. अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं अर्थात् संपूर्ण अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के ज्ञाता श्रुतकेवली को जो विशेष तत्त्वश्रद्धान है उसी का नाम अवगाढ़ सम्यक्त्व है।

१०. केवलज्ञान से देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है वह यहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। अर्थात् यह सम्यग्दर्शन केवलज्ञानी भगवान् के होता है।

यहाँ पर जो ये दश प्रकार के सम्यक्त्व बतलाये गये हैं उनमें से आज इस दुःषमकाल में द्वादशांग श्रुत के उपलब्ध न होने से विस्तार सम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढ़ और परमावगाढ़ ये चार प्रकार के सम्यक्त्व तो असंभव ही हैं। अब रहे आदि के छः प्रकार के सम्यक्त्व जो कि आज भी प्रगट हो सकते हैं। उनमें से प्रथम सम्यक्त्व तो सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञामात्र से विवक्षित है। आज प्रायः इसी की मुख्यता है। क्योंकि—"जिनेंद्रदेव द्वारा कथित तत्त्व सूक्ष्म है, हेतुओं के द्वारा उसका खंडन नहीं किया जा सकता है। भले ही हमारी समझ में न आवे फिर भी जिनदेव की आज्ञा से सिद्ध होने से ही वह ग्राह्य है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् अन्यथावादी नहीं हैं[1]।" आज के युग में केवली, श्रुतकेवली के न होने से किसी सूक्ष्म विषय को निर्णय करने के लिये हमारे पास साधन भी नहीं है। अतः वर्तमान की उपलब्ध जिनवाणी को ही साक्षात् जिनवचन मानकर उनपर श्रद्धान करना आज्ञा सम्यक्त्व है। तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का श्रद्धान भी आज संभव है वैसे ही बहुधा लोगों को पुराणों के पढ़ने से पाप के फल को कटु समझकर और पुण्य के फल को मधुर समझकर तथा मोक्ष का लक्षण भी जानकर जो पापभीरुता उत्पन्न होती है और धर्म में अतीव अनुराग उत्पन्न होता है उसे ही उपदेश सम्यक्त्व कहा है। ऐसे मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि में मुनियों के आचरण का प्ररूपण देखकर हिंसादि पापों से विरक्ति होकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान हो जाता है अथवा करणानुयोग से सम्बन्धित षट्खंडागमसूत्र, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि के किसी बीजपद से जो जिनवचनों पर दृढ़ श्रद्धान हो जाता है जैसे कि देखो! जिनागम में परमाणु की या समय की परिभाषा कितनी सूक्ष्म की गई है कितने सूक्ष्म निगोदिया जीवों की रक्षा का उपदेश दिया है या जंबूद्वीप, लवण-समुद्र आदि के वर्णन में कितनी सूक्ष्म गणित का प्रतिपादन किया है इत्यादि समझकर जो जिनभगवान् के वचनों पर दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है वह बीज सम्यक्त्व है। ऐसे ही कोई संक्षिप्त रुचिवाले शिष्य हैं उन्हें संक्षेप से ही पदार्थों के ज्ञान से दृढ़ श्रद्धान हो जाता है। इत्यादि प्रकार से वर्तमान के उपलब्ध चारों अनुयोगों के ग्रन्थ सम्यक्त्व के कारण हो जाते हैं।

---

१. सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिना.॥
(आलापपद्धति)

प्रश्न—हमने तो सुना है कि समयसार आदि अध्यात्म ग्रंथों के पढ़ने से ही आत्मा की अनुभूति होती है और तभी निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है यों तो अन्य अनुयोगों के पढ़ने से जो सम्यक्त्व होता है वह तो व्यवहार सम्यक्त्व है उससे आत्मा का भान नहीं होता है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इन आज्ञासम्यक्त्व से लेकर संक्षेपसम्यक्त्व तक छहों सम्यक्त्वों में दर्शनमोहनीयादि का क्षय, क्षयोपशम या उपशम विवक्षित है—होता ही है। तभी वह सम्यक्त्व इस नाम को पाता है अर्थात् चार अनंतानुबंधी कषायें और तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियां इनका क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है जो कि आज असंभव है क्योंकि केवली या श्रुत केवली के पाद मूल में ही इन प्रकृतियों का क्षय हो सकता है। इन सातों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है जिसका काल अंतर्मुहूर्त है तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व होता है उसे वेदक या क्षयोपशम कहते हैं। हमें या आपको यह वेदकसम्यक्त्व ही माना जा सकता है। चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान तक व्यवहार सम्यक्त्व ही होता है। इसके आगे रत्नत्रय की एकाग्र परिणति में निश्चयसम्यक्त्व होता है उसे वीतराग सम्यक्त्व भी कहते हैं। यथा—"निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चय-सम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते।" निश्चयनय से निश्चयचारित्र के बिना न होने वाला ऐसा निश्चयसम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है जो कि शुद्धोपयोगी मुनियों के होता है उसके पहले के सम्यक्त्व का नाम सरागसम्यक्त्व या व्यवहारसम्यक्त्व है।

अतः यहां तो स्पष्ट है कि किसी भी अनुयोग के शास्त्रों से सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है। इसलिये हमारे लिये सभी अनुयोगों के शास्त्र समानरूप से प्रमाणिक हैं और समानरूप से स्वाध्याय के लिए उपयोगी हैं तथा समानरूप से ही आत्मतत्त्व और परतत्त्व का बोध कराने वाले हैं। हाँ, यदि किसी भी शास्त्र का अर्थ ठीक से न समझा जाये या एकांत दुराग्रह किया जाये तो वही शास्त्र शस्त्र के समान दुःखदायी हो जाता है। इसलिये इन दस प्रकार के सम्यक्त्वों का स्वरूप समझकर तथा उनके कारणों को अच्छी तरह हृदयं-गम करके वर्तमान में उपलब्ध आचार्यों द्वारा प्रणीत सभी जैन ग्रन्थों के प्रति आस्था रखना चाहिये और उनके स्वाध्याय से अपने में सम्यक्त्व की ज्योति जलाना चाहिये।

卐——卐

चारित्रप्राभृत सार

सम्यक्त्वचरण चारित्र—

वीतराग सर्वज्ञदेव ने चारित्र के दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र[1]। इन्हें दर्शनाचार चारित्र और चारित्राचार लक्षण चारित्र भी कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवों! इन दोनों में पहले सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाने के लिये उसमें मल को उत्पन्न करने वाले ऐसे शंका आदि दोषों का त्याग करो तथा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना सम्यक्त्व के इन आठ गुणों को धारण करो। इन आठ गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है यह मोक्ष की प्राप्ति के लिये मूल कारण है। जो महापुरुष ज्ञान से संयुक्त इस प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र का आचरण करते हैं तथा इस सम्यक्त्वचरण से शुद्ध हुये संयमचरण चारित्र को भी धारण कर लेते हैं वे मूढ़दृष्टि रहित ज्ञानी जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

इस सम्यक्त्वचरण चारित्र के आठ गुण हैं जो कि पालन करने योग्य हैं और पच्चीस मल दोष हैं जो कि छोड़ने योग्य हैं।

१. निःशंकित—सात प्रकार के भयों से रहित होना, बौद्ध आदि अन्य दर्शन और जैनाभास मत से मुक्ति नहीं मानना तथा अंजनचोर के समान जिनेंद्रदेव के वचनों में दृढ़ श्रद्धान रखना।

२. निःकांक्षित—सम्यक्त्व और व्रतों के फल स्वरूप राज्यवैभव देवपद, इंद्रपद आदि इहलोक परलोक सुखों की वांछा नहीं करना।

३. निर्विचिकित्सा—रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल आदि को देखकर ग्लानि नहीं करना।

४. अमूढ़दृष्टि—जिनेंद्र भगवान् के वचनों में शिथिलता नहीं करना अथवा अन्य मतों में मोह को प्राप्त नहीं होना, अन्य संप्रदाय के नाना चमत्कारों को देखकर उसमें नहीं लुभाना।

1. षट्प्राभृत में चारित्र प्राभृत गाथा ५, ६, ७।

५. उपगूहन--जिनधर्म में स्थित बालक तथा वृद्ध आदि असमर्थजनों के दोष छिपाना।

६. स्थितिकरण—सम्यक्त्व और व्रतों से च्युत होते हुये मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक फिर से उसी में स्थिर कर देना।

७. वात्सल्य—धर्मात्मा जनों में अकृत्रिम स्नेह रखना, उनके ऊपर आये हुये उपसर्ग को दूर करना जैसे कि विष्णु कुमार मुनि ने श्री अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का उपसर्ग निवारण करके वात्सल्य गुण प्रकट किया था।

८. प्रभावना—जिनधर्म का उद्योत करना तथा अन्य धर्म के प्रभाव का विध्वंस करना। शास्त्रार्थ, मंत्र, तंत्र, विद्या, दान, पूजा, तपश्चरण महामहोत्सव आदि के द्वारा धर्म का प्रभाव फैलाना।

इन आठ गुणों को श्री समंतभद्रस्वामी ने आठ अंग नाम दिये हैं और उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि इनमें से यदि एक भी अंग नहीं है तो वह सम्यग्दर्शन संसार की परम्परा को छेद करने में समर्थ नहीं हो सकता है जैसे कि एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है।

इस प्रकार से इन निःशंकित आदि आठ गुणों से विपरीत शंका आदि आठ दोष हो जाते हैं। अपने ज्ञान का, अपनी पूजा प्रतिष्ठा का, अपने कुल का, जाति का, बल का, ऐश्वर्य या ऋद्धि का, तपश्चरण का और रूप का घमंड करना मद है। इन आठ निमित्तों से मद के भी आठ भेद हो जाते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके भक्त ये छह अनायतन हैं अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक पुरुष ये छह अनायतन हैं। चूंकि ये सम्यक्त्व के आयतन—स्थान नहीं हैं अतएव ये अनायतन कहलाते हैं। सूर्य को अर्घ देना, ग्रहण के समय स्नान करना, नदी आदि में स्नान कर पुण्य मानना आदि लोकमूढ़ता है। वर की आशा से रागी द्वेषी देवों की उपासना करना देवमूढ़ता है। परिग्रह तथा आरम्भ से सहित, पाखंडी साधुओं की उपासना करना गुरुमूढ़ता है। इस तरह शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता ये पच्चीस मल दोष हैं जो कि सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं।

अब हमें विचार कर देखना चाहिये कि यदि हमारे हृदय में जिनेंद्रदेव के प्रति दृढ़ आस्था है तो हम उनकी आज्ञा के अनुसार आठ गुणों को धारण कर रहे हैं या नहीं? निःशंकित आदि गुणों में धन या तन खर्च करने की ही आवश्यकता हो ऐसी बात नहीं है। केवल एक प्रभावना गुण ही धन के द्वारा भी किया जाता है और मन वचन काय से तो

किया ही जाता है। कहने का मतलब है कि इन गुणों का मन, वचन, काय से ही विशेष सम्बन्ध है। कुछ श्रम विशेष की आवश्यकता नहीं है।

वर्तमान के भौतिक युग में अनेक प्रकार के नये नये आविष्कार देखने में आते हैं। उस समय प्रायः बहुत से लोग जिनागम के वचनों की अवहेलना, अश्रद्धा करने लगते हैं तथा कुछ लोग किसी साधु आदि में किंचित् भी दोष देखकर सभी साधुओं में उसको बढ़ा चढ़ाकर आरोप किया करते हैं। वे बेचारे व्यर्थ ही अपने निःशंकित और अमूढ़दृष्टि गुण को तथा वात्सल्य उपगूहन, स्थितिकरण गुण को जलांजलि देकर अपने सम्यक्त्व को मलिन कर लेते हैं।

यदि मुनिव्रत या श्रावक के व्रतरूप संयमचरण का अनुष्ठान नहीं हो पाता है तो कम से कम अपने सम्यक्त्व को निर्दोष बनाते हुये इन पच्चीस मल दोषों से अपने को बचाने का प्रयत्न करो। धर्म और धर्मात्माओं में नैसर्गिक स्नेह जब उमड़ पड़ता है तब समझो तुम्हारे अन्दर वात्सल्यगुण अवतरित हो चुका है। चाहे जैसे चमत्कारिक प्रसंग दिख रहे हों किन्तु जिनेंद्र देव ने जैसा लोक अलोक आदि का वर्णन किया है वैसा ही है अन्यथा नहीं हो सकता इसी का नाम निःशंकभाव है, इसे आस्तिक्य गुण भी कहते है। इत्यादि प्रकार से सतत ही आठ गुणों के स्वरूप का विचार करते हुये अपने को उन गुण रूप बना लेना चाहिये और पच्चीस दोषों को हानिकर समझते हुए उनसे सर्वथा दूर हो जाना चाहिए, तभी हम सम्यक्त्व चरण-चारित्र के आराधक कहलायेंगे।

संयमचरण चारित्र श्रावकधर्म—

संयमचरण के दो भेद हैं—सागार धर्म और अनगार धर्म। सागार चारित्र परिग्रह सहित गृहस्थ के होता है और अनगार चारित्र मुनियों के होता है। श्री कुंदकुंद भगवान् सागार चारित्राचार का निरूपण करते हैं—

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रि भुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग। ये सब देशव्रत अथवा सागार चारित्राचार हैं। इन्हीं को श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें भी कहते हैं।

प्रथम दर्शनप्रतिमाधारी को सामान्यतया आठ मूलगुण धारण करना होता है, सात व्यसनों का त्याग करना पड़ता है और सम्यग्दर्शन की भले प्रकार रक्षा करनी होती है।

आठ मूलगुण—बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पांच फलों का तथा मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों का त्याग करना आठ मूलगुण है। अथवा द्वितीय प्रकार से (१) मद्य का त्याग, (२) मांस का त्याग, (३) मधु का त्याग, (४) रात्रि भोजन का त्याग, (५) पांच उदुंबर फलों का त्याग, (६) पंचपरमेष्ठी की नुति अर्थात् देवदर्शन, (७) जीव दया और (८) जल छानकर पीना ये आठ मूलगुण माने गये हैं।

सात व्यसनों के नाम—जुआ खेलना, मद्य पीना, मांस खाना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन महापाप रूप हैं। विद्वान् लोग इनका सेवन नहीं करते है।

सम्यक्त्व की रक्षा करने के लिये अन्यमत सम्बन्धी कल्पित शास्त्रों का श्रवण न करके अपनी बुद्धि को विशुद्ध रखना चाहिये।

ऊपर कहे हुये सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है—

मूली, कमल की नाल, मृणाल, लहसुन, तुंबी फल, कुसुम की शाक, सूरणकंद, अरणी, वरण, सोहजना और करीर इन फलों का त्याग कर देना चाहिये। नमक, तेल और घृत में रखे हुये फल, अचार, मुरब्बा, दो मुहूर्त के बाद का मक्खन, तथा मांसादि का सेवन करने वाले लोगों के बनाने और खाने के बर्तनों का त्याग करना चाहिये। चमड़े में रखे हुये जल, तेल और हींग का त्याग करना होता है।

भोजन करते समय हड्डी, मदिरा, चमड़ा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृत-प्राणी के देखने से, त्यागी हुई वस्तु के सेवन से, चांडाल आदि के देखने और उनके शब्द सुनने से भोजन में अंतराय मानकर भोजन का त्याग कर देना चाहिये। तथा भोजन में केश या मृत चिवटी मक्खी आदि आ जाने पर भी अंतराय करके भोजन छोड़ देना चाहिये।

घुने अन्न आदि, जिन पर फफूंदी आ गई है ऐसे खाने के पदार्थ और चलित स्वाद वाले भोजन का भी त्याग कर देना चाहिये। सोलह प्रहर के बाद का दही और तक्र नहीं लेना चाहिये। कच्चे दूध या कच्चे दूध से बने हुये दही आदि में दो दाल वाले अन्न को मिलाने से द्विदल होता है वह भी सम्यग्दृष्टि को नहीं लेना चाहिये। पान, औषधि और पानी का भी रात्रि में त्याग कर देना चाहिये। यह सभी दर्शनप्रतिमा का आचार है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ यद्यपि व्रतों को ग्रहण नहीं करता है तो भी आठमूल गुण का निरतिचार पालन करता है अतः उसमें मर्यादा के उपरांत की वस्तुओं का, बाजार की बनी हुई चीजों का—पकवान और मिठाइयों का, बाजार के पिसे हुये आटे, मसाले आदि का त्याग करना होता है। शुद्ध जल और शुद्ध भोजन ही ग्रहण करना होता है। रात्रि में भी चारों प्रकार के आहार का, औषधि का सर्वथा त्याग करना होता है। सात व्यसनों का भी अतिचार सहित त्याग करना होता है। एवं पंचपरमेष्ठी में प्रगाढ़ भक्ति रखते हुये देवदर्शन, पूजन का नियम करना होता है। तभी वह पहली प्रतिमाधारी कहा जा सकता है।

वह न्याय से धन कमाता है, जिस व्यापार में महान् हिंसा हो, ऐसे व्यापार नहीं करता है, जैसे कि शराब, गांजा, भांग, खाद या जूते आदि का व्यापार नहीं करता है। मुनियों के प्रति पूर्ण अनुराग रखता हुआ समय-समय पर उनको आहार दान, उनकी भक्ति, सेवा-शुश्रूषा आदि करता रहता है। अपने धन का सदुपयोग तीर्थयात्रा, जिनबिंब प्रतिष्ठा, सिद्धचक्र विधान, तीन लोक मंडल विधान, इंद्रध्वज विधान आदि महान् धर्म कार्यों में करता है। अपने अमूल्य समय का सदुपयोग धर्मचर्चा, स्वाध्याय, गुरुओं के सत्संग आदि में करता है। इस तरह प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य सरल और सुसाध्य है। प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष या स्त्री इस दर्शनप्रतिमा को सहज ही ग्रहण कर सकते हैं और आगे व्रतप्रतिमा आदि में उत्साह बढ़ाते हुये उनको भी ग्रहण कर सकते हैं। आज के युग में भी बहुत से गृहस्थ श्रावक ऐसे हैं जो बाजार या होटलों में नहीं खाते हैं। चाहे जैसी या चाहे जिसके हाथ की बनी हुई कोई चीज नहीं खाते हैं। महिलायें तो अधिकांश मात्रा में ऐसी होती हैं जो कि अपने हाथ से ही अपने घर में हर एक चीज, हर प्रकार के पकवान और मिठाइयाँ बना लेती हैं। उन्हें इस दर्शनप्रतिमा को गुरु के सान्निध्य में ग्रहण कर लेना चाहिये।

अब द्वितीयप्रतिमा के अंतर्गत बारह व्रतों को कहते हैं।

बारहव्रत—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारहव्रत रूप चारित्र श्रावक का संयमाचरण है। पांच पापों से विरत होना व्रत है। वह व्रत एक देश और सर्वदेश की अपेक्षा दो प्रकार का है। एक देशव्रत को अणुव्रत तथा सर्वदेश विरति को महाव्रत संज्ञा है। जो अणुव्रतों का उपकार करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं तथा जिनसे मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। स्थूल त्रसबध का

त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है। स्थूल असत्य कथन का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्य अणुव्रत है। परस्त्री का त्याग करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है तथा परिग्रह और आरम्भ का परिमाण करना अर्थात् स्वर्ण आदि परिग्रह तथा सेवा खेती व्यापार आदि का परिमाण करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। ऐसे ये पांच अणुव्रत होते हैं। दिशा और विदिशाओं का प्रमाण करना अर्थात् पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में तथा ईशान आदि विदिशाओं में आने जाने की सीमा को निश्चित कर लेना पहला दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है। अनर्थक—निरर्थक कार्यों का त्याग करना दूसरा अनर्थदण्डत्याग नाम का गुणव्रत है। इसके पांच भेद हैं—अपध्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादचर्या। भोग और उपभोग की वस्तु में परिमाण करना सो तीसरा भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन आदि। जो वस्तु बार-बार भोगने में आती है वह उपभोग है जैसे वस्त्र, स्त्री आदि। ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूज्य और अन्तकाल में सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत होते हैं। सामायिक में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और समाधिभक्ति पूर्वक क्रिया की जाती है। यह सामायिक नाम का पहला शिक्षाव्रत है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को व्रत करना प्रोषध नाम का शिक्षाव्रत है। इसके उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। चार प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास करना उत्तम प्रोषधोपवास है। जलमात्र ग्रहण कर लेना मध्यम है, आचाम्ल भोजन करना जघन्य है। अतिथियों को आहार देना अतिथिपूज्य अथवा अतिथि संविभागव्रत है। इस व्रत में श्रावक नवधाभक्ति पूर्वक मुनि आदि पात्रों को आहार आदि देता है। यह तृतीय शिक्षाव्रत है। मरणकाल में काय और कषाय को कृश करते हुए समाधि पूर्वक मरण करना सो सल्लेखना व्रत है यह चौथा शिक्षाव्रत है।

इसी प्रकार समस्त श्रावक धर्म सम्बन्धी संयमाचरण चारित्राचार का कथन किया। अब शुद्ध और निष्कलंक मुनि धर्म सम्बन्धी चारित्राचार को कहूँगा[1]।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने सल्लेखनाव्रत को शिक्षाव्रत में ग्रहण किया है। इसी प्रकार मुनियों के पाक्षिकप्रतिक्रमण में श्रीगौतमस्वामी ने भी सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा है। यथा—तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामाइयं, विदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागोचउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि[2]।

1. चारित्रप्राभृत गाथा २२ से २६ तक। 2. श्री गौतमस्वामीकृत पाक्षिकप्रतिक्रमण पाठ।

इन गौतमस्वामी और कुन्दकुन्ददेव के अनंतरवर्ती श्री उमास्वामी आचार्य ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में अन्तर माना है। यथा—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगपरिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं[1]। पुनः आगे मरण के काल में सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करना ऐसा कहा है।

इसी प्रकार से श्री स्वामी समन्तभद्र ने दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा है। देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है। यह वैयावृत्य अतिथिसंविभाग का विस्तृत रूप है। इसके लक्षण में स्वामी ने स्वयं चार प्रकार के दान को देने का विधान और मुनियों की सेवा शुश्रूषा का विधान किया है।

इस तरह श्रावक के व्रतों का संक्षेप से वर्णन श्री कुन्दकुन्ददेव ने अपने चारित्र प्राभृत में किया है।

संयमचरण-चारित्र मुनिधर्म—

अब मुनियों के संयमाचरण चारित्र को पढ़ेंगे, इसलिये नहीं कि मुनियों के प्रति अश्रद्धा करके अपना सम्यग्दर्शन मलिन करें बल्कि इसलिये कि हम भी मुनि बनकर अपनी आत्मा को मोक्ष के निकट ले जावें और जब तक मुनि नहीं बन सकते तब तक मुनि होने की भावना भावें, एवं आजकल के निकृष्ट काल में भी जो मुनि दिख रहे हैं उनके प्रति नतमस्तक हो जावें।

पांच इंद्रियों को वश में करना, पच्चीस क्रियाओं के अर्थात् पच्चीस भावनाओं सहित पांच महाव्रतों को धारण करना, पांच समितियों का पालन करना और तीन गुप्तियों का धारण करना यह मुनियों का संयमचरण चारित्र है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ चेतन तथा अचेतन पदार्थों में राग द्वेष नहीं करना पचेंद्रिय संवर हैं। त्रस और स्थावर की हिंसा से पूर्णतया विरत होना अहिंसा महाव्रत है। असत्य बचन से विरत होना सत्य महाव्रत है। बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण से विरत होना अदत्तत्याग महाव्रत है। स्त्री

---

1. तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सूत्र २१।

सेवन से विरत होना अब्रह्म त्याग अथवा ब्रह्मचर्य महाव्रत है और परिग्रह का सर्वथा त्याग होना सो अपरिग्रह महाव्रत है। चूंकि इनका महापुरुष ही साधन करते हैं, पूर्व में भी महा-पुरुष—तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिकों ने इनका आचरण किया है और स्वयं ही ये महान् हैं अतः इन्हें महाव्रत कहते हैं। अर्थात् वृषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों, वृषभसेन को लेकर गौतम स्वामी पर्यंत सभी गणधरों ने तथा जम्बूस्वामी पर्यंत अनेक मुक्तिगामी जीवों ने इन महाव्रतों को धारण किया है। और तो क्या अनादि काल से आज तक अनंतानंत महापुरुषों ने इनको धारण किया है अभी भी महापुरुष ही इनको ग्रहण करते हैं और भविष्य में अनंतानंत महापुरुष इन महाव्रतों का अनुष्ठान करके महान् परमात्म पद प्राप्त करेंगे अतएव ये पांचों व्रत महान् हैं।

अहिंसाव्रत की भावनायें—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पांच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् वचन को वश में रखना, मन को वश में रखना, चार हाथ जमीन देखकर चलना, पुस्तक कमंडलु आदि उपकरणों को पहले देखकर तथा मयूर पिच्छी से साफ कर धरना उठाना और बार-बार देखकर शोधकर भोजन करना ये पांच भावनायें हैं।

सत्यव्रत की भावनायें—क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनके त्याग रूप पांच भावनायें सत्यव्रत की है। श्री गौतम स्वामी ने भी कहा है कि—[1]"अक्रोध, अलोभ, भय और हास्य का त्याग और अनुवीचि भाषा कुशल ये पांच भावनायें हैं।" यहाँ पर जो अमोह भावना है उसी से अनुवीचि भाषा में कुशल यह भावना आ जाती है। पूर्वाचार्यों को सूत्र की परम्परा के अनुकूल बोलना ही अनुवीचि भाषा कुशल भावना है।

अचौर्यव्रत की भावनायें—शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणा शुद्धि और सहधर्मी में अविसंवाद ये पांच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् शून्य स्थान पर्वत की गुफा आदि में निवास करना, जो ग्राम या निवास स्थान ऊजड़ हो गये हैं या राजा आदि के आक्रमण से उजड़ गये हैं—वहाँ के निवासी अपना स्वामित्व छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं, उन्हें विमोचितावास कहते हैं ऐसे स्थानों में रहना। ठहरते समय पर का उपरोध दूसरों को रुकावट नहीं करना परोपरोधाकरण है। चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा शुद्धि है। और सहधर्मियों से यह वस्तु हमारी है, यह तुम्हारी है इत्यादि विसंवाद नहीं करना यह पांच भावनायें हैं।

---

1. पाक्षिकप्रतिक्रमण मुनियो का।

ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें—महिलालोकन विरति, पूर्व रति स्मरण विरति, संसक्त-वसतिविरति, विकथाविरति और पुष्टिरससेवनविरति ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् रागभाव से स्त्रियों के अंगों का अवलोकन नहीं करना, पहले के भोगे हुये भोगों का स्मरण नहीं करना, स्त्रियों के अत्यन्त निकटवर्ती वसतिका में नहीं रहना और अपने शरीर को संस्कारित नहीं करना, विकथा-स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं का त्याग करना और कामोत्तेजक रसों का सेवन नहीं करना ये पांच भावनायें ब्रह्मचर्य के लिये मानी गई हैं।

अपरिग्रहव्रत की भावनायें—मनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इन पांच इन्द्रियों के विषयों में राग द्वेष का त्याग करना ये पांच परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें हैं। ये कुल पच्चीस भावनायें हैं।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और निक्षेप ये पांच समितियां हैं। चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है, आगम के अनुकूल वचन बोलना भाषासमिति है, उद्गम आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार लेना एषणासमिति है, पुस्तक आदि वस्तु देख शोध कर उठाना आदानसमिति और इन वस्तुओं को देख कर रखना निक्षेपसमिति है। अन्यत्र चतुर्थसमिति को आदाननिक्षेपण और पंचमसमिति को उत्सर्गसमिति कहा है और यहाँ पर आदान तथा निक्षेप को अलग-अलग कहा है। सो निक्षेपसमिति में ही उत्सर्ग-समिति का अंतर्भाव हो जाता है। इस तरह से पांच इन्द्रिय संवर, पांच व्रत, पच्चीस भावना, पांच समिति और तीन गुप्ति यह चारित्र मुनियों के द्वारा धारण किया जाता है।

संक्षेप से वीतराग भगवान् जिनेंद्रदेव ने—महावीर स्वामी ने इस तरह से सम्यक्त्व-चरण और संयमचरण तथा दर्शनाचार और चारित्राचार का वर्णन किया है।

अंत में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

हे भव्यजीवों! शुद्ध भाव से स्पष्ट रचे हुए इस चरणप्राभृत और दर्शनप्राभृत का खूब चिंतन करो और उसके फलस्वरूप शीघ्र ही चतुर्गतियों से छूटकर अपुनर्भव अर्थात् सिद्ध हो जावो[1]।

वास्तव में इस संयमचरण को पढ़ने का यही सार है कि इसे शक्ति के अनुसार ग्रहण करना चाहिये। अपनी अनंत शक्ति को प्रकट करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, न कि पर में छिद्रों का अन्वेषण करके अपनी आत्मा का घात करना चाहिये।

卐——卐

1. चारित्रप्राभृत गाथा ४४।

बोधप्राभृत सार

ग्यारह महत्वपूर्ण स्थान

(१) आयतन, (२) चैत्यगृह, (३) जिनप्रतिमा, (४) दर्शन, (५) जिनबिंब, (६) जिन-मुद्रा, (७) ज्ञान, (८) देव, (९) तीर्थ, (१०) अरहन्त और (११) प्रव्रज्या इन ग्यारह विषयों का बोधप्राभृत में वर्णन किया है।

(१) आयतन—जिनमार्ग में जो संयम सहित मुनिरूप है उसे आयतन कहा है। अर्थात् मन, वचन, काय और पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जिन्होंने वश में कर लिया है वे संयमी मुनि आयतन हैं तथा मद, राग, द्वेष मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत नहीं हैं। पांच महाव्रतों को धारण करते हैं ऐसे महर्षि महामुनि ही आयतन कहलाते हैं। विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिन श्रेष्ठ मुनि के निजात्म स्वरूप सिद्ध हुआ है अथवा जिन्होंने छह द्रव्य सात तत्त्व नवपदार्थ अच्छी तरह जान लिये है उन्हें 'सिद्धायतन' कहा है। अर्थात् यहाँ पर भगवान् कुन्दकुन्द ने प्रथम तो सामान्यमुनियों को आयतन कहा है, पुनः ऋद्धिधारी ऋषियों को अनन्तर अरहंत केवली भगवान् को आयतन शब्द से कहा है क्योंकि ये ही धर्म के आयतन स्थान हैं—आधार है ऐसा समझना।

(२) चैत्यगृह—जो ज्ञानयुक्त आत्मा को जानते हों, दूसरे भव्य जीवों को उसका बोध कराते हों, पांच महाव्रतों से शुद्ध हों तथा स्वयं ज्ञानमय हों ऐसे मुनि को 'चैत्यगृह' कहते हैं। इस प्रकार वास्तव में 'चैत्यगृह' संयमी मुनि हैं जिन मन्दिर को 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है।

जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करते है उनको उससे बन्ध और उसके फलस्वरूप दुःख उत्पन्न होता है तथा जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करते हैं उनको वह मोक्ष व उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। इस तरह जिन शासन में 'चैत्यगृह' को षट्कायिक जीवों का अर्थात् प्राणीमात्र का हितकारी माना गया है। अर्थात् श्री कुन्दकुन्ददेव ने संयमी मुनि को चैत्यगृह कहा है तथा कृत्रिम-अकृत्रिम जिनमन्दिर भी चैत्यगृह हैं ऐसा समझना। इन दोनों के प्रति दुर्भाव से पाप और दुःख एवं भक्ति से पुण्य एवं मोक्ष सुख प्राप्त होता है यह स्पष्ट है।

(३) जिनप्रतिमा—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर की प्रतिमा हैं वह स्वशासन और परशासन की अपेक्षा दो प्रकार की हैं। इसमें जो जंगम-गति-रहित निर्ग्रंथ वीतराग प्रतिमा है वही जिनशासन में प्रतिमायें मानी गई हैं। किन्तु वस्त्राभरण, मुकुट, आयुध आदि से सहित प्रतिमाये मान्य नहीं हैं। यह जगमप्रतिमा का स्वरूप है। अब जंगमप्रतिमा को बताते हैं—जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिन-श्रुत को जानते हैं अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रंथ शरीर जंगमप्रतिमा है। वह वन्दना करने के योग्य है। अर्थात् निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि चलती-फिरती जंगमप्रतिमा है। आगे सिद्ध प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं—जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख सहित हैं, शाश्वत अविनाशी सुख स्वरूप हैं, अदेह अशरीरी हैं, अष्टकर्म के बन्धन से रहित हैं, उपमारहित हैं, अचल हैं, क्षोभ रहित है, जंगमरूप से निर्मावित हैं अर्थात् स्थिररूप से निर्मापित हैं संसार का अन्त होते ही एक समय में लोक शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं। अतः सिद्ध स्थान में स्थित हैं। वहाँ पर कायोत्सर्ग आसन से या पद्मासन से विराजमान है इसलिये वे सिद्ध भगवान् 'सिद्ध प्रतिमाये' कहलाते हैं। अर्थात् यहाँ पर कृत्रिम-अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं को जंगम-प्रतिमा कहा है और दिगम्बर मुनियों को जंगमप्रतिमा कहा है तथा लोक शिखर पर विराजमान सिद्धों को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

अन्यत्र ग्रन्थों में अष्ट प्रतिहार्य तथा यक्ष-यक्षिणियों समेत मूर्ति को अरहंत प्रतिमा एवं छत्र चामर आदि प्रातिहार्यों से तथा यक्ष-यक्षिणियों से रहित जिनप्रतिमा को सिद्ध प्रतिमा कहा है। अथवा कृत्रिम प्रतिमाओं को जिनप्रतिमा एवं अकृत्रिम अनादि निधन स्वयंसिद्ध प्रतिमाओं को सिद्धप्रतिमा कहा है। ऐसा समझना। तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पर भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने दिगम्बर मुनियों को 'आयतन' 'चैत्यगृह' और प्रतिमा शब्दों से भी मान्य करके सर्वथा वन्दनीय और पूज्य घोषित किया है।

(४) दर्शन—जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्मरूप मोक्षमार्ग को दिखलाता है तथा स्वयं निर्ग्रंथ-परिग्रह रहित और ज्ञानमय है वह जिनमार्ग में 'दर्शन' कहा गया है। अर्थात् यह दर्शन यति और श्रावक के आधारभूत है और अविरत सम्यग्दृष्टि के आधारभूत है। वास्तव में मुनि के निर्ग्रंथ रूप को जिनमार्ग को दर्शन कहा है तथैव श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टि जन भी दर्शन हैं तथा इस प्रकार के रूप के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व को भी 'दर्शन' कहते हैं।

जिस प्रकार फूल गंधमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन भी निश्चय से सम्यग्ज्ञानमय होता है। वह सम्यग्दर्शन यति श्रावक और असंयत के रूप में स्थित है।

(५) जिनबिम्ब—जो ज्ञानमय है संयम से शुद्ध है, अत्यन्त वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते है ऐसे आचार्य परमेष्ठी 'जिनबिंब' हैं। अर्थात् ये आचार्य परमेष्ठी शिष्यों को कर्मक्षय में हेतु ऐसी व्रतारोपण रूप दीक्षा देते हैं तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि रूप शिक्षा देते हैं अतः ये जीवन्मुक्त जिन भगवान् के समान माननीय हैं ऐसा समझना। अन्यत्र भी कहा है—

"जो ज्ञानकांड में और क्रियाकांड में शिक्षा और दीक्षा में ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देव के समान आराधना करने के योग्य हैं[1]"।

उन जिनबिंबरूप आचार्यदेव को प्रणाम करो, उनकी सब प्रकार की पूजा करो, उनके प्रति विनय और वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन है तथा निश्चित रूप से चेतना भाव विद्यमान है। अर्थात् यहाँ पर जिनबिंब शब्द से जिनबिंब के समान मुद्रा के धारक आचार्यदेव का ग्रहण किया है। हे भव्य जीवों! तुम उन्हें पंचाग या अष्टांग नमस्कार करो। ऐसे ही उपाध्याय मुनि तथा सर्वसाधुओं की भी भक्ति करो। ये भी जिन-बिंब स्वरूप हैं। अष्टद्रव्य से इनकी पूजा करो। इसके सिवाय इन तीनों परमेष्ठियों की विनय करो, हाथ जोड़कर वंदन करो, उनके आते समय सन्मुख जावो, सहज स्नेह प्रदर्शित करो, उन्हें आहार देवो, उनके पैरों को दबाना, तेल मालिश करना, चरण प्रक्षालन करना आदि वैयावृत्य करो जो कि तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिये कारणभूत है।

स्वामी श्रीसमंतभद्रमहामुनि भी कहते हैं—

संयमी जनों की आपत्ति-विघ्न बाधाओं को दूर करना, पैर दाबना तथा उनके गुणों में राग होने से उनका जितना भी उपकार है वह सब वैयावृत्य है। इस प्रकार जिनमें निश्चय से दर्शन, ज्ञान और आत्म स्वरूप विद्यमान है वे प्रधान रूप से 'जिनबिंब' हैं एवं पाषाण आदि से निर्मित जिनबिंब भी स्थापना निक्षेप से पूज्य हैं। उनका भी पंचामृत अभिषेक करो, अष्ट द्रव्य से पूजा करो। इन जिनबिंबों की भक्ति भी संसार समुद्र से पार करने वाली है। जो तप, व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते हैं तथा शुद्ध

1. यशस्तिलकचंपू।

सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहंत मुद्रा हैं अर्थात् जिनबिंब हैं। यह अरहंत मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देने वाली है। अर्थात् वीतराग अरहंत भगवान् की आकृति-मुद्रा को धारण करने वाले आचार्य देव हैं। यह अरहंत मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को तो देती ही है तथा यात्रा प्रतिष्ठा आदि कार्यों को प्रवर्तानि वाली है। उसी प्रकार से यंत्र और मंत्र से जिनकी आराधना होती है ऐसी पाषाण निर्मित प्रतिमायें भी 'जिनबिंब' कहलाती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिनबिंब को ही अरहंत मुद्रा भी कहा है।

(६) जिनमुद्रा—जो संयम की दृढ़ मुद्रा से सहित है, जिसमें इंद्रियों का निरोध है, जिसमें कषायों का नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञान से सहित है, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिन-मुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गई है। अर्थात् सिर, दाढ़ी और मूछ के केशों का लोंच करना, मयूर पंखों की पिच्छी धारण करना, कमंडलु रखना यह मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। इस मुद्रा से अहर्निश पठन-पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः यह मुद्रा सर्वथा ही मान्य है। कहा भी है—"मुद्रा सर्वत्र मान्य होती है, मुद्रा रहित का सन्मान नहीं हो सकता है। जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है। शास्त्र का यही निर्णय है[1]"।

मुनियों का आकार जिनमुद्रा है और ब्रह्मचारियों का आकार चक्रवर्ती मुद्रा है। ये दोनों ही मुद्रायें माननीय हैं—पद के अनुकूल आदर करने योग्य हैं।

(७) ज्ञान—जो मोक्षमार्ग इन्द्रिय संयम तथा प्राणी संयम से युक्त है, आर्त-रौद्र दुर्ध्यान से रहित होकर धर्म और शुक्ल ध्यान से सहित है उस मोक्षमार्ग के लक्ष्य—निजात्म स्वरूप को यह जीव ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञान को जानना चाहिये। निशाना बेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार बाण के निशाने को नहीं कर पाता है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप के चिन्तन के अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य रूप निजात्म स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकते हैं चूंकि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप है। ज्ञान पुरुष के होता है अर्थात् विनय से संयुक्त सत्पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा चिंतन करता हुआ वही सत्पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य रूप निजात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ ज्ञान से श्रुतज्ञान विवक्षित है वह श्रुतज्ञान विनय से संयुक्त भव्य जीव को ही होता है। तथा गाथा के 'अपि' शब्द से ऐसा सूचित होता है कि ब्राह्मी, सुन्दरी, राजमती

---

1. मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते। राजमुद्राधरोऽत्यंतहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ (नीतिसार)

और चन्दना आदि आर्यिकाओं को भी ग्यारह अंग तक का श्रुतज्ञान प्राप्त हुआ था। जिसके प्रसाद से उन्होंने स्त्रीलिंग का छेदकर स्वर्ग सुख का उपभोग किया है पुनः वहाँ से आकर राजकुल में जन्म लेकर दैगम्बरी दीक्षा लेकर मुक्ति सुख प्राप्त कर लिया है एवं राजमती, चन्दना आदि आगे तृतीय भव में मोक्ष प्राप्त करेंगी क्योंकि जब स्त्री पर्याय में पूर्ण श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता है तब केवलज्ञान की बात दूर ही है। किन्तु पुरुषों को उसी भव में पूर्ण श्रुतज्ञान या केवलज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

ऐसे ज्ञान को कौन प्राप्त करता है?

गुरुओं की चरणरज से जिनका मस्तक रंगा हुआ है ऐसे विनय से सहित सत्पुरुष ही ऐसा श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकते है। वे विनयी मुनि ही श्रुतज्ञान द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्ष-मार्ग का चिंतवन करते हुए लक्ष्य-निजात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। जिस मुनि के पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप बाण हैं और निजात्मस्वरूप परमार्थ में जिसने अपना लक्ष्य बाँध रखा है ऐसा मुनि मोक्षमार्ग के लक्ष्य में कभी नहीं चूकता।

श्री सोमदेवसूरि भी श्रुतज्ञान के गुणों की स्तुति करते हुये कहते हैं—

'इन्द्रियों से होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है, अवधिज्ञान सीमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्ययज्ञान किसी मुनि के होता है फिर भी अत्यन्त अल्प है और यह केवलज्ञान-रूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुर्लभ होने से मात्र कथा का ही विषय हैं परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें? अर्थात् इस युग में भी इस श्रुतज्ञान का माहात्म्य वर्णनातीत है।

तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ ज्ञान अधिकार में भी दिगम्बर मुनि को ही लिया है चूंकि ज्ञान निराधार नहीं रह सकता है ऐसा समझना[1]।

(८) देव—देव वह है जो धर्म, अर्थ और काम को अच्छी तरह देता है। लोक में यह नीति है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वह उसे ही देता है। देव के पास धर्म है, अर्थ है, काम है, प्रव्रज्या है और ज्ञान है अतः इन्हें ही वह देता है यहाँ पर आचार्य ने 'देवे सो देव' ऐसा देव शब्द का अर्थ विवक्षित किया है। धर्म का लक्षण चारित्र, दया, वस्तु स्वभाव, स्वात्मोपलब्धि और उत्तम क्षमादि है। धन संपत्ति, नवनिधि चौदह रत्न आदि

1. यहाँ पर 'दर्शन' से लेकर 'ज्ञान' तक वर्णन करने मे भगवान् कुन्दकुन्दकृत बोधपाहुड़ की १४वी गाथा से लेकर २३वी गाथा तक का आधार लिया गया है।

अर्थ हैं। अर्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थंकर आदि के भोग वैभव को काम कहते हैं। केवलज्ञान रूप ज्योति का नाम ज्ञान है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये कारण भूत प्रव्रज्या दीक्षा है। जिनेंद्रदेव की भक्ति के प्रसाद से ये सब वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं इसलिये वे इनके देने वाले कहे जाते हैं।

आचार्यदेव पुनः कहते हैं कि—

दया से विशुद्ध धर्म, सर्व परिग्रह से रहित दीक्षा और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवों का कल्याण करने वाले है। अर्थात् रागद्वेष, मोह से वीतराग, पूर्णज्ञानी सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान् ही सच्चे देव होते है।

(६) तीर्थ—निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिव्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पंचेंद्रियों से नियंत्रित और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित अपने शुद्धात्म स्वरूप तीर्थ में दीक्षा तथा शिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करें। अर्थात् पच्चीस मलदोष रहित सम्यक्त्व और पांच महाव्रत इनसे जो तीर्थ अत्यन्त निर्मल है, पांचों इन्द्रियों के विषय रूपी मल-कीचड़ से जो रहित है और जो बाह्य पदार्थों की आकांक्षाओं रूपी फेन से भी रहित है ऐसा यह तीर्थ भव्य जीवों के कर्ममल को धोने में समर्थ है। महामुनि ही ऐसे तीर्थ में स्नान करते हैं आगे और भी कहते हैं कि—जो अतीचार रहित धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है वही जिन मार्ग में तीर्थ है। यदि वह शांत भाव से सहित हो तो, अर्थात् यदि ये धर्म सम्यक्त्व, संयम आदि भाव क्रोध कषाय से दूषित नहीं होते हैं तो ये ही सच्चे तीर्थ कहलाते हैं। तात्पर्य यही है कि ये धर्म, तप, संयम आदि तीर्थ हैं किन्तु ये बिना आधार के नहीं रहते है अतः इनके आधारभूत मुनि ही सच्चे तीर्थ हैं।

तथा व्यवहारनय की अपेक्षा इस निश्चयतीर्थ की प्राप्ति के लिये कारणभूत, मुक्त हुये महापुरुषों के चरणरज से स्पर्शित अष्टापद, सम्मेदगिरी, चंपापुर, ऊर्जयंत, पावापुरी, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सिद्धवरकूट, मुक्तागिरि, सोनागिरि, अयोध्या, वाराणसी आदि भी तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों से पवित्र जो भी स्थल हैं वे तीर्थ नाम से जिनागम में प्रसिद्ध हैं। सम्यग्दृष्टि भव्यपुरुष इन तीर्थों की वंदना बड़े भाव से करते है क्योंकि ये तीर्थ भी संसार समुद्र से पार करने वाले हैं।

(१०) अरहत—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप, स्वकीयगुण, स्वकीय-पर्याय, च्यवन, आगति और संपदा इन नौ बातों का आश्रय लेकर भव्य जीव अरहंत

भगवान् का चिंतवन करते हैं। अर्थात् अरहंत भगवान् के जो नाम हैं वे नाम जिन हैं, उनकी प्रतिमायें स्थापना जिन हैं, अरहंत भगवान् का जीव द्रव्य जिन हैं। और समवसरण में स्थित भगवान् भाव जिन हैं। जिनके अनंतदर्शन और अनंतज्ञान विद्यमान हैं, आठों कर्मों का बंध नष्ट हो जाने से जिन्हें भाव मोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणों को प्राप्त हैं ऐसे अरहंत होते हैं। जरा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गति गमन, पुण्य-पाप, अठारह दोष तथा घातिया कर्मों को नष्ट करके जो ज्ञान मय हुये है वे अरहंत हैं। इस प्रकार अरहंत को दोष रहित होने से निर्दोष, पूर्णज्ञानी होने से सर्वज्ञ आदि नामों से कहना 'नाम अरहंत' हैं।

गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पांच प्रकारों से अरहंत भगवान् की स्थापना करना चाहिये।

तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली जिनेंद्र अरहंत कहलाते हैं।उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते है। अर्थात् जन्म से ही तीर्थंकरों के शरीर में मलमूत्र, पसीना, खून आदि नहीं होता हैं किन्तु अतिशय सुगंधित, महामहिमावान, अतुलबलशाली, तीन लोक में भी सबसे अधिक सुन्दर ऐसा शरीर होता है। और तो और उनके माता पिता के शरीर में भी मल-मूत्र नहीं रहता है। यथा—'तीर्थंकर, उनके माता पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, देव और भोग भूमियाँ इनके आहार होता है परन्तु नीहार नहीं होता[1]'।

"ऐसे तीर्थंकरों के दाढ़ी, मूछ भी नहीं होती है किन्तु शिर पर घुंघराले केश होते हैं। यथा—'देव, नारकी, बलभद्र, चक्रवर्ती, अर्धचक्री, नारायण, प्रतिनारायण और कामदेव ये दाढ़ी-मूछ से रहित होते है[2]'।

इस प्रकार से तेरहवें गुणस्थान में घातिकर्म के अभाव से अरहंत होते हैं। उसी प्रकार गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व और आहारक इन चौदह मार्गणाओं को यथासम्भव अरहंत में लगाना चाहिये। जैसे नरक आदि चार गतियों में से अरहंत के मनुष्य गति है, एकेंद्रिय आदि में से अरहंत भगवान् पचेंद्रिय हैं इत्यादि तथा आहार शरीर, इंद्रिय श्वासोच्छवास भाषा, और मन ये छह

1. तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य। देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ॥
2 देवा वि य णेरइया हलहर चक्की य तहय तित्थयरा। सव्वे केसवरामा कामा णिक्कुचिया होंति ॥
(बोध प्राभृत गाथा ३२ की टीका में)

पर्याप्तियाँ हैं। अरहंत भगवान् इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा उत्तमदेव हैं। पांच इंद्रिय प्राण, तीन बल प्राण, श्वासोच्छवास और आयु, ये दशों प्राण अरहंत में होते हैं। जीवस्थान अर्थात् जीवसमास में पंचेंद्रिय संज्ञी जीवसमास अरहंत के होता है। चौदहवें गुणस्थान में भी अरहंत संज्ञा है। गुणस्थान से परे सिद्ध कहलाते हैं। इस तरह यहाँ तक गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवसमास इन पांच में अरिहंत को घटित किया है। इन्हें 'स्थापना अरहंत' समझो।

आगे द्रव्य की अपेक्षा अरिहंत को कहते हैं—

अरहंत भगवान् बुढ़ापा, व्याधि और दुःख से रहित हैं आहार और नीहार से रहित हैं, मल से रहित हैं, थूक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात, पित्त, कफ आदि दोषों से भी रहित हैं। अरहंत भगवान् के दश प्राण, छह पर्याप्तियाँ और एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। उनके सर्वांग में दूध और शंख के समान श्वेत मांस और रुधिर होता है। अरहंत भगवान् का औदारिक शरीर ऐसे गुणों से युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगंधि से परिपूर्ण होता है। द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा उपर्युक्त गुण विशिष्ट परमौदारिक शरीर ही अरहंत है। भाव निक्षेप की अपेक्षा अरहंत भगवान् को मद, राग, द्वेष, कषाय और नोकषायों से रहित अतिशय विशुद्ध, मनोव्यापार रहित और क्षायिक भावों से युक्त जानो। अर्थात् सर्वगुण सम्पन्न आत्मा ही भाव अरहंत हैं।

(११) प्रव्रज्या—दीक्षा के धारक मुनि को शून्य घर में, वृक्ष के नीचे, उद्यान में, श्मशान में, पर्वत की गुफा में, पर्वत के शिखर पर, भयंकर वन में अथवा वसतिका में निवास करना चाहिये। शून्य घर आदि स्थान स्वाधीन हैं। इनमें रहकर मुनि को सत्त्व, तीर्थ, जिनागम और जिनमंदिर का ध्यान करना चाहिये। साहस का नाम सत्त्व है। मुनिराज दृढ़ता से अपने चारित्र को निश्चल और निर्मल रखते हैं यह सत्त्वगुण की महिमा है। द्वादशांग श्रुत अथवा चंपा, पावा आदि पवित्र भूमि तीर्थ हैं। ये भी ध्यान करने के लिये योग्य है ऐसे कुन्दकुन्द देव के वचन हैं। परमागम शास्त्र वचन हैं ये भी ध्यान के योग्य हैं। कहा भी है—

"द्वादशांग जिसका शरीर है, सम्यग्दर्शन जिसका तिलक है, चारित्र जिसका वस्त्र है, और चौदह पूर्व जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रुतदेवी की स्थापना करना चाहिये[1]"।

---

1. बारह अंगगिज्जा दंसणतिलया चरित्तवच्छहरा। चउदस पुव्वाहरणा ठावेदव्वा य सुअदेवी॥
(बोधप्राभृतटीका पृ० १७२)

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों के घर में तथा मध्यलोक में समस्त इंद्रों से वंद्य जो अकृत्रिम जिनालय हैं वे भी वंदना और ध्यान के विषय हैं तथा चक्रवर्ती, राजा या सामान्य मनुष्यों द्वारा निर्मापित कृत्रिम जिनमंदिर भी सर्वदा पूज्य ही है। इन सबका ध्यान करना साधु का कर्तव्य है। ये तीर्थ, शास्त्र, जिनमंदिर और जिन प्रतिमा मुनि, श्रावक तथा अविरति को ध्यान के लिये अवलंबन स्वरूप हैं जो ऐसा नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

जो पांच महाव्रत से सहित हैं, पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं, प्रत्युपकार की वांछा से रहित हैं तथा स्वाध्याय और ध्यान में सतत तत्पर रहते हैं ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपर्युक्त सत्त्व तीर्थ आदि की अत्यन्त रूप से इच्छा करते है।

जो निवास स्थान और परिग्रह के मोह से रहित है बाईस परीषहों को जीतने वाली है, कषाय से रहित है तथा पाप के आरंभ से अथवा पाप पूर्ण खेती आदि के आरम्भ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है। धन धान्य तथा वस्त्र का दान, चांदी सोना आदि का सिक्का तथा शय्या आसन और छत्र आदि खोटी वस्तुओं के दान से रहित है। जो शत्रु-मित्र में सम है प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभ में तथा सुवर्ण और तृण में समभाव रखती है। जो ग्रन्थ, परिग्रह, मान, आशा, राग, दोष, ममता और अहंकार से रहित है ऐसी दीक्षा होती है। जो निःस्नेह, निर्लोभ, निर्मोह, निर्विकार, निष्कलुष, निर्भय और विवेकपूर्ण हैं। जो यथा जात रूप सदृश है, जिसमें भुजायें नीचे की ओर लम्बित है, जो शस्त्र से रहित है, शान्त है, पर के द्वारा बनाये गये आवासों में निवास करने वाली है ऐसी जिनदीक्षा होती है। जो उपशमभाव, क्षमा और दमभाव से युक्त है, शरीर के संस्कार से रहित है, मद, राग और दोष से रहित है। जिसमें मूढ़तायें नष्ट हो चुकी हैं, जो आठों कर्मों को नष्ट करने वाली है, जिसने मिथ्यात्व का समूल चूल नाश कर दिया है, जो सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध है जिन मार्ग में इन गुणों से विशिष्ट ही दीक्षा होती है।

अरहंत भगवान् के शासन में जिन दीक्षा छहों संहननों में कही गई है यह निग्रंथ दीक्षा कर्मक्षय का कारण है ऐसा भव्य पुरुष चिन्तन करते हैं। जिसमें तिलतुष मात्र भी बाह्य परि-ग्रह नहीं है वही निग्रंथ मुद्रा है ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। यह जिनदीक्षा उपसर्ग और परीषहों को सहन करने वाली है, इसके धारक मुनि निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वत्र शिला, काष्ठ-फलक या भूमितल पर बैठते या शयन करते हैं। जो पशुओं, महिलाओं,

नपुंसकों और कुशीलपुरुषों का संसर्ग नहीं करती है, विकथाएँ नहीं करती है तथा स्वाध्याय और ध्यान में युक्त रहती है, तप और गुणों से शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व गुणों से विशुद्ध है, गुणों से शुद्ध है वही दीक्षा शुद्ध है। इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि की प्रव्रज्या आत्म गुणों की भावना से परिपूर्ण होती है। यह निर्ग्रंथ दीक्षा का कथन यहाँ पर अति संक्षेप से भगवान् श्रीकुन्दकुन्द के द्वारा कहा गया है।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

जिन शासन में तीर्थंकर परमदेव अथवा गौतम पर्यन्त गणधरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट भव्य जीवों को संबोधने के लिये छहकाय के जीवों का हित करने वाला यह निर्ग्रंथ मुद्राधारी मुनि का आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धि के प्रयोजन से कहा है। बोध पाहुड़ की ४२ गाथा से लेकर ६० गाथा तक के आधार से यह प्रव्रज्या का वर्णन है। प्रव्रज्या का अर्थ पारिव्राज्य है : उसके सत्ताईस[1] सूत्र श्रीजिनसेनाचार्य ने कहे हैं। जो इस प्रकार हैं—

जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुन्दरता, प्रभा, मंडल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, बंदनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद हैं।

१ जाति—जो सज्जातीय मनुष्य अपनी जाति आदि का अहंकार न करके पांच परमेष्ठी के ही जाति आदि गुणों का आदर करके उनके चरणों की सेवा करता है वह अगले जन्म में दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है। इन्द्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के 'विजयाश्रिता' अरहन्त देव के 'परमा' और सिद्ध जीवों के आत्मा से उत्पन्न हुई 'स्वा' जाति होती है।

२. मूर्ति—जो मुनि अपने शरीर को कृश करते हुये षट्काय के जीवों का रक्षण करते है वे अगले भव में दिव्या, विजयाश्रिता व परमा मूर्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

३. लक्षण—अनेक लक्षणधारी भी मुनि जिनेन्द्रदेव के लक्षणों का चिंतवन करते हुये भवांतर में सर्वोत्तम लक्षणों को प्राप्त कर लेता है।

४. सुन्दरता—मुनि अपने सौंदर्य को मलिन करते हुये तपश्चरण के बल से अनुपम सौंदर्य प्राप्त कर लेते हैं।

---

1. आदिपुराण पर्व ३९।

५. प्रभा—जो अर्हंतदेव की प्रभा का ध्यान करते हैं वे दिव्य प्रभा को प्राप्त कर लेते हैं।

६. मंडल—जो मुनि तेजोमय जिनेंद्रदेव की आराधना करते हैं वे तेजो मंडल से उज्ज्वल हो जाते हैं।

७. चक्र—जो पहले के अस्त्र, शस्त्रादि से रहित होकर जिनेंद्रदेव की भक्ति करते हैं वे धर्म चक्र के अधिपति हो जाते है।

८. अभिषेक—जो मुनि स्नान, संस्कार आदि छोड़कर केवलीजिन का आश्रय लेते हैं वे मेरु के मस्तक पर अभिषेक को प्राप्त होते हैं।

९. नाथता—जो अपने स्वामीपने को छोड़कर परम स्वामी जिनेंद्र देव की उपासना करते हैं वे जगत के द्वारा सेवनीय त्रिभुवन के नाथ हो जाते हैं।

१०. सिहासन—जो मुनि घर के सुन्दर आसनों को छोड़कर काष्ट आदि आसनों पर बैठते हैं वे दिव्य सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

११. उपधान—जो मुनि तकिया आदि छोड़कर भुजा पर सिर रखकर शयन करते हैं वे महा अभ्युदय रूप देवों द्वारा कृत दिव्य उपधान को पा लेते हैं।

१२. छत्र—जो मुनि शीतल छत्री आदि का त्याग कर देते हैं वे तीन छत्र को प्राप्त कर लेते हैं।

१३. चामर—जो पंखे आदि की हवा न करके जीवों की दया पालते हैं वे मुनि देवों द्वारा चमरों से वीजित होते हैं।

१४. घोषणा—जो मुनि संगीत आदि का त्याग कर तपश्चरण करते हैं, उनका विजय देव दुंदभि द्वारा घोषित किया जाता है।

१५. अशोक वृक्ष—जो मुनि बगीचों के वृक्षों की छाया छोड़कर तप करते है वे अशोक वृक्ष प्रातिहार्य को प्राप्त कर लेते हैं।

१६ निधि—जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्मम हो जाते हैं उनके दरवाजे पर नवनिधियां पहरा देती हैं।

१७ गृहशोभा—जो निज घर को छोड़कर मुनि बनते हैं उनके लिये इन्द्र श्री मंडप का निर्माण करता है।

१८. अवगाहन—जो तपहेतु सघन वन में विचरते हैं उन्हें तीनों जगत् को अवकाश देने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है। अर्थात् समवसरण बन जाता है।

१९. क्षेत्रज्ञ—जो क्षेत्र मकान आदि का त्याग कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं उन्हें तीनों जगत् के क्षेत्र को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है।

२०. आज्ञा—जो आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करते है सर्व सुर-असुर उनकी आज्ञा शिर पर धारण करते है।

२१. सभा—जो अपने परिजन आदि को सभा—गोष्ठी का त्याग करते हैं उन्हें दिव्य समवसरण सभा में विराजने का गौरव प्राप्त होता है।

२२. कीर्ति—जो अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देते है तथा स्तुति-निंदा में समभावी होते हैं उनकी स्तुति सौ इंद्र मिलकर करते हैं।

२३. वदनीयता—जो अरहंत देव की वंदना करते हैं वे तीनों जगत् के जीवों से वंद्य हो जाते हैं।

२४. वाहन—जो पादत्राण और सवारी का त्याग करके दिगम्बर चर्या से पैदल चलते हैं उन्हें कमलों के मध्य चरण रखने योग्य अरहंत अवस्था प्राप्त होती है।

२५. भाषा—जो वचन गुप्ति को धारण कर या भाषा समिति का पालन कर तप करते हैं उन्हें समस्त-असंख्यात जीवों को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि का प्रातिहार्य प्राप्त होता है।

२६. आहार—जो मुनि नाना उपवास करके या नियमित आहार करके पारणा करते है उन्हें दिव्य तृप्ति, विजय तृप्ति, परम तृप्ति और अमृत तृप्ति ये चारों तृप्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

२७ सुख—जो मुनि इन्द्रिय जनित और काम जनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण करते हैं उन्हें परमानंदमय अनंत अव्याबाध सुख प्राप्त हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रव्रज्या रूपी चिंतामणि का फल सर्वोत्तम मोक्ष है और जिससे यह अर्हत देव की जाति, मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है मनुष्य पर्याय को पाकर ऐसी प्रव्रज्या नामक जिनदीक्षा को ग्रहण करके अपना जीवन सफल करना चाहिये और अनंत संसार के परिभ्रमण को जलांजलि दे देनी चाहिये और यदि आप जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकते हैं तो तब तक उन जिनमुद्राधारी मुनियों के चरणों में अपनी श्रद्धा और भक्ति रखते हुये उनकी वंदना, पूजा करनी चाहिये, उन्हें आहार दान आदि देकर उनकी यथोचित वैयावृत्य करनी चाहिये। यह आप और हम सबका परम कर्तव्य है जो कि स्वयं के लिये हितकर है।

इस प्रकार संक्षेप से बोधप्राभृत का सार यहाँ कहा गया है।

卐—卐

उपासक धर्म

आद्य जिन-श्री ऋषभदेव भगवान् तथा राजा श्रेयांस ये दोनों क्रम से व्रतविधि और दानविधि के आदि प्रवर्तक पुरुष है। अणुव्रत और महाव्रत आदि व्रतविधि का प्रचार इस युग के आदि में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने किया है और दानविधि का प्रचार भगवान् को आहार दान देकर राजा श्रेयांस ने किया है। इसलिये ये दोनों महापुरुष व्रत और दान के आदि प्रवर्तक माने गये है। इनका परस्पर संबंध होने पर ही यहां भरत क्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को 'धर्म' कहते है। यह धर्म ही मुक्ति का मार्ग है जो कि प्रमाण से सिद्ध है। जो जीव रत्नत्रयस्वरूप इस मोक्षमार्ग में संचार नहीं करते हैं उनके लिये मोक्षस्थान तो दूर है ही, उनका संसार अतिशय लंबा-बहुत बड़ा हो जाता है। अर्थात् रत्नत्रय से रहित जीव अनंत काल तक इस चतुर्गतिरूप संसार में ही परिभ्रमण किया करते हैं।

यह धर्म संपूर्णधर्म-परिपूर्ण और देशधर्म-एकदेश के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम भेद में दिगंबर मुनि रहते हैं और द्वितीय भेद में गृहस्थ-श्रावक रहते है। वर्तमान में भी उस रत्नत्रयस्वरूप धर्म की प्रवृत्ति उसी मार्ग से-पूर्णधर्म और देशधर्मरूप से हो रही है। इसीलिये देशधर्म के अनुयायी गृहस्थ भी धर्म के कारण माने जाते है। तात्पर्य यही है कि गृहस्थधर्म भी मोक्षमार्ग है—मोक्ष का कारण है। सर्वथा निरर्थक, व्यर्थ अथवा हेय नहीं है। अन्यथा भगवान् आदिनाथ, भगवान् शांतिनाथ, सम्राट् भरत, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र आदि महापुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश क्यों करते?

'इस समय यहां इस कलिकाल-पंचमकाल में मुनियों का निवास जिनालय में हो रहा है और उन्हीं के निमित्त से धर्म एवं दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियों की स्थिति, धर्म और दान इन तीनों के मूल कारण गृहस्थ श्रावक हैं[1]'।

आज इस पंचमकाल में मुनियों का संघ जिनमंदिर में ही प्रायः रहता है क्योंकि उत्तम संहनन का अभाव होने से वन में, पर्वतों पर या श्मशान आदि स्थानों में मुनिसंघ नहीं

1. सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः। धर्मश्च दानमित्येषा श्रावका मूलकारणम् ॥६॥

(पद्मनंदिपंचविंशतिका अ० ६)

रह पाता है। ये मुनिराज भव्यजीवों को मुनिधर्म और श्रावकधर्म का उपदेश देते हैं। मोक्ष के अभिलाषी अथवा सुख के इच्छुक भव्यों को महाव्रत और अणुव्रत आदि प्रदान करते हैं इसलिये धर्म की स्थिति और प्रवृत्ति इन मुनियों के द्वारा ही होती है तथा मुनियों को संघस्थ आर्यिका, क्षुल्लक क्षुल्लिकाओं को, व्रतियों को आहारदान देने का अवसर श्रावकों को, मिलता है। आहार, औषधि, ज्ञान और अभय ये चारदान की प्रवृत्ति भी मुनिसंघ के निमित्त से ही होती है। और मुनियों के निवासरूप चैत्यालय बनवाने वाले श्रावक हैं। यही कारण है कि गृहस्थ श्रावक मुनियों की स्थिति, धर्म और दान की प्रवृत्ति के मूल कारण माने गये हैं।

षट्कर्म—

जिनपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह कर्म गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करने योग्य हैं[1]। अर्थात् ये गृहस्थों के लिये छह आवश्यक क्रियायें हैं अतः अवश्य ही करने योग्य है। सब प्राणियों में समताभाव धारण करना, संयम के विषय में शुभ भावना रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानों का त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना जाता है। जिसका चित्त द्यूत-जुआ आदि व्यसनों के द्वारा मलिन हो रहा है उसके उपर्युक्त सामायिक की संभावना नहीं है। इसलिये श्रावक को इन सात व्यसनों का परित्याग अवश्य कर देना चाहिये।

सात व्यसन—

द्यूत-जुआ खेलना, मांस खाना, मद्य-मदिरा पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना, ये सातों ही व्यसन महापाप स्वरूप हैं। विवेकी मनुष्यों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। धर्माभिलाषी जन भी यदि इन व्यसनों का आश्रय लेता है तो इससे उसके वह धर्म के खोजने की योग्यता भी नहीं उत्पन्न होती है। नरक सात ही हैं, उन्होंने मानों अपनी समृद्धि के लिये मनुष्यों को आकर्षित करने वाले इन एक-एक व्यसन को नियुक्त किया है। सातों नरकों ने अपने-अपने स्थान में मनुष्यों को ले जाने के लिये ही मानों इन सात व्यसनों को नियुक्त कर रखा है। तात्पर्य यही है कि एक-एक व्यसन भी एक-एक नरक में ले जाने वाले हैं पुनः जो सातों व्यसनों में आसक्त रहते हैं उन्हें कितनी बार नरक जाना पड़ेगा कौन जाने ?

इन सात व्यसनों ने मानों धर्मरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिये पाप नाम से प्रसिद्ध निकृष्ट राजा के सात राज्यांगों से युक्त अपने राज्य को बलवान् किया है। पाप नाम का महानीच एक राजा है उसने राज्य के सात अंगों द्वारा अपने राज्य को बलशाली बना

1. देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः सयमस्तपः। दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥७॥
(पद्मनंदिपचविंशतिका अ० ६)

लिया है। राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सैन्य ये राज्य के सात अंग हैं। इनके निमित्त से कोई भी राजा अपने राज्य को बलशाली बनाकर शत्रुराजा को नष्ट कर देता है उसी प्रकार से पापरूपी राजा के ये सातों व्यसन ही सात अंग हैं उनसे बलवान् होकर यह धर्मरूपी राजा को अपना शत्रु समझ कर उसे नष्ट कर रहा है। तात्पर्य यही है कि ये सात व्यसन धर्म को नष्ट करके, पाप को बढ़ाकर मनुष्यों को नरकों में ले जाते हैं।

जिनभक्ति—

जो भव्यजीव भक्ति से जिन भगवान् का दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिनेंद्रदेव की भक्ति करने वाले भव्य मनुष्य स्वयं जिनेंद्र परमात्मा बन जाते है जगत् के प्राणियों के लिये वे स्वयं पूज्य-दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं। इससे अतिरिक्त जो मनुष्य भक्ति से जिनेद्रदेव का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है; तथा उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। श्रावकों को प्रातःकाल में उठ करके भक्ति से जिनेंद्रदेव तथा निर्ग्रंथ-दिगम्बर मुनि का दर्शन और उनकी वंदना करके धर्म श्रवण करना चाहिये। तत्पश्चात् अन्य कार्यों को करना चाहिये, क्योंकि विद्वान् पुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में धर्म को प्रथम बतलाया है। इसलिये सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये धर्मपुरुषार्थ का ही आश्रय लेना चाहिये।

गुरुभक्ति और स्वाध्याय—

गुरु की प्रसन्नता से वह केवलज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त हो जाता है कि जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखा जाता है। 'जो अज्ञानी जन न तो गुरु को मानते हैं और न उनकी उपासना ही करते हैं उनके लिये सूर्य का उदय होने पर भी अंधकार जैसा ही है[1]'। तात्पर्य यही है कि ज्ञान की प्राप्ति गुरु के प्रसाद से ही होती है। अतएव जो मनुष्य आदरपूर्वक गुरु की सेवा शुश्रूषा नहीं करते हैं वे अल्पज्ञानी ही रहते हैं। उनके अज्ञान को सूर्य का प्रकाश भी दूर नहीं कर सकता है। कारण कि वह सूर्य का प्रकाश तो केवल सीमित बाह्य पदार्थों के दिखाने में ही सहायक होता है न कि आत्मा को दिखाने में। आत्मावलोकन में तो केवल गुरु के द्वारा प्राप्त हुआ अध्यात्मज्ञान ही सहायक होता है। जो मनुष्य सच्चे गुरु के द्वारा प्ररूपित शास्त्र को नहीं पढ़ते है

1. ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते। अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१६॥
(पद्मनदिपंचीसी)

उन्हें बुद्धिमान लोग दोनों नेत्रों से युक्त होने पर भी अंधा ही समझते हैं। जिन्होंने गुरु के समीप में न शास्त्र को सुना है और न उसको हृदय में धारण ही किया है उनके प्रायः करके न तो कान हैं और न हृदय ही है, ऐसा मैं समझता हूँ। तात्पर्य यह है कि कानों का सदुपयोग तो शास्त्रों का सुनना ही है तथा मन का उपयोग भी यही है कि उससे शास्त्रों के अर्थ का चिन्तन किया जाये और उसके रहस्य को धारण किया जाये। किन्तु जो जीव कान और मन को पाकर भी यदि उन्हें शास्त्र श्रवण-मनन में नहीं लगाते हैं तो उनके वे कान और मन निष्फल ही हैं। क्योंकि ये ही कान और मन सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु के उपदेश श्रवण मनन से आत्मा को स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त कराने वाले हो जाते हैं। अन्यथा ये ही कान और मन खोटे कथा कहानियों के श्रवण-मनन से आत्मा को दुर्गति में डाल देते हैं। अतः अपने कान और मन को सदा गुरु के वचनों में लगाना चाहिये।

सयम—श्रावक यदि देशव्रत के अनुसार संयम का भी पालन करते हैं तो इससे उनका वह देशव्रत सफल हो जाता है। इंद्रियों का निग्रह करना और प्राणियों की दया पालना यह संयम इंद्रियसंयम और प्राणीसंयम की अपेक्षा दो प्रकार का है। श्रावक जब अणुव्रती बन जाता है तब वह इंद्रियों की अनर्गल प्रवृत्ति पर भी रोक लगा लेता है। अभक्ष्य भक्षण, अनुचित गीत श्रवण अशोभन अश्लील आदि दृश्य देखने का भी त्याग कर देता है। तथा त्रसजीवों की दया पालते हुये अकारण स्थावरजीवों की हिंसा भी नहीं करता है। तभी उसके अणुव्रत उत्तम फल देने वाले हो जाते हैं। क्योंकि देशव्रत के परिपालन की सफलता इसी में है कि तत्पश्चात् पूर्णसंयम को भी धारण किया जाये।

आठ मूलगुण—मद्य, मांस, मधु और पांच उदुंबर फलों (ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़, पीपल) का त्याग कर देना ही श्रावक के मूलगुण हैं। सम्यग्दर्शन के साथ इन आठों के त्यागरूप आठ मूलगुणों को धारण किये बिना कोई भी मनुष्य श्रावक नहीं हो सकता है। 'मूल' शब्द का अर्थ जड़ है। जिस वृक्ष की जड़ें गहरी और बलिष्ठ होती हैं उसकी स्थिति बहुत समय तक रहती है। किंतु जिसकी जड़ें अधिक गहरी और बलिष्ठ नहीं होती हैं वह वृक्ष बहुत काल तक नहीं टिक पाता है। आंधी आदि के द्वारा उखड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार से इन आठ मूलगुणों के बिना श्रावक के उत्तरगुणों (अणुव्रत आदि) की स्थिति भी दृढ़ नहीं रहती है। इसीलिये इन्हें मूलगुण संज्ञा दी है। इनके भी प्रारम्भ में सम्यग्दर्शन अवश्य होना चाहिये, क्योंकि इसके बिना भी व्रत आदि मोक्षरूप उत्तम फल को देने में समर्थ नहीं होते हैं।

इन मूलगुणों को अन्यत्र अन्य प्रकार से भी लिया है। यथा– १. "मद्य, २. मांस, ३. मधु, ४. रात्रिभोजन, ५. पांच उदुंबर फल, इनका त्याग तथा ६. पंचपरमेष्ठी को नमस्कार—देवदर्शन, ७. जीवदया-पालन, और ८. जलगालन—जल छानकर पीना, ये आठ मूलगुण हैं।[1]"

इन आठ मूलगुणों में देवदर्शन, जीवदया पालन, जल छानकर पीना और रात्रिभोजन का त्याग ये सभी आ जाने से ये श्रावक के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इन चारों से ही श्रावक अथवा जैन की पहचान होती है।

बारहव्रत—

गृहिव्रत में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारहव्रत होते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का स्थूल—एकदेश त्याग करना अणुव्रत है। अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाण अणुव्रत इस तरह से ये अणुव्रत पांच होते हैं। गुणव्रत के दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत ये तीन भेद हैं। ऐसे ही शिक्षाव्रत के देशावकाशिक, सामायिकप्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार भेद हैं।

तप—

अष्टमी और चतुर्दशी को पर्वसंज्ञा है। इन पर्व के दिनों में अपनी शक्ति के अनुसार भोजन के परित्याग आदिरूप अनशन आदि तपों को करना चाहिये। तथा रात्रिभोजन का त्याग करके वस्त्र से छना हुआ जल पीना चाहिये। 'श्रावकों का कर्तव्य है कि जिस देश आदि के निमित्त से सम्यग्दर्शन मलिन होता हो तथा व्रतों का नाश होता हो ऐसे उस देश का, उस मनुष्य का, उस द्रव्य का तथा उन क्रियाओं का भी परित्याग[2] कर देवे। विद्वानों को नियमानुसार सदा भोग और उपभोगरूप वस्तुओं का प्रमाण कर लेना चाहिये। अपना थोड़ा सा समय भी व्रतों से रहित नहीं बिताना चाहिये।

भव्य जीवों को आलस्य छोड़कर रत्नत्रय का आश्रय इस प्रकार से करना चाहिये कि जिस प्रकार से उनका इस रत्नत्रयविषयक श्रद्धान दूसरे जन्म में भी अतिशय वृद्धिगत

1. मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः। जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥
(सागारधर्मामृत)

2. त देशं तं नर तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्। मलिन दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥
(पद्मनन्दिपंचविंशतिका)

होता रहे। तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय में अपने संस्कार और विश्वास को इतना अधिक मजबूत बना लेना चाहिये कि अगले जन्म में भी रत्नत्रय की प्राप्ति हो और सम्यक्त्व तो छूटने ही न पावे ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिये। क्योंकि मरण के बाद व्रत तो छूट ही जाते हैं सम्यग्दर्शन और ज्ञान बना रह सकता है।

विनय की महिमा—

श्रावकों को जिनागम के आश्रित होकर अर्हंत आदि पांच परमेष्ठियों की विनय तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी विनय करना चाहिये। उसी प्रकार इन रत्नत्रय के धारण करने वाले मुनि, आर्यिका एवं श्रावक, श्राविकाओं की भी यथायोग्य विनय भक्ति करते रहना चाहिये। इस विनय के द्वारा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप आदि की सिद्धि होती है। अतएव यह विनय मोक्ष का द्वार है। अर्थात् विनय के बिना आज तक न कोई मोक्ष प्राप्त कर सका है और न कर सकेगा यही कारण है कि 'विनय' को मोक्ष का द्वार कहा गया है।

दान का महत्त्व—

गृहस्थ श्रावक को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रों के लिये दान देना चाहिये। क्योंकि, दान के बिना गृहस्थाश्रम निष्फल ही माना गया है। जो गृहस्थ दिगम्बर मुनियों के लिये चार प्रकार का दान नहीं देते हैं, उनको बंधन में रखने के लिये वे घर मानों जाल ही बनाये गये हैं। अभिप्राय यह है कि श्रावक घर में रहकर नित्य ही असि मषि आदि रूप षट् कर्मों के द्वारा धन संचय करते हुये उसके निमित्त से अनेक प्रकार के पाप कर्मों का भी संचय करता ही रहता है। उससे छुटकारा पाने का-उस पाप को क्षालन करने का उपाय केवल दान ही है। सो यदि गृहस्थ पात्रदान नहीं करता है तो फिर उस गृहस्थ के लिये वह घर बंधन का ही कारण है। वह उस गृहस्थाश्रम में रहकर आगे संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

जिस गृहस्थ के द्वारा अभय, आहार, औषध और शास्त्र का दान करने पर मुनियों को सुख उत्पन्न होता है वह गृहस्थ प्रशंसा का पात्र क्यों नहीं होगा ? अर्थात् वही गृहस्थ प्रशंसनीय है कि जिसने आहार आदि देकर मुनियों को सुखी किया है—रत्नत्रय के साधन में योग्य बनाया है। जो मनुष्य दान देने योग्य होकर भी मुनियों को भक्तिपूर्वक दान नहीं देता है वह मूर्ख परलोक में अपने सुख को स्वयं नष्ट करता है। दान से रहित गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है। उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव पर बैठने वाला मनुष्य संसार-

रूपी समुद्र में डूबता ही है, इसमें संदेह नहीं हैं। जो मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार साधर्मी जनों से प्रेम नहीं करते हैं वे धर्म से विमुख होकर अपनी आत्मा को बहुत पाप से आच्छादित कर लेते हैं। तात्पर्य यही है कि साधर्मी जनों को देखकर जिसके हृदय में निसर्गतः प्रेम-भाव उमड़ आता है वह वात्सल्य धर्म का प्रेमी है उसके सभी गुण वृद्धिगत होते रहते हैं। तथा जिनके हृदय में वात्सल्य भाव-धर्म प्रेम नहीं है, धर्मात्मा को देखकर उपेक्षा भाव अथवा अरुचिभाव करते हैं उनके हृदय में अवगुणों का वास हो जाता है। अतः वात्सल्यभाव से आत्मा को गुणी बनाना चाहिये।

जीवदया—

जिनेंद्रदेव के उपदेश से करुणारसरूपी अमृत से परिपूर्ण जिन मनुष्यों के हृदय में जीवदया नहीं है उनके पास धर्म कहाँ से रह सकता है? अर्थात् जीवदया के बिना धर्म का अंश भी नहीं है। 'जीवदया' यह धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, संपत्तियों का स्थान है और गुणों का भण्डार है इसलिये विवेकीजनों को इस जीवदया को अवश्य ही करना चाहिये। मनुष्य में सर्व ही गुण जीवदया के आश्रय से इस प्रकार रहते हैं कि जिस प्रकार पुष्पों की लड़ियाँ सूत के आश्रय से रहती हैं। मतलब जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ियां धागे के आश्रय से ही रहती हैं उसी प्रकार समस्त गुणों का समूह जीवों की दयारूपी अहिंसा धर्म के आश्रय से ही रहता है। यदि माला के मध्य का धागा टूट जाता है तो जिस प्रकार उसके सब फूल बिखर जाते हैं उसी प्रकार निर्दयी मनुष्य के सब गुण भी दया के अभाव में नष्ट हो जाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शन आदि गुणों के अभिलाषी मनुष्य को सभी प्राणी में करुणाभाव रखना चाहिये।

जिनेंद्रदेव ने मुनियों और श्रावकों के सभी व्रत एकमात्र अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिये ही बतलाये हैं। जीवों को केवल अन्य प्राणियों को कष्ट देने से ही पाप नहीं होता है प्रत्युत प्राणी की हिंसा आदि के विचारमात्र से भी आत्मा के दूषित हो जाने पर पाप का बंध हो जाता है। मतलब, दूसरे जीवों का घात हो या न हो किंतु उनके मारने के भाव भी यदि मन में आ गये तो भी पाप का बंध हो जाता है।

अनुप्रेक्षा—

महापुरुषों को निरंतर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करते रहना चाहिये। क्योंकि, यह अनुप्रेक्षाओं की भावना कर्म के क्षय के लिये कारण होती है। अध्रुव—अनित्य, अशरण,

संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म, श्री-जिनेंद्र भगवान् के द्वारा ये बारह अनुप्रेक्षायें कही गई हैं। इन्हें बारह भावना भी कहते हैं चूंकि इन्हें बार-बार भाते रहने से संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा धर्म में प्रेम बढ़ता है।

अध्रुव भावना—प्राणियों के शरीर आदि सब नश्वर हैं। इसलिये इनके नष्ट हो जाने पर भी शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि, यह शोक पाप बंध का कारण है। इस प्रकार से बार-बार विचार करने का नाम अध्रुव भावना है।

अशरण भावना—जिस प्रकार निर्जन वन में मृग के बच्चे को यदि सिंह पकड़ लेवे तो उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है, उसी प्रकार से आपत्ति या मरण के आने पर इस जीव की रक्षा करने वाला भी इस संसार में कोई नहीं है। इस प्रकार का विचार करना अशरण भावना है।

ससार भावना—संसार में जो सुख है वह सुख का आभासमात्र है—यथार्थ सुख नहीं है, परन्तु जो दुःख है वह वास्तविक है सदा काल रहने वाला है। सच्चा सुख तो मोक्ष में ही है। इसलिये हे भव्यजीवों ! उसे ही सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार से संसार के स्वरूप का चिंतवन करना संसार भावना है।

एकत्व भावना—कोई भी प्राणी वास्तव में न तो स्वजन है और न पर ही है। जीव ने जो पूर्व में कर्म बांधा है उसको ही वह केवल अकेला भोगने वाला है। इस प्रकार बार-बार विचार करना एकत्व भावना है।

अन्यत्व भावना—जब दूध और पानी के समान एकमेक होकर एक ही स्थान पर रहने वाले शरीर और जीव में भी भेद है तब प्रत्यक्ष में ही अपने से भिन्न दिखने वाले स्त्री, पुत्र आदि के विषय में भला क्या कहा जावे ? वे तो जीव से भिन्न हैं ही हैं। इस प्रकार विचार करना अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व भावना—क्षुद्र कीड़ों से, रस रुधिर आदि धातुओं से तथा मल से भरा हुआ यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि उसके ही संबंध से दूसरी पुष्पमाला आदि वस्तुयें भी अपवित्र हो जाती हैं। इस प्रकार से शरीर के स्वरूप का विचार करना अशुचि भावना है।

आस्रव भावना—संसाररूपी समुद्र में मिथ्यात्वरूपी छिद्रों से संयुक्त जीवरूपी नाव भ्रम के कारण बहुत काल से आत्मविनाश के लिये कर्मरूपी जल को ग्रहण करती है। जिस प्रकार छेदसहित नाव घूमकर छेदों के द्वारा जल को ग्रहण करके अंत में समुद्र में डूबकर अपने को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार यह जीव भी संसार में परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्व आदि के द्वारा कर्मों का आस्रव करके इसी दुःखमय संसार में घूमता रहता है। अतः दुःख का कारण कर्मों का आस्रव ही है ऐसा समझकर उसे छोड़ना चाहिये। ऐसा विचार बार-बार करना आस्रव भावना है।

संवरभावना—कर्मों के आस्रव को रोकना ही संवर है। इस संवर का साक्षात् अनुष्ठान मन वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति को रोक देना ही है। अर्थात् जिन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि परिणामों के द्वारा कर्म आते हैं उन्हें आस्रव और उनके रोकने को संवर कहा जाता है। आस्रव जहाँ संसार का कारण है वहाँ संवर मोक्ष का कारण है। इसीलिये आस्रव हेय और संवर उपादेय है। इस प्रकार संवर के स्वरूप का विचार करना संवर भावना है।

निर्जरा भावना—पूर्वसंचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट करना निर्जरा है। वह वैराग्य के आलंबन से किये गये बहुत से तपों के द्वारा होती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का विचार करना, निर्जरा भावना है।

लोक भावना—यह लोक सर्वत्र विनाशशील, अनित्य और दुःखदायी है। इसीलिये विवेकी जनों को अपनी बुद्धि मोक्ष के विषय में लगानी चाहिये। अथवा यह लोक चौदह राजु ऊँचा है, अनादिनिधन है, इसका कोई कर्ता धर्ता नहीं है, इसके ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक की अपेक्षा तीन भेद है। तीनों लोकों का विचार करना कहाँ स्वर्ग है? कहां नरक है? कहाँ-कहाँ तक मनुष्य हैं? और कहाँ-कहाँ पर तिर्यंच हैं? जंबूद्वीप, धातकीखण्ड आदि द्वीप समुद्रों का विचार करना तथा यह जीव इस लोक में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। आज तक भी सुखी नहीं हुआ है। सुख केवल मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेने में ही है। इत्यादि विचार करना लोक भावना है।

बोधिदुर्लभभावना—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति का नाम बोधि है। वह बहुत ही दुर्लभ है। यदि वह किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके विषय में महान्

प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार इस बोधि की दुर्लभता का बार-बार विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मभावना—संसारी प्राणियों के लिये यह जैनधर्म अत्यंत दुर्लभ माना गया है। इस धर्म को इस तरह ग्रहण करना चाहिये कि जिससे वह साक्षात् मोक्ष के प्राप्त होने तक साथ में ही जावे। विद्वान् पुरुष दुःखरूपी हिंसक जलजंतुओं से भरे हुये इस संसाररूपी खारे समुद्र से पार होने के लिये धर्मरूपी नाव को ही उत्कृष्ट बतलाते हैं। इस प्रकार से धर्म के स्वरूप का विचार करना, धर्म भावना है।

सज्जनों के द्वारा सदा हृदय में धारण की गईं ये बारह अनुप्रेक्षायें उस उत्कृष्ट पुण्य को करती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

जिस धर्म में उत्तम क्षमा सबसे पहले है तथा जो दश भेदों से संयुक्त है श्रावकों को अपनी शक्ति और आगम के अनुसार उस धर्म का सेवन करना चाहिये।

अभ्यंतर तत्त्व कर्मकलंक से रहित विशुद्ध आत्मा है तथा बाह्य तत्त्व प्राणियों के विषय में दयाभाव है। इन दोनों के मिलने पर मोक्ष होता है। इसलिये इन दोनों का आश्रय लेना चाहिये। जो चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मों तथा उनके कार्यभूत रागादि विभावों से भिन्न है और शरीर आदि से भी भिन्न है उस आत्मा का सदा विचार करना चाहिये, क्योंकि वह आत्मा ही शाश्वतिक आनंदस्वरूप जो मोक्षपद है उसे प्रदान कराने वाली है। अर्थात् इस आत्म तत्त्व के चिंतन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार इस 'उपासक संस्कार' नाम के श्रावकाचार को श्रीपद्मनंदि मुनि[1] ने कहा है। जो मनुष्य इसका आचरण करते हैं उनको अत्यंत निर्मल धर्म होता है। क्योंकि श्रावक धर्म भी धर्म है मुक्ति का मार्ग है।

श्रावक मुनियों की उपासना करते हैं इसलिये उन्हें 'उपासक' कहा गया है। अतएव उन श्रावक के धर्म को यहाँ 'उपासक संस्कार' या 'उपासक धर्म' कहा है।

卐—卐

1. पद्मनंदिपंचविंशतिका, अध्याय ६।

दान

जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः । श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः ॥
याभ्यां बभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे, सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥१॥

जिनके द्वारा उत्तम रीति से चलने वाले श्रेष्ठ धर्म रूपी रथ के चाक के समान व्रत और दानरूप दो तीर्थ यहाँ आविर्भूत हुये है वे नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव तथा कुरुवंश गृह के दीपक के समान राजा श्रेयांसकुमार भी जयवंत होवें ।

इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है । अवसर्पिणी काल के छह भेदों में से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय कालों में यहाँ पर भोगभूमि की अवस्था रही है । उस समय आर्य कहे जाने वाले उन भोगभूमिया पुरुषों और स्त्रियों में न तो विवाह आदि संस्कार ही थे न व्रत संयम आदि । वे दश प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुई सामग्री के द्वारा इच्छानुसार भोग भोगते हुये अपना काल यापन करते थे । कालक्रम से जब तृतीय काल में पल्य का आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रहा तब उन कल्पवृक्षों की दान-शक्ति क्रमशः घटने लगी । इससे जो समय-समय पर उन आर्यों को कष्ट का अनुभव हुआ उसे यथा क्रम से जन्म लेने वाले प्रतिश्रुति आदि चौदह कुलकरों ने दूर किया था । उनमें अन्तिम कुलकर नाभिराज थे । प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ इन्हीं के पुत्र थे । तब तक जो व्रत ग्रहण करने का प्रचार नहीं था उसे भगवान् आदिनाथ ने स्वयं पांच महाव्रतों को ग्रहण करके प्रचलित किया था । इसी प्रकार तब तक किसी को भी मुनियों को आहारदान देने का परिज्ञान नहीं था । इसी कारण मुनि बनने के बाद छह मास के उपवास को पूर्ण करके भगवान् आदिजिनेंद्र को आहार के निमित्त और भी छह मास घूमना पड़ा । अन्त में हस्तिनापुर में पधारे भगवान् को देखकर राजा श्रेयांस को जातिस्मरण के द्वारा आहार-दान की विधि का परिज्ञान हुआ । तदनुसार तब उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान् आदिनाथ को इक्षुरस का आहार दिया । बस तभी से यहाँ पर आहारदान की विधि का प्रचार प्रारंभ हो गया । इस प्रकार भगवान् आदिनाथ ने व्रतों का प्रचार करके तथा राजा श्रेयांस ने दानविधि का प्रचार करके जगत् का कल्याण किया है । इसीलिये ग्रन्थकार श्रीपद्मनन्दि

महामुनि ने यहाँ व्रततीर्थ के प्रवर्तकस्वरूप से भगवान् आदिजिनेंद्र का तथा दानतीर्थ के प्रवर्तकस्वरूप से राजा श्रेयांस का भी स्मरण किया है।

जिस श्रेयांस राजा के घर पर तीनों लोकों से वंदित चरणों वाले भगवान् ऋषभ जिनेंद्र ने आहार ग्रहण किया, इसीलिये जिनका शरत्कालीन मेघों के समान धवल यश तीनों लोकों में फैला उस श्रेयांस राजा का क्या वर्णन किया जाय ? और कितना वर्णन किया जाय ? उन्हीं राजा श्रेयांस के घर पर इन्द्रादि वंद्य प्रथम तीर्थंकर मुनिपुंगव के आहार करने पर उस समय लोक को अभूतपूर्व आश्चर्य में डालने वाली आकाश से वह रत्नवृष्टि हुई कि जिससे यह पृथिवी वसुमती–धनवाली इस सार्थक संज्ञा को प्राप्त हुई थी, वह राजा श्रेयांस सदा जयशील होवें।

यह आगम में प्रसिद्ध है कि जिसके यहाँ किसी तीर्थंकर देव की प्रथम पारणा होती है उसके यहाँ देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि की जाती है। १. रत्नवर्षा, २. दुंदुभी वादन, ३. जय जय शब्द का प्रसार, ४. सुगंधित वायु का संचार और ५. पुष्पों की वर्षा[1]। तदनुसार भगवान् आदिनाथ ने जब राजा श्रेयांस के घर पर प्रथम पारणा की थी तब उनके घर पर रत्नों की वर्षा हुई थी।

यह मनुष्य पर्याय अतिशय दुर्लभ है, उसके प्राप्त हो जाने पर भी जीवन, यौवन, धन आदि स्वप्न और इन्द्र जाल के सदृश विनश्वर हैं। फिर भी जो प्राणी लोभ रूपी अंधकार से व्याप्त ऐसे कुंये में पड़े हैं उनके उद्धार के लिये दयालुबुद्धि से यहाँ कुछ दान का वर्णन किया जाता है। जो गृहस्थ जीवन स्त्री, पुत्र एवं धन आदि पदार्थों के समूह से उत्पन्न हुये अत्यन्त भयानक व विस्तृत मोह के विशाल समुद्र के समान है उस गृहस्थ जीवन में उत्तम सात्विक भाव से दिया गया उत्कृष्ट दान समस्त गुणों में श्रेष्ठ होने से नौका का काम करता है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवन में प्रत्येक मनुष्य को स्त्री, पुत्र, परिजन, धन आदि से सदा मोह बना रहता है जिससे यह अपने कर्तव्य को भूलकर सतत् अनेक प्रकार के आरंभों में लगा रहता है। मोह और आरंभ से निरंतर पाप का संचय होता रहता है। इस पाप को क्षालन करने का यदि कोई उपाय है तो वह दान ही है ऐसा महर्षियों का कहना है। इसीलिये यह दान संसाररूपी महासमुद्र को पार करने के लिये जहाज के समान है।

1. तिलोयपण्णत्ति, गाथा ६७१ से ६७४।

इस विषम संसार में अनेक कुटुम्बी जनों के आश्रित परिग्रह से परिपूर्ण ऐसी गृहस्थ अवस्था के शुभ प्रवर्तन का उत्कृष्ट कारण एक मात्र सत्पात्रदान की विधि ही है, जैसे कि समुद्र से पार होने के लिये चतुर खेवटिया से संचालित नाव कारण है। जो दान देने के लिये योग्य हैं उसे पात्र कहते हैं। पात्र के उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन भेद हैं। इनमें से मुनि उत्तम पात्र हैं, देशव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। इनके अतिरिक्त जो मनुष्य सम्यग्दर्शन रहित होकर भी व्रतों का परिपालन करते हैं वे कुपात्र कहलाते हैं। जो मनुष्य न तो सम्यग्दृष्टि हैं और न व्रतों का ही पालन करते हैं वह अपात्र कहे जाते हैं।

यदि उपर्युक्त उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को मिथ्यादृष्टि मनुष्य आहार दान आदि देते हैं तो वे यथाक्रम से उत्तम, मध्यम एवं जघन्य भोग भूमि के सुख भोगकर तत्पश्चात् यथा-संभव देवपर्याय को प्राप्त कर लेते हैं। और यदि सम्यग्दृष्टि जीव इन सत्पात्रों को दान देते हैं तो वे नियम से उत्तम देवों में ही उत्पन्न होते हैं। कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य के एकमात्र देवायु का ही बंध होता है। जो मनुष्य कुपात्र में दान देते हैं वे कुभोग-भूमियों (अंतरद्वीपों) में कुमानुष हो जाते हैं। तथा जो मनुष्य अपात्र को दान देते हैं वह दान ऊसर भूमि में बोये गये बीज के समान व्यर्थ हो जाता है। इसके सिवाय जो अंधे, लंगड़े, लूले, बहरे, दीन, अनाथ आदि दुःखी प्राणियों को करुणा बुद्धि से भोजन दान देते हैं, वस्त्र आदि देते हैं। उन्हें भी पुण्य का बंध होता है क्योंकि यह दयादान भी यथायोग्य उत्तम फल को देने वाला कहा गया है।

धन का सदुपयोग—

करोड़ों परिश्रमों से संचित किया हुआ जो धन है वह मनुष्यों को अपने पुत्रों और प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होता है उसका सदुपयोग तो केवल दान में ही होता है। विरुद्ध दुर्व्यसनादि में उसका उपयोग करने से मनुष्य को अनेक कष्ट ही भोगने पड़ते हैं, ऐसा साधुओं का कथन है। इस लोक में गृहस्थों की जो संपत्ति प्रतिदिन खाने पीने आदि में खर्च होती है वह नष्ट हुई ही समझो चूंकि वह यहां फिर से कभी वापस नहीं आती है। किंतु उत्तम पात्रों के लिये दिये गये दान में जो संपत्ति व्यय होती है वह संपत्ति नियम से फिर से प्राप्त हो जाती है। अर्थात् असंख्य गुणा होकर फलती है जैसे कि उत्तम भूमि में बोया हुआ बड़ का बीज करोड़ गुणा फल देता है।

जिस श्रावक ने यहाँ मोक्षाभिलाषी मुनि को भक्तिपूर्वक आहार दिया है उसने केवल उन मुनि को ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त नहीं किया है, बल्कि अपने आप को भी उसने मोक्षमार्ग में लगा दिया है। सो ठीक ही है—मंदिर को बनाने वाला कारीगर भी निश्चय से उस मंदिर के साथ ही ऊंचे स्थान को चला जाता है। अर्थात् जिस प्रकार मंदिर को बनाने वाला कारीगर जैसे-जैसे मंदिर ऊंचा बनाता जाता है वैसे-वैसे वह भी पैंड़ बांधकर ऊंचे स्थान पर चढ़ता चला जाता है। ठीक उसी प्रकार से मुनि को भक्तिपूर्वक आहार देने वाला मनुष्य भी उन मुनि को मोक्षमार्ग में बढ़ाता हुआ स्वयं आप भी उनके ही साथ मोक्षमार्ग में बढ़ता चला जाता है।

भक्ति रस में अनुरंजित बुद्धिवाला जो गृहस्थ श्रेष्ठ मुनि को शाक का भी आहार देता है वह अनन्त फल का भोगने वाला होता है। सो ठीक ही है। उत्तम खेत में बोया गया बीज क्या किसान को बहुत फल नहीं देता है ? अवश्य देता है। मन वचन काय की शुद्धि करके विशुद्ध हुआ जो मनुष्य साक्षात् पात्र-मुनि आर्यिका आदि को केवल आहार ही देता है उसको भी संसार से पार उतारने वाला ऐसा पुण्य प्राप्त हो जाता है कि जिस पुण्य की इन्द्र भी अभिलाषा करते हैं। अभिप्राय यही है कि आहारदान का पुण्य इतना महान है जिसे इन्द्र भी चाहते हैं। लोक में मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है वह रत्नत्रय मुनिगण शरीर की शक्ति से ही धारण करते हैं, वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है, और वह भोजन अतिशय भक्ति से सहित गृहस्थ के द्वारा ही दिया जाता है। इसी कारण वास्तव में उस मोक्षमार्ग को गृहस्थजनों ने ही धारण किया है।

लोक में अत्यंत विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक उत्तम पात्र को एक बार भी दिया गया दान जितने महान् उन्नत फल को देता है, उतने फल को गृह की अनेक झंझटों से उत्पन्न हुये पापसमूहों से शक्तिहीन किये गये गृहस्थ के व्रत नहीं फलते हैं। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ अपने घर के अनेक आरंभ,व्यापार धंधे आदि से जो पाप कर्म संचित करता रहता है उससे उस द्वारा किये गये व्रत, जप, तप आदि उतना फल नहीं दे पाते हैं कि जितना फल उसे मुनि को एक बार भी दिये गये आहारदान से मिल जाता है। ये श्रीपद्मनंदि आचार्य के वाक्य हैं[1]। सम्यग्दृष्टि पुरुष की लक्ष्मी मूल में अल्प होकर भी

---

1. नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः, खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
   उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि, प्रीत्याति शुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥१३॥ (पद्मनंदिपंचविंशतिका)

तत्पश्चात् मुनिराज को दिये गये दान से उत्पन्न हुये पुण्य के प्रभाव से कीर्ति के साथ निरंतर दिन पर दिन वृद्धि को प्राप्त होती हुई मोक्ष पर्यंत साथ जाती है । जैसे नदी मूल में कृश होकर भी अतिशय दीप्त फेन के साथ उत्तरोत्तर वृद्धिगत होकर समुद्र पर्यंत जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नदी के उद्गम स्थान में उसका विस्तार बहुत ही थोड़ा रहता है फिर भी वह समुद्र पर्यंत पहुँचने तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । इसके साथ-साथ नदी का फेन भी उसी क्रम से बढ़ता जाता है। उदाहरण के लिये गंगा नदी हिमवान् पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्वद्वार से निकलते समय मात्र ६$\frac{१}{४}$ योजन विस्तार वाली है आगे बढ़ते-बढ़ते समुद्र के प्रवेशस्थान पर ६२$\frac{१}{२}$ योजन प्रमाण विस्तृत हो जाती है। उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि पुरुष की धन संपत्ति भी यद्यपि मूल में बहुत थोड़ी रहती है तो भी वह आगे उसके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये पात्रदान के पुण्य के प्रभाव से दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है। उसके साथ ही उस दाता की कीर्ति भी बढ़ती चली जाती है।

जगत् में जिस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप के ज्ञान से शुद्ध आत्मा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है वह आत्मज्ञान घर में रहने वाले गृहस्थ के प्रायः कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। किंतु वह पुरुषार्थ की सिद्धि पात्र जनों में किये गये चार प्रकार के दान से अनायास ही हस्तगत हो जाती है। जो मनुष्य मोक्षमार्ग में चलने वाले मुनियों को केवल नाम मात्र भी स्मरण करता है उसके समस्त पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। पुनः जो मनुष्य मुनि को आहार, औषधि और मठ—उपाश्रय अर्थात् वसतिका आदि प्रदान कर उपकार करते है। वे यदि संसार से पार हो जाते है तो भला इसमें आश्चर्य ही क्या है ? मतलब स्पष्ट है कि मुनि का नाम मात्र लेने से भी तमाम पाप नष्ट हो जाते है तो उन्हें आहार, औषधि, शास्त्र और वसतिका दान देने से संसार से छुटकारा मिलता ही मिलता है जो मुनिजन साक्षात् अपने पादोदक से गृहगत पृथिवी के अग्रभाग को सदा पवित्र किया करते है ऐसे मुनिजन जिन गृहों के भीतर साक्षात् संचार नहीं करते है वे गृह क्या हैं ? अर्थात् ऐसे गृहों का कुछ भी महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार स्मरण के वश से अपने चरणजल के द्वारा श्रावकों के शिर के प्रदेशों को पवित्र करने वाले वे मुनिगण जिन श्रावकों के मन में संचार नहीं करते हैं वे श्रावक भी क्या हैं ? अर्थात् उनका भी जीवन सफल नहीं है[1]।

1. नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्य साधोराशु क्षय व्रजति तदुरितं समस्तम् ।
यो भक्तभेषजमठादिकृतोपकार , संसारमुत्तरति सोऽत्र नरो न चित्रम् ।।१६।।
कि ते गृहा किमिह ते गृहिणो नु येषामन्तर्मनस्मु मुनयो न हि सचरन्ति ।
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन, नित्य पवित्रितधराग्रशिर प्रदेशा. ।।१७।। (पद्मनदिपचविंशतिका)

अभिप्राय यह है कि—जिन घरों में मुनियों का आहार आदि के निमित्त आवागमन होता रहता है वे ही घर सफल हैं। क्योंकि उनके चरण प्रक्षालन का गंधोदक घर में पड़ता है अर्थात् वे मुनिगण अपने कमंडलु के जल से अपने पैर धोते हैं उस चरणप्रक्षालित जल से घर भी पवित्र हो जाते हैं और जिन घरों में मुनियों का आवागमन नहीं है वे घर पवित्र नहीं होते हैं। ऐसे ही जब मुनियों को पड़गाहन कर श्रावक उनकी नवधाभक्ति करते हैं तब मुनियों के चरणप्रक्षालन कर उस गंधोदक को अपने-अपने मस्तक पर लगाते हैं उन श्रावक श्राविकाओं का मस्तक तो पवित्र हो ही जाता है। साथ ही उनका जीवन भी सफल हो जाता है। ऐसा समझना चाहिये। यहाँ मुनियों के चरणप्रक्षालित गंधोदक का महत्त्व दिखलाया गया है।

दान की महिमा—

जिसके क्रोधादि विकार भाव विद्यमान हैं वह क्या देव हो सकता है ? जिस धर्म में प्राणियों की दया प्रधान नहीं है वह क्या धर्म कहा जा सकता है ? जिसमें सम्यग्ज्ञान नहीं है क्या वह तप और गुरु हो सकता है ? तथा जिस संपत्ति में से पात्रों के लिये दान नहीं दिया जाता है वह संपत्ति क्या सफल हो सकती है ? अर्थात् नहीं।

अभिप्राय यह है कि जिसमें राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि मौजूद है वह देव नहीं माना जा सकता है। जिस धर्म में दयाधर्म प्रमुख नहीं है वह धर्म भी सच्चा धर्म नहीं है। जो तपश्चर्या सम्यग्ज्ञान सहित होकर की जाती है वही कर्मनिर्जरा को कराने वाली है और जो गुरु सम्यग्ज्ञान से सहित हैं वे ही निर्गंथ दिगंबर साधु गुरु हैं। उसी प्रकार जिस संपत्ति के कुछ भाग को मुनियों के आहार दान आदि में लगाया जाता है वही संपत्ति सफल है।

यदि मनुष्य के पास तीनों लोकों को वशीभूत करने के लिये अद्वितीय वशीकरण मंत्र के समान दान है। और व्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन से गुण हैं जो उसके वश में न हो सकें, वह कौन सा सुख है जो उसको प्राप्त न हो सके, तथा वह कौन सी विभूति है जो उसके अधीन न हो जाय ? तात्पर्य यही है कि 'दान' यह तीनों लोकों को अपने वश में करने के लिये उत्तम वशीकरण मंत्र है। जिसको दान दिया जाता है वह प्रसन्न हो जाता है और भव-भव में उसके उपकार को मानता रहता है। मुनिजनों को आहार देने से तो पुण्य के साथ-साथ विशेष कीर्ति फैलती है। सज्जन पुरुष उसे आदर

देते हैं। दान देने से शत्रुता भी खतम हो जाती है। वैसे ही व्रत आदि शुभ कार्य भी धर्म हैं उनसे भी लोग अपने अधीन बन जाते हैं। इसीलिये आचार्यदेव का कहना है कि दान और व्रत करने वाले सज्जन पुरुषों को इतना लाभ होता है कि सभी लोग उसके वश में हो जाते हैं, सभी प्रकार के सुख उसको मिलते हैं और सभी प्रकार की विभूतियां भी उसे प्राप्त हो जाती हैं। अब आचार्य देव तुलना करते हुये बतलाते हैं—

एक मनुष्य के पास उत्तम पात्र को दिये गये आहारदान से उत्तम हुआ पुण्य समुदाय विद्यमान है, तथा दूसरे मनुष्य के पास राज्यलक्ष्मी विद्यमान है। फिर भी प्रथम मनुष्य की अपेक्षा द्वितीय मनुष्य दरिद्र ही है, क्योंकि उसके पास आगामी काल में फल देने वाला कुछ भी शेष नहीं है। अभिप्राय यही है कि सुख का कारण एकमात्र पुण्य ही है अतः जिसने दान दिया है उसने इतना अधिक पुण्य संचय कर लिया है कि वह आगामी काल में नवनिधि आदि तमाम धनसंपत्ति का स्वामी होगा। तथा जिस व्यक्ति के पास राज्यलक्ष्मी तो है वह वर्तमान में धनी है किंतु आगे वह निर्धन ही रहेगा।

जिसके धन दान देने के लिये नहीं है, शरीर व्रत के लिये नहीं है, और शास्त्राभ्यास कषायों की उपशांति के लिये नहीं है। उसका जन्म केवल संसार के दुःखों के लिये मूलभूत ऐसे जन्म मरण के लिये ही है। तात्पर्य यही है कि धन पाकर दान देना चाहिये, मनुष्य का शरीर पाकर व्रत करना चाहिये, और शास्त्रों को पढ़कर कषायों को मंद करनी चाहिये। यदि धन से दान नहीं दिया, शरीर से व्रत नहीं किया और शास्त्र पढ़कर भी क्रोध, मान, माया लोभ को बढ़ाते रहे तो समझ लीजिये उस व्यक्ति ने अपने संसार के दुःखों को ही बढ़ावा दिया है।

मनुष्य जन्म को प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति को तप करना चाहिये। क्योंकि यह तप संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिये अपूर्व पुल के समान है। जो मनुष्य देव, गुरु एवं मुनि की पूजा करता है, दान देता है तो उसका वैभव पाना सफल है क्योंकि यदि वैभव पाकर भी दान, पूजन नहीं किया तो वह वैभव मात्र कर्म बंध का ही कारण है। पाप को उत्पन्न करने वाले समस्त कार्यों से रहित ऐसी चित्तवृत्ति का आश्रय करने वाली भिक्षा कहीं श्रेष्ठ है किंतु सत्पात्र दान से रहित होकर विपुल एवं तीव्र दुःखों से परिपूर्ण दुर्लंघ्य नरक आदि गतिरूप दुर्गति को करने वाली विभूति श्रेष्ठ नहीं है।

जिस गृहस्थ अवस्था में जिनेंद्रभगवान् के चरणकमलों की पूजा नहीं की जाती है तथा भक्तिपूर्वक संयमी मुनियों को दान नहीं दिया जाता है उस गृहस्थ अवस्था के लिये अगाध जल में प्रविष्ट होकर क्या शीघ्र ही जलांजलि नहीं दे देना चाहिये ? अर्थात् अवश्य दे देना चाहिये । यहाँ पर आचार्यश्रीपद्मनंदि देव ऐसा कह रहे हैं कि जो गृहस्थ भगवान् के चरण कमलों की पूजा नहीं करता है और संयमी साधुओं को दान नहीं देता है उसे गहरे जल में डुबो देना चाहिये[1] । इसका अभिप्राय यही है कि दान और पूजा क्रिया से रहित गृहस्थ स्वयं ही गृहस्थाश्रम के पाप के भार से अगाध संसार समुद्र में डूब जाता है । इसलिये श्रावक का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन दान-पूजा अवश्य करे इसी से गृहस्थाश्रम सफल है । संसाररूप समुद्र में परिभ्रमण करते हुये यदि चिरकाल में बड़े दुःख से मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई है तो उसे पाकर उत्कृष्ट तप करना चाहिये अर्थात् मुनि दीक्षा ले लेना चाहिये । और यदि कदाचित् वह तप नहीं किया जा सकता है तो अणुव्रती ही हो जाना चाहिये । जिससे कि प्रतिदिन पात्रदान हो सके । इससे यही अभिप्राय निकलता है कि अणुव्रत लिये बगैर श्रावक नहीं कहला सकता है और श्रावक हुये बगैर मुनियों का आहार देने का सौभाग्य नहीं मिलता है ।

यदि कोई मनुष्य अपने घर से बहुत सा नाश्ता (मार्ग में-खाने योग्य पक्वान्न) लेकर दूसरे गांव जाता है तो वह जिस प्रकार सुखी रहता है, उसी प्रकार दूसरे जन्म में जाने के लिये व्यक्ति को व्रत एवं दान से कमाया हुआ एक मात्र पुण्य ही सुख का कारण होता है । आचार्य कहते हैं कि—यहाँ—इसलोक में काम, अर्थ (धन) और यश के लिये किया गया प्रयत्न भाग्यवश कदाचित् निष्फल भी हो जाता है । किंतु मुनि आर्यिका आदि पात्रों के नहीं मिलने पर भी हर्षपूर्वक उनके लिये किया गया दान का संकल्प भी पुण्य को प्रदान करता ही करता है । अपने मकान में शत्रुजन के भी आ जाने पर सज्जन मनुष्य प्रिय वचन एवं आसन देना आदि के द्वारा उसका अनुपम आदर-सत्कार करते हैं । फिर भला उत्तम गुणों रूप रत्नों के आश्रयभूत उत्कृष्ट पात्र के अपने घर पर आ जाने पर सज्जन पुरुष क्या हर्ष से आदर-सत्कार नहीं करते है ? अर्थात् अवश्य ही वे दान आदि के द्वारा उनका यथायोग्य सम्मान करते हैं । तात्पर्य यही है कि गृहस्थ के घर में यदि कदाचित् शत्रु भी

---

1. पूजा न चेज्जिनपतेः पदपंकजेषु, दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततःसदनस्थितायाः, शीघ्रं जलांजलिरगाधजले प्रविश्य ॥२४॥
(पद्मनंदिपंचविंशतिका अधिकार दूसरा)

आ जाये तो उसको भी बिठाना चाहिये, मधुर वचन से उसे संतुष्ट करना चाहिये और यदि कदाचित् उत्तमपात्र मुनि आर्यिका आदि का घर में आगमन हो जाये तो उनकी विधिवत् नवधाभक्ति आदि करके उन्हें आहार दान देकर महान् पुण्य संचय कर लेना चाहिये।

सज्जन पुरुष के लिये अपने पुत्र की मृत्यु का दिन भी उतना बाधक नहीं होता जितना कि मुनिदान से रहित दिन उसको बाधक दिखता है। ठीक है—दुर्निवार दैव के द्वारा कुत्सित कार्य के किये जाने पर बुद्धिमान् मनुष्य उसे अनिष्ट नहीं मानता, किंतु पुरुष के द्वारा ऐसे किसी कार्य के किये जाने पर विवेकी मनुष्य उसे अनिष्ट मानता है। तात्पर्य यही है कि—किसी विवेकी मनुष्य के घर पर यदि पुत्र का मरण हो जाता है तो वह विशेष शोकाकुल नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि यह पुत्रवियोग अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से हुआ है जो कि किसी प्रकार से टाला नहीं जा सकता था। परन्तु यहाँ यदि किसी दिन साधुजन को आहार नहीं दिया जाता है तो वह इसके लिये पश्चात्ताप करता है कारण कि वह अपनी असावधानी से हुआ है। वह सोचता है कि यदि हम सावधान होकर द्वारापेक्षण आदि करते तो पात्र का लाभ अवश्य मिल जाता। तथा पात्रदान के अभाव में जो पुण्य लाभ की हानि हुई है और अपनी आवश्यक क्रिया की पूर्ति नहीं हुई है इसलिये वह पुत्रवियोग से अधिक भी दुःख महसूस करता है।

यह है सच्चे श्रावक की भावना, सच है आज भी यत्र तत्र मुनि, आर्यिकायें और क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें दिख रहे हैं। जो भक्तजन उनकी भक्ति करते हैं, उन्हें आहार दान देते हैं उनकी वैयावृत्ति करते हैं उनके उपदेश आदि का लाभ लेते हैं वे ही श्रावक अपनी मनुष्य पर्याय को सफल कर लेते हैं। इससे विपरीत जो उनकी निन्दा में अपने समय को बिता रहे हैं वे बेचारे व्यर्थ ही पाप की पोट बांधकर अपने संसार को बढ़ा रहे हैं, यह निश्चित बात है।

धर्म के साधन हेतु जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे धनवान् मनुष्य के दान के द्वारा सत्य होते हैं। सो ठीक ही है—चन्द्रकान्त मणि चन्द्रकिरणों से स्पर्शित होकर अमृत को बहाते हुये ही यहाँ प्रतिष्ठा को प्राप्त होती है। इसका विशेषार्थ यह है कि पात्र को दान देने वाला श्रावक इस भव में उस दान के द्वारा लोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। जैसे

चन्द्रकांत मणि से निर्मित भवन को देखते हुये भी साधारण मनुष्य उस चंद्रकांत मणि का परिचय नहीं पाता है। किंतु चंद्रमा का उदय होने पर जब उस भवन से पानी का प्रवाह बहने लगता है तब साधारण से साधारण मनुष्य भी यह समझ लेता है कि यह भवन चंद्रकांत मणियों से बना हुआ है। तब वह उसकी प्रशंसा करने लगता है। ठीक इसी प्रकार से विवेकी दाता जिनमंदिर आदि बनवाकर मुनियों को आहार आदि देकर अपनी संपत्ति का सदुपयोग करता है। वह यद्यपि अपनी प्रतिष्ठा की कामना नहीं करता है फिर भी उस जिनमंदिर या दान आदि के देखने वाले मनुष्य उसकी प्रशंसा करते ही हैं। यह तो हुई इस जन्म की बात, इसके साथ पात्र दान आदि शुभ कार्यों से उसको जो महान् पुण्य लाभ होता है उसके फल से वह अगले भव में भी इंद्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव प्राप्त कर लेता है।

जो मनुष्य धन के रहने पर भी दान देने में उत्सुक नहीं होता है, परन्तु अपने आप धर्मात्मा कहलाना चाहता है। उसके हृदय में जो कुटिलता रहती है वह परलोक में उसके सुख को समाप्त कर देती है। जैसे कि बिजली के गिरने से पर्वत चूर हो जाते हैं। यहाँ पर जैनाचार्यों का आदेश है कि—हे भव्यों! तुम अणुव्रती होकर निरंतर अपनी संपत्ति के अनुसार एक ग्रास, आधा ग्रास अथवा चौथाई ग्रास ही क्यों न हो दान में देते ही रहो, क्योंकि यहाँ लोक में अपनी इच्छानुसार द्रव्य कब किसको प्राप्त होगा जो कि उत्तम पात्र को दान दे सके, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है। अभिप्राय यही है कि यदि किसी के पास धन कम है तो उसमें से ही कुछ अंश दान में निकालते रहना चाहिये क्योंकि इच्छानुसार संपत्ति कभी किसी को नहीं मिलती है। लखपति करोड़तति बनना चाहता है, करोड़पति अरबों की आशा करता है और अरब हो जाने पर खरबों की इच्छा हो जाती है उसमें भी किसी को संतोष नहीं होता है अतः जितना भी धन अपने पास है उसमें ही मुनि को आहार दान आदि देते रहना चाहिये। इस दान से ही संपत्ति बढ़ती है। प्रायः देखा जाता है कि लोग सोचा करते हैं जब मेरे पास अधिक धन हो जायेगा तब दान कर देंगे चूंकि अभी तो परिवार पोषण से ही नहीं बचता है। किंतु बात यह है कि जितना भी धन बढ़ेगा उतनी ही आवश्यकतायें, उतने ही ऐश आराम और इच्छायें बढ़ती जायेंगी। अतः प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन कुछ न कुछ दान देते ही रहना चाहिये।

दान की रुचि का भी फल मिलता है—

मिथ्यादृष्टि पशु को भी मुनिराज के दान में जो केवल रुचि होती है उस रुचि अथवा दान की अनुमोदना से ही वह उत्तम भोगभूमि को प्राप्त कर लेता है। जहाँ पर दश प्रकार के कल्पवृक्ष सदा उसे सभी प्रकार के अभीष्ट पदार्थ देते रहते है। फिर भला यदि सम्यग्दृष्टि उस पात्रदान में रुचि रक्खे तो उसे कौन ऐसी चीज है जो नहीं मिलेगी ? अर्थात् उसे निश्चित ही सर्ववाञ्छित फल प्राप्त हो जाते है। दान के योग्य संपत्ति के होने पर तथा पात्र के भी मिल जाने पर जिस मनुष्य की बुद्धि दान के लिये उत्साहित नहीं होती है वह दुर्बुद्धि खान में प्राप्त हुये भी अतिशय मूल्यवान् रत्नों को छोड़कर पृथ्वी के तलभाग को व्यर्थ ही खोदता है। अर्थात् जैसे कोई मनुष्य हीरे के लिये उसकी खान को खोदे, उत्तम हीरा मिल जाये फिर भी उसे छोड़कर आगे और नीचे-नीचे खोदता ही चला जाये तो वह मूर्ख ही है। हीरे को प्राप्त कर भी छोड़ दिया और व्यर्थ ही भूमि खोदने का श्रम करता रहा है।

यदि किसी के हाथ से मणि समुद्र में गिर जाये और बहुत काल के बाद उसे वह ढूंढे तो जैसे उसका मिलना कठिन है। ऐसे ही मनुष्य पर्याय, धन और जिनवाणी को पाकर भी जो दान नहीं करता है वह मूर्ख मनुष्य रत्नों को ग्रहण कर छेदवाली नाव में बैठकर समुद्र पार करना चाहता है। अर्थात् छिद्रवाली नाव में बैठने वाला नियम से समुद्र में डूब जायेगा। वैसे अतिदुर्लभ मनुष्य पर्याय, धनसंपत्ति और जैनधर्म को पाकर भी जो दान नहीं देता है तो दुर्लभ मनुष्य भव आदि को व्यर्थ ही गंवाकर दुर्गति में चला जाता है।

जो पात्रदान इस भव में यश का कारण तथा पर भव में सुख का कारण है उसे जो मनुष्य धन पाकर भी नहीं करता है। उसे ऐसा समझना चाहिये कि मानो किसी पुण्यशाली मनुष्य ने अपने धन की रक्षा के लिये उसे अपना सेवक बनाकर ही नियुक्त किया है। तात्पर्य यही है कि भाग्यवश यदि संपत्ति मिली है तो उसको दानादि उत्तम कार्यों में लगाना चाहिये और आवश्यकतानुसार उसका उपभोग भी करना चाहिये। किंतु जो स्वयं अपनी संपत्ति को दान और भोग में नहीं लगाते हैं तो पता नहीं उस संपत्ति को आगे कौन भोगेगा ? इसीलिये आचार्यदेव का ऐसा कहना है कि मानों वह धन का स्वामी न होकर रक्षक-सेवक ही है क्योंकि धन को भोगने वाला और दान में लगाने वाला ही उसका स्वामी माना जाता है।

लोक में जो धन जिनालय के निर्माण कराने में, जिनदेव की पूजा में, आचार्य और उपाध्याय की पूजा में, संयमीजनों को दान देने में, अतिशय दुःखी प्राणियों को भी दयापूर्वक दान करने में तथा अपने उपभोग में भी काम आता है वही धन अपना धन है, यह बात निश्चित है। किंतु इससे विपरीत जो धन इन कार्यों में नहीं लगाया जाता है वह धन किसी दूसरे का ही है ऐसा समझो। संपत्ति पुण्य के क्षय से नष्ट होती है या घटती है न कि दान करने से। अतएव हे श्रावकों! आप निरंतर पात्रदान करते रहें। क्या आप यह नहीं जानते हैं कि कुंये से जितना-जितना जल निकाला जाता है उतना-उतना जल बढ़ता ही चला जाता है।

पूज्यजनों की पूजा में बाधा पहुँचाने वाला लोभ इस लोक और परलोक में भी सब के सर्वगुणों को नष्ट कर देता है। और वह लोभ यदि केवल गृहस्थी के विवाह आदि कार्यों में किया जाता है तो केवल एक जन्म में ही लोग उसे लोभी कहते हैं। अर्थात् जिनपूजन, पात्रदान आदि में किया गया लोभ इस भव और पर भव में सर्वथा दुःखदायी है, सर्वगुणों को नष्ट कर देने वाला है क्योंकि दान पूजन से होने वाला पुण्य और कीर्ति आदि कुछ भी नहीं मिलते हैं। किंतु जो घर कार्यों में लोभ करते हैं उसे मात्र यहीं लोग कंजूस आदि कह देते हैं किंतु उसका परलोक नहीं बिगड़ता है ऐसा समझना चाहिये।

किन्तु आज लोग इससे विपरीत करते हैं। अपने घर कार्य पुत्रादि के विवाह या अन्य लौकिक कार्यों में खूब धन खर्च कर दिया करते हैं। किंतु दान पूजन आदि के समय कृपण बन जाते हैं। सोचते हैं—अपनी गाढ़ी कमाई का धन इन कार्यों में कैसे लगा दें? सो यह मात्र मूर्खता ही है क्योंकि दान पूजन में खर्चा गया धन अपना बन गया है और वह आगे असंख्य गुणा होकर फलेगा किंतु 'खाय खोया बह गया' इस सूक्ति के अनुसार अपने भोग में लगाया गया धन व्यर्थ ही चला गया है ऐसा निश्चित समझकर सदैव दानादि उत्तम कार्यों में धन का सदुपयोग करते रहना चाहिये।

धन का सच्चा सदुपयोग—

मनुष्य धन को बहुत कठोर परिश्रम से कमाते हैं। इसलिये वह धन उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। यदि वे उसका सदुपयोग पात्रदान आदि में करते हैं तब तो वह उन्हें फिर से भी प्राप्त हो जाता है, किंतु इसके विपरीत यदि उसका दुरुपयोग दुर्व्यसनादि

में किया जाता है, अथवा दान और भोग से रहित केवल उसका संचय ही किया जाता है, तो वह मनुष्यों को विपत्तिजनक ही होता है। इसका कारण यह है कि सुख का कारण जो पुण्य है उसका संचय उन्होंने पात्रदानादि रूप सत्कार्यों द्वारा कभी किया ही नहीं है। तुम्हारा धन अपने स्थान से एक कदम भी नहीं जाता, इसी प्रकार तुम्हारे बंधुजन श्मशान तक तुम्हारे साथ जाकर वहाँ से वापिस आ जाते हैं। लंबे मार्ग में प्रवास करते हुये तुम्हारे लिये एक पुण्य ही मित्र होगा। इसलिये हे भव्यजीव ! तुम उसी पुण्य का उपार्जन करो।

सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सुन्दरता, विवेकबुद्धि आदि, विद्या, शरीर, धन और महल तथा उत्तमकुल में जन्म होना, यह सब निश्चय से पात्रदान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजन ! तुम उस पात्रदान के विषय में निरंतर प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ?

'प्रथमतः यहाँ धन से कुछ निक्षेप (भूमि में गाड़ देना), भवन का निर्माण और पुत्र का विवाह करना है, तत्पश्चात् यदि अधिक धन हुआ तो धर्म के निमित्त दान करूँगा।' इस प्रकार विचार करता हुआ यह अज्ञ गृहस्थ मरण को प्राप्त हो जाता है। लोक में जिस कंजूस मनुष्य का शरीर भोग और दान से रहित ऐसे धनरूपी बंधन से बंधा हुआ है उसके जीने का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसके जीने से कुछ भी लाभ नहीं है। उसकी अपेक्षा तो वह कौवा ही अच्छा है जो उन्नत बहुत से वचनों (कांव-कांव) द्वारा अन्य कौवों के समूह को बुलाकर ही बलि (श्राद्ध में अर्पित द्रव्य) को खाता है। मृत्यु को प्राप्त होने पर शंख के समान जिस पुरुष का नाम संसार में अतिशय प्रचलित नहीं होता वह मनुष्य जन्म लेकर भी अजन्मा के समान होता है। अर्थात् उसका मनुष्य जन्म लेना व्यर्थ होता है। कारण कि वह लक्ष्मी को प्राप्त करके भी दरिद्री ही है। तथा दोषों से रहित होकर भी यशस्वी नहीं हो पाता है। अपने कर्म के अनुसार कुत्ता भी अपने उदर को भर लेता है। और राजा भी अपना उदर पूर्ण कर लेता है। किंतु प्रशंसनीय मनुष्यभव, धन एवं विवेकबुद्धि को प्राप्त करने का यहाँ यही प्रयोजन है कि निरंतर पात्रदान दिया जावे।

दानी पुरुषों के हाथों द्वारा परंपरा से प्राप्त हुये जाने-आने के विपुल खेद के भार से मानों अत्यंत व्याकुल होकर ही वह धन कंजूस मनुष्य के घर को पाकर अनंतसुख से परिपूर्ण होता हुआ निरंतर निर्बाधस्वरूप से सोता है। मतलब यह है कि दानी लोग अपने धन का उपयोग पात्रदान में किया करते हैं। इसीलिये उस दान के पुण्य से वह धन उन्हें बार-बार प्राप्त होता रहता है। इसके विपरीत कंजूस मनुष्य पूर्व पुण्य से प्राप्त हुये उस

धन का उपयोग न तो पात्रदान में करता है और न निज के उपभोग में ही। मात्र वह उस धन का संरक्षण ही करता रहता है। इसी को आचार्यदेव ने उत्प्रेक्षालंकार शब्दों में वर्णित किया है कि वह धन यह सोचकर ही मानों कंजूस के घर में विश्राम करता है कि "मुझे दानी के घर में बार-बार आने आने का असीम कष्ट सहना पड़ता है यहाँ मैं इस कंजूस के घर में अब शांति से नींद ले लूं।" क्योंकि वह धन कंजूस के घर में गमनागमन के श्रम से बच जाता है।

सत्पात्र के तीन भेद हैं—

उत्तम, मध्यम और जघन्य। गृह से रहित मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रतों से युक्त श्रावक मध्यम पात्र हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। सम्यग्दर्शन से रहित होकर व्रतों को पालन करने वाले कुपात्र हैं और सम्यग्दर्शन तथा व्रत इन दोनों से रहित मनुष्य अपात्र हैं। इन उपर्युक्त पात्रों के लिये दिये गये दान का फल मनुष्यों को इन्हीं उत्तम, मध्यम, जघन्य; कुत्सित और अपात्र विशेषणों से विशिष्ट प्राप्त होता है। अथवा बहुत कहने से क्या ? अन्य प्रकार के दूषित हृदय में भी वह दान का फल स्वभाव से अनेक प्रकार का प्राप्त होता है।

उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों में दान देने वाले यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो वे क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि में जन्म ले लेते हैं। यदि दाता सम्यग्दृष्टि हैं तो स्वर्ग के सुख प्राप्त करते हैं। कुपात्रों को दान देने वाले कुभोगभूमि में चले जाते हैं और अपात्र में जो दान देते हैं उनका दान व्यर्थ चला जाता है। इससे अतिरिक्त जो अंधे, अपंग, बहिरे आदि दुःखी जीवों को करुणाबुद्धि से दान देते हैं उन्हें भी यथायोग्य पुण्य बंध होता है।

अभयदान, औषधिदान, आहारदान और शास्त्रदान ये चार दान महान् फल को देने वाले हैं। इनसे भिन्न गाय, सुवर्ण, पृथ्वी, रथ और स्त्री आदि के दान महान् फल को देने वाले नहीं हैं। क्योंकि वे निश्चय से पाप के उत्पादक हैं। हाँ, जिनालय के निमित्त जो कुछ पृथ्वी आदि का दान किया जाता है वह यहाँ धार्मिक संस्कृति का कारण होकर अंकुरित होता हुआ अतिशय दीर्घ काल तक रहता है। इसलिये उस दाता के द्वारा जैनशासन ही किया गया है।

जो निर्दोष दान का प्रकाश समस्त लोगों को सुख देने वाला है वह पाप कर्म की कार्यभूत कृपणता से परिपूर्ण हृदय वाले—कंजूस मनुष्य को कभी नहीं रुचता है। जिस

प्रकार कि दोषा--रात्रि के संसर्ग से रहित सूर्य का तेज संपूर्ण प्राणियों को सुख देने वाला है किंतु उल्लू को अच्छा नहीं लगता है। अतएव यह दान का उपदेश आसन्न भव्य को तो आनंद करने वाला है किंतु दूर भव्य अथवा अभव्य को नहीं। सो ठीक ही है क्योंकि भ्रमरों के संसर्ग से मालती पुष्प ही शोभित होता है, काष्ठ नहीं। तथा चन्द्रकिरणों के संसर्ग से श्वेत कमल प्रफुल्लित होता है किंतु पत्थर प्रफुल्लित नहीं हो सकता। इस प्रकार से रत्नत्रय रूप आभरण से विभूषित श्रीवीरनंदी मुनिराज के उभय चरण कमलों के स्मरण से उत्पन्न हुये प्रभाव को धारण करने वाले श्रीपद्मनंदी मुनिराज ने ललितवर्णों से युक्त ५२ पद्यों में यह दान का प्रकरण कहा है। अर्थात् यह दान का सारा वर्णन पद्मनंदि आचार्य ने अपने [1]"पद्मनंदिपंचविंशतिका" ग्रन्थ में कहा है उसी के आधार से यहाँ लिया गया है।

1. यद्दीयते जिनगृहाय धरादि किंचित् तत्तत्र संस्कृतिनिमित्तमिह प्ररूढम्।
आस्ते ततस्तदतिदीर्घतरं हि कालं जैनं हि शासनमतः कृतमस्ति दातुः ॥५१॥ (पद्मनंदिपंचविंशतिका पृ० ६२)

समयसार का सार

(भूमिका)

समयसार की गाथा संख्या और टीकायें—

वर्तमान में इस समयसार ग्रन्थ पर दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक श्रीअमृतचंद्रसूरि की, दूसरी श्रीजयसेनाचार्य की। पहली टीका का नाम आत्मख्याति है और दूसरी का नाम "तात्पर्यवृत्ति" है।

श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार को सम्मिलितरूप से लिया है। पुनः कर्तृकर्म अधिकार, पुण्यपाप अधिकार, आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, बंध अधिकार, मोक्ष अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार ऐसे नव अधिकार किये हैं। आगे स्याद्वाद का विस्तार से वर्णन करके उसे स्याद्वाद अधिकार नाम दिया है किन्तु उसे "दशम" अधिकार नहीं कहा है अंतिम नौवें अधिकार की समाप्ति सूचक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

"इति श्रीअमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञान-प्ररूपको नवमोऽकः।"

इस आत्मख्याति टीका में गाथाओं की संख्या ४१५ है। इस टीका में मध्य-मध्य में कुछ काव्य दिये हैं जिनमें समयसार की गाथाओं का सारभूत विवेचन बहुत ही मधुरता और सरलता से किया गया है। इसीलिये इन्हें "कलशकाव्य" संज्ञा दी है। इनकी संख्या २७८ है। इन कलश काव्यों के ऊपर भी पृथक् टीकायें हैं जिनका कि एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन गया है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में मूल गाथाओं की संख्या ४३९ है। श्रीजयसेनाचार्य ने सर्व-प्रथम पीठिका में १४ गाथाओं की टीका की है। पुनः जीवाधिकार में २४ गाथायें ली हैं, अजीवाधिकार में ३० गाथायें हैं, कर्तृकर्म अधिकार में ७८ हैं। इत्यादि श्रीजयसेनाचार्य ने जीव अधिकार और अजीवअधिकार इन दोनों को पृथक् कर दिया है जिससे इनकी टीका में दश अधिकार हो गये हैं तथा प्रत्येक अधिकार के प्रारंभ में और अन्त में गाथाओं की संख्या दी हुई है।

यथा—"प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतजीवाधिकारः कथ्यते ।"

ऐसे ही अन्त में—"इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः ।"

इन्होंने भी सर्वविशुद्धज्ञान नामक दशवां अधिकार समाप्त करके स्याद्वाद अधिकार लिया है । अन्त में कहते हैं—

"इति श्रीकुन्दकुन्ददेवाचार्य विरचित समयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्य संबंधिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता ।"

इस प्रकार से श्रीजयसेनाचार्य ने इस समयसार की ४३९ गाथाओं की टीका की है । इसी तरह प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी श्रीअमृतचंद्रसूरि की टीका में गाथायें कम हैं एवं श्रीजयसेनाचार्य की टीका में गाथायें अधिक हैं ।

प्रवचनसार में भी अमृतचंद्रसूरिकी टीका में गाथायें २७५ हैं । और श्रीजयसेनाचार्य की टीका में ३११ गाथायें है ।

जिन गाथाओं को श्री जयसेन ने कुन्दकुन्द की मानकर टीकायें की हैं उनका अन्यत्र ग्रन्थों में भी श्री कुन्दकुन्द के नाम से उल्लेख मिलता है । जैसे कि—

नियमसार की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं—

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढीसोक्ख तहेव ईसरिय ।
तिहुवणपहाणदइय माहप्प जस्स सो अरिहो ।।

यह गाथा प्रवचनसार में श्री जयसेनाचार्य ने ली है और इसकी टीका भी की है किन्तु अमृतचन्द्रसूरि की टीका में यह नहीं है ।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयसेनाचार्य ने जिन अधिक गाथाओं को श्री कुन्दकुन्द की ही माना है, अन्य आचार्य भी उन्हें श्रीकुन्दकुन्द रचित मानते रहे हैं ।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने उन गाथाओं को क्यों छोड़ा है ? यह विषय विचारणीय ही है । किन्तु श्रीजयसेनाचार्य द्वारा मान्य गाथाओं में ये श्रीकुन्दकुन्ददेवकृत नहीं हैं या क्षेपक हैं, सहसा ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

पंचास्तिकाय में भी श्रीअमृतचंद्रसूरि ने १७३ गाथाओं की टीका की है किन्तु श्री जयसेनाचार्य ने "अधिकारत्रयसमुदायेनैकाशीत्युत्तरशतगाथाभिः पंचास्तिकायप्राभृतः

समाप्तः।" अधिकार तीन के समूह से १८१ गाथाओं द्वारा पंचास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ समाप्त हुआ, ऐसा कहा है।

टीका की गूढ़ता—

अमृतचन्द्रसूरि की टीका अतीव गूढ़ है। संस्कृत की पंक्तियाँ भी क्लिष्ट और समासबहुल हैं, किन्तु जयसेनाचार्य की टीका में जगह-जगह गुणस्थान व्यवस्था स्पष्ट की गई है। भाषा सरल है और भाव भी सरल हैं जिससे हम जैसे लोगों के लिये बहुत ही सरलता गई है जो विद्वान् इस टीका की उपेक्षा कर देते हैं सचमुच में वे समयसार के रहस्य को सही रूप से न आप ही समझ सकते हैं न श्रोताओं को ही समझा सकते हैं। यही कारण है कि वे एकांत दुराग्रही बन जाते हैं। वास्तव में उन्हीं दुराग्रही लोगों के लिये यह समयसार शास्त्र न रहकर शस्त्र बन जाता है। उनके लिये श्रीगुणभद्रसूरि का एक श्लोक सामने आ जाता है—

शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥

इस शास्त्र रूपी अग्नि में भव्य जीव मणि के समान शुद्ध होकर निर्वृत्त-कृतकृत्य हो जाता है किन्तु खल दुर्जन मनुष्य अंगारे के समान जलकर काला कोयला हो जाता है अथवा राख हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को समयसार पढ़ते समय श्रीजयसेनाचार्य की टीका अवश्य पढ़नी चाहिये।

श्री अमृतचन्द्रसूरि और श्रीजयसेनाचार्य के अभिप्राय—

आज कुछ लोग ऐसा कहते हुये देखे जाते हैं कि श्रीअमृतचन्द्रसूरि की टीका के आधार से चतुर्थ गुणस्थान में निश्चयसम्यक्त्व, निश्चय चारित्र, शुद्धोपयोग आदि हो जाते हैं। किंतु जयसेनाचार्य नहीं मानते हैं। वे सप्तम गुणस्थान से ही इनको घटित करते हैं। वास्तव में अमृतचन्द्रसूरि के शब्दों से भी निश्चय सम्यक्त्व आदि चौथे गुणस्थान में असंभव हैं। सो ही देखिये—

गाथा १२वीं की टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"ये खलु पर्यतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरम भावं अनुभवंति……।

जो अंतिम ताव से शुद्ध हुये सुवर्ण के समान परमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो एक दो आदि ताव से शुद्ध हुये के समान ऐसे अपरम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल इसी रूप से व्यवस्थित है। कहा भी है—

"यदि आप जिन मत को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय में मोह को मत प्राप्त होवो, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का और निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा।"

आगे कलश काव्य में भी कहा है कि—

पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिये यह व्यवहारनय हाथ का अवलंबन है।

अब आप देखिये—अन्तिम ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान शुद्ध भाव का अनुभव तो मोह रहित मुनि के ११, १२ वें गुणस्थान में ही घटेगा उसके पहले सब अशुद्ध भाव में ही है। हाँ, श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से शुद्धोपयोगी मुनि के भी कथंचित् परम-भाव का अनुभव कहा जाता है। किंतु छठे, सातवें गुणस्थान पर्यंत सराग अवस्था होने से शुभोपयोग ही है अतः वहाँ तक परमशुद्धभाव का अनुभव नहीं है। आगे के उद्धरण और कलश आदि से भी यह बात स्पष्ट है कि चतुर्थ, पंचम, छठे, सातवें गुणस्थानवर्तियों के लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

इसी प्रकरण को श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि जो निर्विकल्प समाधि में रत हैं उनके लिये निश्चयनय प्रयोजनीभूत है किंतु जो असंयत सम्यग्दृष्टि हैं श्रावक हैं, प्रमत्त मुनि है या अप्रमत्तमुनि है ये सराग सम्यग्दृष्टि हैं शुभोपयोगी हैं। ये छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी भेदरत्नत्रय में स्थित हैं अतः इनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

ऐसे ही गाथा १४२ की टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि के अभिप्राय को देखिये—

य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्व-भावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति। जो दोनों नयों के विकल्प को उलंघन कर देता है वह ही संपूर्ण विकल्प से रहित स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञान घनरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है।

उसी टीका के ६६ वें कलश में भी कहा है कि—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ।।६६।।

जो दोनों नयों के पक्ष को छोड़कर नित्य ही स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं वे विकल्प समूहों से रहित शांतचित्त हो जाते हैं वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं ।

यहाँ "स्वरूपगुप्ता" शब्द त्रिगुप्ति से सहित निर्विकल्प मुनियों के लिये ही है ।

श्री जयसेनस्वामी ने भी इसी को सरल शब्दों में कहा है कि आगम के व्याख्यान के समय बुद्धि दोनों नयों का अवलंबन लेती है किन्तु तत्त्वज्ञानी स्वस्थ–आत्मा के ध्यान में लीन हुए मुनियों के वह विकल्प बुद्धि नहीं रहती है ।

आगे गाथा १७६, १८० की टीका में भी कहा है कि जब यह ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है तब उसके पूर्वबद्ध प्रत्यय पुद्गलकर्मों से बंध करा देते हैं ।

इन्हीं गाथा की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि परमसमाधि लक्षण भेदज्ञान-रूप शुद्धनय से च्युत होने पर पूर्वबद्ध प्रत्ययों से कर्मबंध होता है ।

ऐसे ही गाथा १५० की टीका के कलश काव्य १०४ में कहा है—

"जिन्होंनें पुण्य और पाप रूप संपूर्ण कर्मों का निरोध कर दिया है और निष्कर्मरूप–शुद्धोपयोग में प्रवृत्त हैं ऐसे मुनि अशरण नहीं हैं ।"

इसी गाथा की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि—

"शुभ अशुभ संकल्प विकल्प से रहित होने से अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न निर्विकार सुख अमृत रस के आस्वाद से तृप्त होकर शुभ अशुभ कर्म से राग मत करो ।"

ऐसे ही आगे गाथा ३०६, ३०७ की टीका में भी श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुम्भ कहा है सो तृतीय भूमि में अर्थात् शुद्धोपयोग में कहा है—"तृतीय-भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन" अर्थात् अप्रतिक्रम–प्रतिक्रमण से परे जो अप्रतिक्रमण-रूप तृतीय भूमि है वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है । इसी टीका के १६वें कलश में "मुनि" शब्द है जो कि अप्रमत्त मुनि की बात कह रहा है ।

इसी प्रकरण को श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कहा है कि "सरागचारित्र लक्षण शुभोपयोग की अपेक्षा से इन्हें अप्रतिक्रमण आदि संज्ञा दी है । फिर भी वीतराग

चारित्र की अपेक्षा से ये ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रतिसरण आदि कहलायेंगे। क्योंकि प्रतिक्रमण आदि शुभोपयोग हैं ये सब सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ हैं किंतु परमोपेक्षा संयमरूप निर्विकल्प अवस्था में विषकुम्भ हैं। वहाँ तो अप्रतिक्रमण अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण आदि ही अमृतकुम्भ हैं।

ऐसे ही सर्वत्र श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीअमृतचन्द्रसूरि के अभिप्रायानुसार ही टीका की है। केवल गूढ़ अर्थ को न समझ सकने से ही कुछ दुराग्रही लोग अर्थ का अनर्थ कर देते हैं।

समयसार की गाथाओं में जहाँ कहीं भी सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी शब्द हैं वहाँ पर प्रायः श्रीअमृतचन्द्रसूरि को वीतराग सम्यग्दृष्टि ही विवक्षित है। इसका एक उदाहरण देखिये—

"णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो"

सम्यग्दृष्टि के आस्रव, बंध नहीं है प्रत्युत् आस्रव का निरोध है। इसी संदर्भ में आगे चलकर कहते हैं—

"तेण अबंधोत्ति णाणी दु।"
जम्हा दु जहण्णादो, णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्त णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

आत्मा का ज्ञानगुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है तब तक वह अन्यत्व को अर्थात् अंतर्मुहूर्त में अन्यपने को प्राप्त होता रहता है, इसलिये वह कर्मों का बन्ध करने वाला होता है।

इसी की टीका में अमृतचन्द्रसूरि के वाक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

"ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यांतर्मुहूर्त—विपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यात्—चारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।"

ज्ञानगुण का जब तक जघन्य भाव है अर्थात् क्षयोपशम भाव है तब तक वह अन्तर्मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त में अन्यरूप परिणत होता रहता है। इसलिये उस ज्ञानगुण में यथाख्यात चारित्र के पहले राग का सद्भाव अवश्यंभावी है अतः वह बंध का हेतु है ही है।

यह यथाख्यात चारित्र दशवें गुणस्थान के बाद ११ से ही शुरू होता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में यहीं से ही "वीतराग" शब्द का प्रयोग होता है। उसके पहले दशवें तक सराग चारित्र माना है। अतः श्रीअमृतचन्द्रसूरि की दृष्टि में वीतराग चारित्र वाला मुनि ही समयसार की गाथा में कहा हुआ सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार की गाथाओं में कहा हुआ "ज्ञानी" है। यही बात श्री जयसेनस्वामी ने कही है। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये।

समयसार में व्यवहारनय की उपयोगिता—

आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने सर्वप्रथम गाथा ७ में ही कहा है कि "व्यवहारनय से ही ज्ञानी के चारित्र दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं किन्तु (निश्चयनय से) न ज्ञान है न दर्शन है और न चारित्र ही है, यह आत्मा ज्ञायकमात्र शुद्ध है।

पुनः कहते हैं—

जिस प्रकार से किसी म्लेच्छ को उसकी भाषा में बोले बिना उसे समझाना शक्य नहीं है उसी प्रकार से व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश ही अशक्य है।

आगे पुनः गाथा १३वीं में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर तत्क्षण ही अगली गाथा में कहते हैं—

"परमभावदर्शी—परम शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले ऐसे महामुनियों के लिये शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला ऐसा शुद्धनय ही ज्ञातव्य है अनुभव करने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित है अर्थात् चतुर्थ, पंचम, छठे अथवा सातवें गुणस्थान में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।"

इसकी टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है कि जो अंतिम सोलहवें ताव से शुद्ध हुये सुवर्ण के समान परमशुद्ध भाव का अनुभव करते हैं उनके लिये ही शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किंतु जो एक दो आदि ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल व्यवहारनय से ही चलता है।

कलश काव्य में भी कहते हैं—

"पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिये यद्यपि यह व्यवहारनय हाथ का अवलम्बन स्वरूप है फिर भी पर से रहित चित्–चमत्कार मात्र परम अर्थ-शुद्ध आत्मा को अंतरंग में देखने वालों के लिये वह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है।"

इस कथन से भी स्पष्ट है कि पहली सीढ़ी पर पैर रखने वाले ऐसे चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के लिये व्यवहारनय सहारा है हाथ का अवलम्बन है।

गाथा २२वीं में यह कहा है कि कर्म नोकर्म रूप में हूं अथवा ये मेरे हैं ऐसा समझने वाला अज्ञानी है। पुनः तत्काल अनेकांत की व्यवस्था करते हुये कहते हैं कि "यह आत्मा जिन भावों को करता है उन्हीं का कर्ता होता है यह निश्चयनय का कथन है और व्यवहारनय की अपेक्षा यह पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है।"

आगे चलकर शंका होती है कि "यदि जीव और शरीर एक नहीं हैं तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति मिथ्या हो जावेगी?" इस पर समाधान यह है कि "व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव और शरीर एक हैं और निश्चयनय की अपेक्षा से ये कथमपि एक नहीं हैं। तथा तीर्थंकर आदि के शरीर आदि की स्तुति व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती है।"

आगे आचार्यदेव आठ प्रकार के कर्म और उनके फल आदि को पुद्गलमय कहते हैं पुनः समाधान रूप में गाथा ५१ में कहते हैं—

"रागादि भाव आदि जो भी अध्यवसान-परिणाम हैं वे सब जीव हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है ऐसा श्रीजिनेंद्रदेव ने कहा है।" इसी गाथा की टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"व्यवहारनय अपरमार्थ होते हुये भी परमार्थ का प्रतिपादक है और तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसको दिखलाना न्याय ही है। व्यवहारनय को माने बिना शरीर से जीव मे परमार्थ से भेद होने से त्रस और स्थावर जीवों की व्यवस्था नहीं होगी पुनः कोई भी उन त्रस स्थावरों को राख के समान मर्दित कर देगा और ऐसा करने पर भी हिंसा नहीं होगी तब उसके कर्मबंध नहीं होगा। पुनः रागद्वेष मोह से जीव में सर्वथा भेद रहने से मोक्ष के उपाय को ग्रहण करना कैसे हो सकेगा? और तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा।

उपर्युक्त गाथा में तथा टीका में व्यवहारनय की उपयोगिता विशेष रीति से ध्यान देने योग्य है।

गाथा ५५ में यह बतलाया है कि जीव के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि तथा गुण-स्थान आदि कुछ भी नहीं है। पुनः नय विवक्षा खोलते हुए कहते हैं—

"व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्ण आदि से लेकर गुणस्थानपर्यंत ये सभी भाव जीव के ही हैं किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा ये कुछ भी नहीं हैं।"

इस बात को सुनकर कोई शिष्य प्रश्न कर देता है कि हे भगवन्! शास्त्र में तो जीव के एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि नाना भेद माने हैं सो कैसे? तब पुनः आचार्य समाधान करते हैं—"पर्याप्त-अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जो भी जीव के भेद परमागम में कहे गये हैं वे सभी व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं।"

इस प्रकार से समयसार में अनेक गाथाओं में व्यवहारनय की उपयोगिता दिखलाई है। टीकाकार श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी व्यवहारनय की महत्ता पर जोर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि शुद्धोपयोग में पहुँचने के पहले-पहले व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। श्रीजयसेनाचार्य ने तो सरल शब्दों में ही कह दिया है कि निर्विकल्प समाधि में स्थित होने के पहले तक व्यवहारनय का ही अवलम्बन लेना होता है—जहाँ तक कि सराग-चारित्र है।

समयसार के अधिकारी कौन हैं?

समयसार ग्रन्थ में "मुनि" "साधु" और "यति" शब्द जिन-जिन गाथाओं में आये हैं उनको यहाँ दे रहे हैं।

जीवाधिकार में निम्नलिखित ६ गाथायें आई हैं—

जो आदभावणमिण, णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण॥१२॥

जो मुनि नित्य ही उद्यमशील होते हुये इस आत्म भावना को करते हैं वे थोड़े ही काल में संपूर्ण दुःखों से छूट जाते हैं।

दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥१६॥

साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का नित्य ही सेवन करना चाहिये। पुनः निश्चयनय से ये तीनों ही आत्मस्वरूप हैं अतः आत्मा की सेवा-आराधना करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु को व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय की उपासना करनी चाहिये और निश्चयनय से इन तीनों रूप अपनी शुद्ध आत्मा का आश्रय लेना चाहिये।

इणमण्ण जीवादो देह पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।३३।।

जीव से अन्य इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके मुनि ऐसा मानते हैं कि मैने केवली भगवान् की स्तुति व वंदना कर ली है।

भावार्थ—"द्वौ कुन्देंदुतुषारहारधवलौ" दो तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त कुन्दपुष्प चन्द्रमा बर्फ या हार के समान धवल वर्ण वाले हैं। इत्यादि रूप से तीर्थंकरों के वर्ण, शरीर की अवगाहना, जन्म कल्याणक आदि, दिवस अथवा निर्वाण भूमि की वंदना स्तुति करके मुनि भी ऐसा मान लेते हैं कि मैने तीर्थंकर केवली भगवान् की स्तुति वंदना कर ली है। यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा ठीक है।

जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३६।।

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें निश्चयनय के ज्ञाता साधु जितेन्द्रिय (मुनि) कहते हैं। वे जितेंद्रिय मुनि आठवें, नवमें गुणस्थानवर्ती शुक्ल ध्यानी ही विवक्षित हैं क्योंकि वहीं पर निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान है।

जो मोह तु जिणित्ता, णाणसहावाधिय मुणदि आद।
त जिदमोह साहुं, परमट्ठवियाणया विति ।।३७।।

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं परमार्थ के ज्ञाता-गणधर देव आदि उन्हें जितमोह साधु कहते हैं। ये जितमोह मोह को पूर्णतया उपशांत कर देने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु ही होते हैं। ऐसा तात्पर्यवृत्तिकार ने कहा है।

जिदमोहस्स तु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।३८।।

जितमोह साधु का जब मोह नष्ट हो जाता है, निश्चयविद् महामुनि तब उन्हें क्षीणमोह कहते हैं। यह कथन बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनियों की अपेक्षा है।

अजीवाधिकार में दो गाथायें हैं—

जो संगं तु मुइत्ता, जाणदि उवओगमप्पग सुद्धं ।
तं णिस्संग साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३॥

जो अंतरंग–बहिरंग परिग्रह को छोड़कर ज्ञान दर्शनोपयोगरूप अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है परमार्थ के ज्ञाता मुनि उसे ही निःसंग अपरिग्रही निर्ग्रंथ साधु कहते हैं ।

जो मोहं तु मुइत्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
त जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति ॥१३२॥

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के ज्ञाता मुनि उसे ही जितमोह साधु कहते हैं ।

पुण्यपापाधिकार में दो गाथायें हैं—

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मिट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५६॥

परमार्थ रूप जो समय है अर्थात् जो जीवात्मा है वह शुद्ध है, इन्द्रियों की सहायता से रहित होने से केवली है, ज्ञानी है ऐसे इस परमार्थ रूप अपने स्वभाव में स्थित हुये मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं । यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का स्वरूप केवलज्ञानरूप है उसमें एकाग्र परिणतिरूप निर्विकल्प ध्यानी मुनि ही कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु, जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६४॥

विद्वान साधु निश्चयनय के विषयको छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं । क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मक्षय होता है ।

भावार्थ—**यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक या अव्रती निश्चयनय का आश्रय नहीं ले सकते हैं ।**

संवर अधिकार में, गाथा आई है—

कोविदिदच्छो साहू, सपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं, परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥१९९॥

कौन ऐसा बुद्धिमान साधु है जो कहता हो कि वर्तमान काल में यह आत्म तत्त्व छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् इसका साक्षात् तो केवलज्ञान में ही होता है। हाँ, परोक्षरूप मानस ज्ञान के द्वारा छद्मस्थ जीव भी उसका अनुभव करके प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

निर्जरा अधिकार में, गाथा है—

जो कुणदि वच्छलत्त, तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५१॥

जो मोक्षमार्ग में चलने वाले तीनों साधुओं (आचार्य, उपाध्याय, साधु) के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्य अंग का धारी होता है।

बधाधिकार में दो गाथायें है—

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण **मुणी** ण लिप्पंति ॥२८८॥

उपर्युक्त अध्यवसान भाव और इसी प्रकार के अन्य भी भाव जिनके नहीं हैं ऐसे मुनि ही शुभ और अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते है।

विशेषार्थ—**गाथा २६३ से लेकर हिंसा अहिंसा आदि की व्याख्या की गई है। पुनः गाथा २७२, २७३ और २७४ में कहा है कि जीवों को दुखी करने, मारने आदि के भाव हिंसा रूप हैं वे पाप बंध के कारण हैं और जीवों को सुखी करने तथा जिलाने आदि के भाव पुण्य बंध के कारण हैं। आगे २७६–२७७ में कहते है कि ऐसे ही झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाप बंध के कारण हैं और सत्य औचर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पुण्य बंध के कारण हैं। पुनः इस २८८ गाथा में कहते हैं कि जिन शुद्धोपयोगी मुनि के ये व्रत-अव्रत के भाव नहीं हैं प्रत्युत जो निश्चय चारित्र में परिणत हो चुके हैं ऐसे निर्विकल्प मुनि ही शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं।**

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा, **मुणिणो** पावंति णिव्वाण ॥२९१॥

इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का प्रतिषेध हो गया है ऐसा जानो क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यहां पर भी स्पष्ट है कि जब तक सविकल्प अवस्था है तभी तक व्यवहार-नय का आश्रय है। निर्विकल्प अवस्था में मुनि निश्चयनय का आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। अतः छठे सातवें गुणस्थान तक व्यवहारनय का ही आश्रय है। पुनः चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो व्यवहार में ही है।

इस प्रकार से इन गाथाओं में मुनि साधु और यति शब्दों के उल्लेख से स्पष्टतया झलकता है कि यह ग्रन्थ महामुनियों की चर्या से संबंधित है।

तात्पर्यवृत्तिकार श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है कि—

"अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितन-गुणस्थानवर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति।"

इस ग्रंथ में पंचमगुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों को ही मुख्यरूप से ग्रहण किया है सरागसम्यग्दृष्टियों को गौणरूप से ही लिया है।

यही बात श्री अमृतचन्द्रसूरि की १७१ वीं गाथा की टीका में स्पष्ट है कि "यथा-ख्यात चारित्र के पहले कर्मबन्ध होता है" और पहले कहा है कि सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं होता है सो वहां पर उन्हें वीतराग सम्यग्दृष्टि की ही विवक्षा है ऐसा समझना।

इस प्रकार यहां तक समयसार को पढ़ने के लिये भूमिका बनाई गई है। अब आगे समयसार का सार संग्रह करके लिखा गया है।

जीव अजीव अधिकार—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥

'सम्—एकत्वेन अयते—गच्छति जानाति इति आत्मा' सम्—सम्यक् प्रकार से या एकत्व स्वरूप से जो जानता है वह आत्मा है उसका सार—शुद्ध अवस्था विशेष का नाम 'समयसार' है, इस समयसार ग्रन्थ में शुद्धपरमात्मतत्त्व के प्रतिपादन की मुख्यता से

व्याख्यान किया गया है। श्री कुंदकुंदस्वामी सर्व प्रथम सिद्धों को नमस्कार करते हुये कहते हैं कि—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ।।

मैं ध्रुव, अचल, और अनुपम गति को प्राप्त हुये ऐसे सभी सिद्धों को नमस्कार कर, हे भव्यों ! श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूंगा। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि इस ग्रन्थ को 'अर्हत्प्रवचनावयवस्य' अर्हंत भगवान् के प्रवचन का अवयव बतलाते हैं, तथा केवली द्वारा प्रणीत एवं श्रुतकेवली द्वारा कथित कहते हैं। श्री जयसेनस्वामी इसे श्रुत-परमागम में सर्वज्ञकेवली द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवली-गणधरदेव कथित कहते हैं।

स्वसमय-परसमय—

स्वसमय और परसमय के लक्षण में श्री जयसेनस्वामी कहते हैं कि 'निश्चयरत्नत्रयण से परिणत-जीवपदार्थ को हे शिष्य ! तुम स्वसमय समझो।' निश्चय रत्नत्रय का लक्षण किया है कि विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मा में रुचि सम्यग्दर्शन, उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान और निश्चल अनुभूति रूप वीतराग चारित्र इन तीनों की एक समय में एकाग्र्य अवस्था विशेष का नाम निश्चय रत्नत्रय है। पुद्गल कर्म के उदय से नर नारकादि पर्यायों में यह जीव जब स्थित रहता है तब वह (जीव) परसमय है।

आचार्य कहते हैं कि सभी जीवों ने स्पर्शन रसना इन्द्रियों के विषय रूप काम कथा तथा घ्राण, चक्षु, श्रोत्रइन्द्रियों के विषयरूप भोग कथा और कर्मबंध की कथा को अनादिकाल से सुना है परिचय किया है और अनुभव किया है, किन्तु पर संबंध से रहित शुद्ध एक आत्मतत्त्व की कथा को प्राप्त नहीं किया है वह बहुत ही दुर्लभ है। यहां निश्चय और व्यवहार दोनों का समन्वय करके वस्तु तत्व को समझने के लिये आचार्य कहते हैं कि जैसे किसी अनार्य मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना समझाना अशक्य है वैसे ही व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है।

श्रुतकेवली—

श्रुतकेवली का लक्षण करते हुये आचार्य कहते हैं कि द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानं आत्मा भवति' द्रव्य श्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ भावश्रुत ज्ञान आत्मा है। जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदन ज्ञान के बल से शुद्धात्मा को जानते हैं वे निश्चय श्रुतकेवली हैं और जो स्वशुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर रहे है बाह्य विषयभूत द्रव्यश्रुत के अर्थ को जानते हैं वे व्यवहार श्रुत-केवली होते हैं। "ननु तर्हि स्वसंवेदन ज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति ? तन्न ....·....." शंकाकार कहता है कि तब तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकते हैं ? इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि जैसा पूर्व पुरुषों में शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदन ज्ञान होता था वैसा इस समय नहीं है किंतु योग्य धर्मध्यान होता है। अर्थात् आज शुक्लध्यानी मुनि नहीं है किंतु धर्मध्यानी मुनि हैं ही हैं।

निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो भूतार्थ का आश्रय लेने वाले हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। इस बात को ग्यारवीं गाथा में कहकर आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी तत्काल ही बारहवीं गाथा में कहते हैं कि—निश्चयनय निर्विकल्प समाधि में रत हुये जीवों के लिये प्रयोजनवान् है किंतु निर्विकल्प समाधि से रहित प्राथमिक शिष्यों के लिये सविकल्पावस्था में मिथ्यात्व, विषय, कषाय और दुर्ध्यान को हटाने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है।

'परमभावदर्शियों द्वारा शुद्धनय का उपदेश करने वाला निश्चयनय जानने योग्य है। पुनः जो अपरम भाव में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।' इसमें अमृत-चन्द्रसूरि कहते हैं कि व्यवहारनय प्रयोजनवान् है क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इसी प्रकार से व्यवस्थित है। जयसेनस्वामी ने 'अपरमे' का अर्थ किया है कि 'अशुद्धे' असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से अथवा सरागसम्यग्दृष्टि लक्षण शुभोपयोग में जो कि प्रमत्त और अप्रमत्त संयत की अपेक्षा से भेदरत्नत्रय स्वरूप है ऐसे अपरम भाव में जो स्थित हैं उन्हें व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। इससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि चौथे से सातवें गुणस्थान तक व्यवहारनय का अवलंबन लेना पड़ता है। अतः—

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा व्यवहारणिच्छये मुणह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

यदि आप जिन वचन को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय में मोह को प्राप्त मत होवो क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा। पुनः अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—स्यात्पद से चिन्हित उभयनय के विरोध को ध्वंस करने वाले जिनेंद्र भगवान् के वचनों में जो रमण करते हैं वे शीघ्र ही मोह रहित परम समयसार को प्राप्त कर लेते है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्, अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं।

पृथगथ विलसत स्व समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥

हे भव्य! तू किसी भी तरह से मर पच करके भी तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ इस शरीरादि मूर्त द्रव्य को एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक अपना पड़ौसी मानकर आत्मा का अनुभव कर! जिससे कि अपने आत्मा के विलास रूप सर्व परद्रव्य से पृथक् देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके।

स्तुति शरीर की है या आत्मा की ?—

शिष्य—**यदि जो जीव है वह शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति करना मिथ्या हो जावेगा, इसलिये शरीर ही आत्मा है।**

आचार्य—**नहीं। तुमने नयविवक्षा को समझा नहीं है। देखो! व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव और शरीर एक है किंतु निश्चयनय की अपेक्षा से दोनों एक नहीं हैं। जैसे सुवर्ण और चांदी को गलाकर एक करने से एक पिंड का व्यवहार होता है। उसी तरह आत्मा और शरीर एक जगह रहते हैं—दूध और पानी के समान एकमेक हो रहे हैं इसलिये इन दोनों में एकत्व नहीं है। ऐसा नय विभाग है। इस कारण व्यवहारनय से शरीर की स्तुति करने से ही आत्मा की स्तुति हो जाती है। तथाहि—**

द्वौ कुंदेंदुतुषार हारधवलौ द्वाविंद्रनीलप्रभौ।

द्वौ बंधूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ ॥

शेषाः षोडशजन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः।

ते सज्ज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छंतु नः ॥

चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत ये दो तीर्थंकर कुंद पुष्प के सदृशवर्ण वाले हैं।

मुनिसुव्रत और नेमिनाथ दो तीर्थंकर इंद्रनील मणि सदृश वर्ण वाले हैं।

पद्मप्रभ और वासुपूज्य ये दो तीर्थंकर लाल-कमल जैसे वर्ण वाले हैं।

सुपार्श्व और पार्श्वनाथ दो तीर्थंकर प्रियंगु हरित वर्ण वाले हैं एवं शेष सोलह तीर्थंकर तपाये हुये स्वर्ण वर्ण सदृश हैं ये तीर्थंकर जन्म मृत्यु से रहित, सम्यग्ज्ञान पूर्ण ज्ञानरूपी सूर्य हैं देवों द्वारा नमस्कृत हैं। ये तीर्थंकर हमें सिद्धि प्रदान करें। इस तरह शरीर के आश्रित स्तुति तीर्थंकरों की स्तुति कहलाती है तथा पुण्यबंध में कारण है।

निश्चयस्तुति—

निश्चयनय से केवली भगवान् के गुणों की स्तुति करना ही केवली भगवान् की स्तुति है जब आत्मा स्वपर का भेद विज्ञान कर लेता है तब पर को छोड़ने का प्रयत्न करता है

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि—मोह मेरा कोई संबंधी नहीं है। एक उपयोग ही मैं हूँ—मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव हूँ। अर्थात् मोह कर्म जड़ है, इसका उदय कलुषभाव रूप है सो इसका भाव भी पुद्गल का विकार है। यह जब चैतन्य के अनुभव में आता है तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादि भावरूप मलिन दीखता है। जब इस जीव को इसका भेद विज्ञान हो जाता है तब यह जीव रागद्वेषादि भावों से अपने उपयोग को हटा कर अपने आप अपनी आत्मा में स्थिर होता है। यही पुरुषार्थ आत्मा को शुद्ध बनादेता है।

यह आत्मा विचार करता है कि—

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निश्चय से सदा काल अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप से परिणत हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी पर द्रव्य मेरा कुछ भी नहीं है। इस अवस्था विशेष के प्राप्त हो जाने पर स्वरस से ऐसा महान् ज्ञान प्रगट होता है कि जिससे यह जीव मोह को जड़-मूल से उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् पुनः उसका अंकुर उत्पन्न न हो सके ऐसा नाश कर देता है।

ऐसा कभी नहीं होता है कि इस जीव को भेद विज्ञान हो जावे फिर भी यह पर-वस्तु का त्याग न कर सके, अर्थात् भेद विज्ञान के बाद विषय कषायों का त्याग करके यह जीव अपनी आत्मा के आनंद का अनुभव कर लेता है।

मिथ्यादृष्टि की भिन्न-भिन्न कल्पनायें––

शिष्य—हे भगवान् ! आत्मा के असाधारण लक्षण को न जानने वाले अज्ञानी जन पर को आत्मा मान लेते हैं तो उनकी क्या-क्या कल्पनायें होती हैं ?

आचार्य—उन लोगों को अनेक प्रकार की कल्पनायें हैं। सुनो ! कोई तो रागादि से मलिन-विभाव परिणाम को ही जीव कहते हैं। कोई कर्म को ही जीव कहते हैं। कोई परिणामों में होने वाले तीव्र मंद आदि अनुभाग परंपरा को ही जीव कहते हैं। कोई नवीन, पुरानी अवस्था आदि से प्रवर्तमान शरीरादि नोकर्म को ही जीव कहते हैं। कोई पुण्य पाप के उदय को ही जीव कहते हैं। कोई तीव्र मंदादि रूप से सुख दुःख के अनुभव को ही जीव कहते हैं। कोई आत्मा और कर्म की मिश्रित अवस्था को ही जीव कहते हैं। कोई कर्म के संयोग को ही जीव कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप से ये आठ प्रकार कहे हैं और भी अनेक प्रकार से पर को आत्मा कहने वाले लोग हैं जो मिथ्यादृष्टि कहलाते है।

शिष्य—हे गुरुदेव ! इस सभी मान्यताओं में जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

आचार्य—हे भव्य ! जीव और अजीव दोनों ही अनादि काल से एक क्षेत्रावगाह रूप मिल रहे हैं और अनादि से ही पुद्गल के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थायें हो रही है। यदि परमार्थ से देखा जाय तो जीव अपने चैतन्य भाव को नहीं छोड़ता है और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़भाव को नहीं छोड़ता है। परमार्थ को न जानकर संयोग जन्य भावों को ही जीव मान लेना गलत है। इन आठ प्रकारों में जो भी रागादि परिणाम हैं और जो भी कर्म नोकर्म आदि अवस्थाये हैं। कुछ जीव के विभाव भावरूप और कुछ पुद्गल से ही निर्मित हैं। चैतन्य स्वभाव से भिन्न हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्णरसादि तथा गुणस्थान, मार्गणा आदि जीव के है और निश्चयनय से ये भाव जीव के नहीं हैं जीव का वास्तविक स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय है। ऐसा समझो।

कर्ता-कर्म अधिकार––

जीव और अजीव दोनों ही यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से कर्ताकर्म भाव से रहित हैं तथापि व्यवहारनय से कर्ताकर्म भाव से संसार में भ्रमण कर रहे हैं। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि—जब तक यह जीव आत्मा और आस्रव इन दोनों के भेद को—भिन्न-भिन्न

लक्षण को नहीं जानता है तब तक वह अज्ञानी हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवृत्ति करता है। क्रोधादि रूप परिणमन करने से कर्मों का संचय हुआ करता है। अर्थात् यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभाव रूप परिणमन करता है उसी प्रकार क्रोधादि रूप भी परिणमन करता है। क्रोधादिरूप परिणमन करता हुआ आप तो कर्ता है और वे क्रोधादि इसके कर्म हैं। अनादि अज्ञान से कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है और कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से बंध होता है।

जब इस जीव को अपना और आस्रवों का भिन्न-भिन्न लक्षण मालूम हो जाता है उसी समय उसके बंध नहीं होता।

शिष्य—ज्ञान मात्र से ही बंध का निरोध हो जाता है सो कैसे ?

आचार्य—आश्रव अशुचि हैं, जड़ हैं दुःख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है। ऐसे दोनों को लक्षण के भेद से भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। तब उसके कर्म का बंध नहीं होता है। जब यह जीव स्वसंवेदन ज्ञान के अनंतर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकाग्र परिणतिरूप परमसामायिक में स्थित होकर क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध होता है ऐसा कहने से एकांत से सांख्यादि मत का प्रवेश नहीं होता है क्योंकि ज्ञान के साथ सम्यक्त्व और चारित्र मौजूद हैं। देखो !

प्रश्न यह होता है कि आत्मा और आस्रव संबंधि जो भेदज्ञान है वह रागादि से रहित है या नहीं ? यदि रहित है तब तो उस भेदज्ञान में अभेदनय से वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व आ जाते हैं इसलिये सम्यग्ज्ञान से ही बंध निरोध की सिद्धि है ऐसा कह देते हैं। यदि आप कहें कि वह भेद ज्ञान रागादि से रहित नहीं है तब तो वह सम्यग्ज्ञान ही नहीं है। सारांश यह निकलता है कि यदि आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान आस्रव से निवृत्त नहीं है तो वह ज्ञान ही नहीं कहलाता है। ज्ञान से बंध का अभाव होता है मतलब मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर जब वीतराग चारित्र के साथ अविनाभूत भेदज्ञान प्रगट होता है तभी बंध का अभाव होता है। यह अवस्था दसवें गुणस्थान के बाद प्रगट होती है। उसके पहले जितने-जितने अंशों में रागादि का अभाव होता जाता है उतने-उतने अंशों में बंध का भी अभाव होता जाता है ऐसा समझना चाहिये।

शिष्य—किस विधि से यह आस्रव से निवृत्त होता है ?

आचार्य—अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

ज्ञानी विचारता है कि मै निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ, ऐसे स्वभाव में स्थित, उसी चैतन्य अनुभव में लीन हुआ इन क्रोधादि आस्रवों का क्षय कर देता है ।

नवपदार्थ व्यवस्था—

शिष्य—हे गुरुदेव ! आपने पहले जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन पदार्थों का वर्णन किया है । पुनः यदि आप जीव, अजीव पदार्थ को नित्य और अपरिणामी मानोगे तो दो ही पदार्थ सिद्ध होंगे और यदि दोनों को परिणामी मानोगे तो दोनों के तन्मय हो जाने से एक ही पदार्थ सिद्ध होगा ?

आचार्य—ऐसी बात नहीं है । देखो ! जैन-सिद्धांत में ये दोनों द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं और तभी नव पदार्थ की व्यवस्था बनती है अन्यथा नहीं बन सकती ।

शिष्य—हे भगवन् ! सज्ञानी और अज्ञानी जीवों का लक्षण क्या है ?

आचार्य—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है फिर भी व्यवहार से कर्म के उदय से रागादि रूप औपाधिक परिणाम को ग्रहण करता है इसलिये यह कथंचित् परिणामी भी है । कभी यह जीव बहिरात्मा होकर विषय कषाय रूप अशुभ उपयोग को करता है तो कभी वही जीव भोगाकांक्षा निदान रूप शुभ उपयोग को भी करता है । उस समय यह द्रव्यभावरूप पुण्य, पाप, आस्रव, बंध पदार्थों का कर्ता होता है । उनमें भावरूप पुण्यादि जीव के परिणाम हैं और द्रव्यरूप पुण्यादि अजीव के परिणाम हैं । यही जीव कभी सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा होकर निश्चय रत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चय चारित्र के साथ अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम परिणति को करता है, तब उस परिणाम में संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है । कदाचित् पुनः निर्विकल्प समाधि के अभाव में विषय कषाय को दूर करने के लिये अथवा शुद्धात्म भावना की सिद्धि के लिये ख्याति,

पूजा, लाभ भोगाकांक्षा निदान बंध से रहित होता हुआ शुद्धात्मलक्षण अर्हंत, सिद्ध, और शुद्धात्मा के आराधक, प्रतिपादक तथा साधक आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंचपरमेष्ठियों के गुण स्मरण आदिरूप शुभोपयोग परिणाम को करता है। अर्थात् जैसे कोई पुरुष अपनी स्त्री के निमित्त से बाहर से आये हुये व्यक्ति से उसकी बात पूछता है उसका सम्मान आदि भी करता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मा की उपलब्धि के लिये शुद्धात्मा के आराधक आदि आचार्य उपाध्याय साधुओं की भी भक्ति पूजा आदि करता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव भी कथंचित् कर्ता माना गया है सर्वथा नहीं। ऐसे यहां ज्ञानी अज्ञानी का संक्षिप्त वर्णन किया है।

जीव अपने भावों का कर्त्ता है—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सय पुग्गलं दव्वं ।।९१।।

आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव का कर्ता आप होता है। उसके कर्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप परिणमन कर जाते हैं। अर्थात् जब यह आत्मा रागद्वेष और मोहरूप से परिणत होता है तब आप उन भावों का कर्ता होता है और उसके रागादि भावों को निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणत हो जाते हैं। कर्म का उपादान पुद्गल द्रव्य ही है और रागादि भावों का उपादान आत्मा है। इसलिये जब यह आत्मा रागद्वेष मोह परिमाणों को नहीं करता है तब कर्मों का बंध नहीं होता है।

कोई जीव वीतराग परमसामायिक परिणत शुद्धोपयोग लक्षण भेद ज्ञान को प्राप्त न होने से क्रोधादि भाव और शुद्धात्मा में भेद को नहीं समझता हुआ कर्मों का कर्ता होता है तथा वही जीव सुख-दुःख आदि में परमसमताभावना रूप शुद्धोपयोग लक्षण भेद-ज्ञान के अभाव से धर्म-अधर्म आदि ज्ञेय पदार्थ और शुद्धात्मा में भेद को नहीं जानता हुआ 'धर्मास्तिकाय मैं हूँ' इत्यादि विकल्प हो करता है और उस विकल्प से द्रव्य कर्मों का बंध हो जाता है।

शिष्य—हे भगवन्! यदि 'यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है' इत्यादि ज्ञेय तत्त्व का विचार करने पर कर्मबंध होता है तब तो ज्ञेय तत्त्व का विचार व्यर्थ ही है उसका विचार नहीं करना चाहिये?

आचार्य—ऐसी बात नहीं है। तीन गुप्ति से परिणत निर्विकल्प समाधि के समय में यद्यपि ज्ञेयतत्त्व का विचार नहीं करना चाहिये। फिर भी त्रिगुप्तिरूप निर्विकल्प ध्यान के अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय करके तथा आगम भाषा में मोक्ष को उपादेय करके सराग सम्यक्त्व में विषयकषाय को छोड़ने के लिये ज्ञेयतत्त्व का विचार अवश्य करना चाहिये। क्योंकि इस ज्ञेयतत्त्व के विचार से मुख्यतया पुण्य बंध होता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्ति होती है इसलिये कोई दोष नहीं है। किन्तु तत्त्व का विचार करते समय वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से परिणत शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा समझना।

शिष्य—हे गुरुदेव! वीतराग स्वसंवेदनज्ञान के विचार के समय में वीतराग विशेषण आप बार-बार क्यों देते हैं क्या सराग भी स्वसंवेदन ज्ञान होता है?

आचार्य—हां! विषय सुखों के अनुभव से उत्पन्न हुआ आनन्दरूप स्वसंवेदन ज्ञान सराग भी है जो कि सर्वजन सुप्रसिद्ध है। और शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये। इस शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्ज्ञान से कर्तृ कर्मत्व भाव समाप्त हो जाता है। सार यह निकला कि जब यह जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणत होता है तब अज्ञान भाव (भावकर्म) का कर्ता होता है और उससे कर्मों का बंध होता है। और जब यह जीव वीतराग परमसामायिक रूप अभेदरत्नत्रय से परिणत होता है तब उसके भावकर्म का बंध न होने से द्रव्य कर्म का बंध भी नहीं होता है। और—

'एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं।'

इस प्रकार से जो वस्तु स्वरूप को जानता है वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ पहले अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है। अनंतर निश्चय चारित्र के साथ अविनाभावी वीतरागसम्यग्दृष्टि होता हुआ शुभ अशुभरूप समस्त कर्म के कर्तृत्व से छूट जाता है। आज हम अशुभ कर्म के कर्तापने को ही छोड़ सकते हैं। शुभकर्म के कर्तापने से अलग नहीं हो सकते हैं। अतः सबसे पहले अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

आत्मा क्रोधादि भावकर्म से कथंचित् भिन्न है—

शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता भोक्ता नहीं है और क्रोधादि से भिन्न है।

व्यवहारनय से कर्मों का कर्ता, भोक्ता भी है और क्रोधादि से अभिन्न है। जो परस्पर सापेक्षनय विभाग को नहीं मानते हैं वे सांख्यादि मत का अनुसरण करते हैं उनके मत से जिस प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अकर्ता आदि है वैसे ही व्यवहारनय से भी अकर्ता आदि है तब तो क्रोधादि रूप परिणमन न करने से सिद्धों के समान इस जीव के भी कर्मों का बंध नहीं होगा। कर्मबंध के अभाव में संसार का अभाव हो जावेगा और संसार के अभाव में यह जीव हमेशा मुक्त (सदा शिव) ही बना रहेगा, किन्तु यह बात तो प्रत्यक्ष में विरुद्ध है संसार तो प्रत्यक्ष से ही दिख रहा है।

भगवान् कुन्द कुन्द देव स्वयं कह रहे हैं—

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

जीव द्रव्य को सर्वथा अपरिणामी मानने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं कि 'तेरी बुद्धि में यदि यह जीव कर्मों' से आप तो बंधा नहीं है और क्रोधादि भावों से आप परिणमन नहीं करता है तो यह जीव अपरिणामी हो जावेगा और ऐसा होने पर संसार का अभाव हो जावेगा तथा सांख्यमत का प्रसंग आ जावेगा। यदि आप कहें कि पुद्गल कर्म क्रोध है वह जीव को क्रोध भावरूप परिणमाता है तो आप स्वयं न परिणत हुये जीव को क्रोध कैसे परिणमा सकता है? यदि आप कहें कि आत्मा अपने आप क्रोध भाव से परिणमन करता है तो क्रोध जीव को भावरूप परिणमाता है यह कथन नहीं बनेगा। अतः सिद्धांत यह है कि आत्मा क्रोध से उपयोग सहित होता हुआ क्रोधाकाररूप परिणमता है। अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों ही परिणमनशील द्रव्य हैं और एक दूसरे के निमित्त नैमित्तिक संबंध से दोनों ही विभावरूप परिणमन भी कर रहे हैं तभी संसार बन रहा है। यदि दोनों द्रव्य सदा स्वभाव रूप ही परिणमन करें विभावरूप न करें तो संसार का अभाव हो जावेगा। और यदि सर्वथा ये द्रव्य अपरिणामी ही होवें तो सांख्यमत आ जाता है। इसलिये आचार्य ने जीव और पुद्गल इन दोनों को कथंचित् परिणामी सिद्ध करते हुये कथंचित् निमित्त नैमित्तिक संबंध से जीव को कर्मों का कर्ता भी माना है।

इन्हीं गाथाओं की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने भी कहा है कि जब यह ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग भाव से परिणत अभेदरत्नत्रयलक्षण अभेदज्ञान से परिणमन करता है तब

निश्चय चारित्र से अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टी होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में जब सराग सम्यक्त्वरूप से परिणमन करता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परम्परा से मोक्ष के लिये कारणभूत तीर्थंकर प्रकृति आदि का कर्ता होता है। (पुद्गल द्रव्य कर्म का कर्ता उपादान रूप से न होकर निमित्त मात्र से होता है।) जीव और पुद्गल को कथंचित् परिणामी मानने से ही यह व्यवस्था बनती है।

जीव कर्म से बंधते हैं, स्पर्शते हैं यह व्यवहार नय का पक्ष है। और जीव में कर्म न बंधता है न स्पर्शता है यह शुद्धनय का वचन है[1]। जीव में कर्म बंधे हुये अथवा नहीं बंधे हुये हैं इस प्रकार तो नय पक्ष है और जो इन दोनों पक्षों से दूरवर्ती है—उलंघन कर चुका है वही समयसार है।[2]

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति[3] ॥६९॥

जो पुरुषनय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरंतर स्थिर होते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शान्तचित्त हुये साक्षात् अमृत को पीते है।

अर्थात् जब तक नयों का पक्षपात रहता है तब तक वीतराग निर्विकल्प अवस्था नहीं होती है और वीतराग निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रारम्भ में नय-प्रमाण निक्षेप का पक्ष भी आवश्यक ही है। चतुर्थ, पंचम, छठे गुणस्थान तक तो सराग अवस्था में नयों के अवलंबन से वस्तु के स्वरूप को समझना चाहिये पुनः सातवें आदि गुण स्थानों में निर्विकल्पध्यान में लीन होकर नयों के पक्ष-पात को छोड़कर पूर्ण वीतरागता को प्रगट करना चाहिये।

पुण्यपाप-अधिकार—

श्रीकुंदकुंद भगवान् कर्ताकर्म अधिकार द्वारा जीव की कर्त्तव्य बुद्धि को हटाकर अब बताते हैं कि बंध की अपेक्षा पुण्य और पाप दोनों ही कर्म एक रूप हैं क्योंकि ये दोनों ही

1. जीवेकम्मंबद्धं......गाथा १४१।
2. कम्मंबद्धमबद्धं जीवे.......गाथा १४२ समयसार।
3. समयसार कलश—अमृतचंद्रसूरि।

कर्म आत्मा को बांधते ही हैं—परतन्त्र ही करते हैं। जैसे सुवर्ण की बेड़ी और लोहे की बेड़ी में बंध की अपेक्षा भेद नहीं है उसी प्रकार कर्म में भी बंध की अपेक्षा भेद नहीं है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ, पंचम और छठे गुण स्थान तक शुद्धोपयोग रूप शुद्ध परिणाम में परिणत नहीं हो पाते हैं तब तक वे शुभोपयोगी, पंचगुरु भक्ति, दया, दान आदि में प्रवृत्ति करते हैं किन्तु उसके फलस्वरूप संसार के अभ्युदयों की कामना नहीं करते हैं यही सोचते हैं कि मेरा यह पुण्य शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान को प्राप्त कराने में सहकारी कारण होगा क्योंकि शुद्धोपयोग के बिना कर्मों की निर्जरा और मोक्ष नहीं है तथा अशुभ से हटकर शुभ में आये बिना शुद्धोपयोग भी संभव नहीं है। मुनिव्रत को धारण करके अंतरंग बहिरंग तपश्चर्या के द्वारा शरीर से निर्मम होने वाले मुनिराज ही शुद्धोपयोगी बन सकते हैं साधारण सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक कभी भी शुद्धोपयोग को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हाँ ! इतना अवश्य है कि सम्यग्दृष्टी की सभी धर्म क्रियायें कर्मक्षय की भावना से होती हैं। इसलिये पुण्यबंध की तथा उसके फलों की इच्छा नहीं करता है फिर भी अनिच्छा से ही उसे साम्राज्य पद, इंद्रपद, आदि प्राप्त हो जाते हैं और परम्परा से वह तीर्थंकर जैसे महान् पद को भी प्राप्त कर लेता है किन्तु इच्छा करने वाला व्यक्ति इन महान् पदों से वंचित ही रह जाता है।

"रागी जीव तो कर्मों को बांधता है और जो विरक्त है वह कर्मों से छूट जाता है यह जिन भगवानों का उपदेश है इस कारण हे भव्य जीवों! तुम कर्मों में प्रीति मत करो[1]।" जो जीव व्रत और नियम को धारण करते हैं तथा शील और तप को भी करते हैं किन्तु परमार्थभूत, ज्ञान स्वरूप आत्मा से बाह्य है वे मोक्ष को नहीं पा सकते।

प्रश्न—व्रत नियम आदि करने वाले के यदि आत्म ज्ञान नहीं है तो मोक्ष नहीं हो सकता और यदि आत्मज्ञान है तो व्रत तपश्चरण आदि के बिना भी मोक्ष हो जाता है तो फिर संकल्प विकल्प से रहित जीव यदि विषयों में प्रवृत्ति करते हैं तो भी उन्हें पाप नहीं होता। तथा तपश्चरण आदि के बिना भी मोक्ष हो जाता है ऐसा जो सांख्य, शैवमतानुसारी कहते हैं उनका कहना भी सिद्ध ही हो जाता है।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि निर्विकल्परूप, त्रिगुप्ति समाधि लक्षण भेदज्ञान

1. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग सपत्तो। ऐसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥ समयसार

से सहित महामुनियों को ही मोक्ष होता है ऐसा बहुत बार कहा है और इस प्रकार के भेद-विज्ञान के समय शुभरूप जो मन वचन काय के व्यापार हैं जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण हैं वे भी नहीं हैं पुनः अशुभ विषयकषायरूप व्यापार कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् वे तो विशेष रूप से नहीं हैं । [1]चित्त में स्थित रागभाव के विनष्ट हो जाने पर बहिरंग में विषय व्यापार नहीं दिख सकता है । जैसे तंदुल की अभ्यंतर ललाई के समाप्त हो जाने पर बहिरंग छिलका समाप्त ही हो गया है । अर्थात् चावल के ऊपर का छिलका पहले हटता है पुनः अन्दर की ललाई दूर होती है । क्योंकि निर्विकल्पलक्षण भेदविज्ञान और विषयकषाय व्यापार इनका परस्पर में विरोध है ।

यहां निष्कर्ष यह निकलता है कि आरम्भ में विषयकषायरूप प्रवृत्ति को छोड़कर मुनि पद धारण करना चाहिये पुनः व्रत तपश्चरण आदि को करते हुए सर्वथा रागभाव से रहित होते हुए निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर पुण्यबंध से भी छूटकर कर्मों का क्षय करना चाहिए । उसके पूर्व की अवस्था में अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्त होते हुए भी आत्मा की शुद्धि का ही लक्ष्य रखना चाहिए ।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है और उन जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि का त्याग चारित्र है । यही मोक्ष का मार्ग है । यह व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधक है और निश्चय रत्नत्रय के आश्रित महान् यतीश्वरों के ही कर्मों का क्षय होता है । अतः भेद रत्नत्रय को प्राप्त कर अभेद–निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करने की भावना करनी चाहिये ।

परमार्थ स्वरूप मोक्ष का कारण—

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान तो सम्यक्त्व है और उन जीवादि पदार्थों का अधिगम वह ज्ञान है तथा रागादि का त्याग वह चारित्र है, यही मोक्ष का मार्ग है[2] ।

प्रश्न—रत्नत्रय को मोक्ष मार्ग कहा किंतु रत्नत्रय तो आत्मा का स्वभाव ही है अतः वह सर्वदा ही विद्यमान है ?

---

2. न हि चित्तस्य रागभावे विनष्टे सति बहिरंगविषयव्यापारो दृश्यते । समयसार टीका पृ० २१७.

2. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

उत्तर—सर्वथा ऐसा नहीं है क्योंकि रत्नत्रय के आच्छादक कर्म हैं उसी को स्वयं भगवान् कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। उस मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनवर ने कहा है उसके उदय से यह जीव अज्ञानी होता है। चारित्र का प्रतिबंधक कषाय है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसके उदय से यह जीव अचारित्री हो जाता है ऐसा जानना चाहिये[1]।

प्रश्न—हमने सुना है कि कर्म का उदय जीव का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता है क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता ?

उत्तर—सर्वथा यह एकांत नहीं है इसी बात को भगवान् कुंदकुंददेव के शब्दों से ही स्पष्ट कर लीजिये, कि कर्म के उदय से ही जीव के मिथ्यात्वादि परिणाम होते हैं। एक द्रव्य उपादानरूप से अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं किंतु निमित्तरूप से है ही, जैसे कुंभकार घट बनाने में उपादान कर्ता नहीं है किंतु निमित्तरूप से अवश्य है वैसे ही कर्म का उदय जीव को उपादानरूप से जड़ नहीं बनाता किन्तु परिणामों को विकृत करने में निमित्त बन जाता है।

अतः—मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति ये।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंद–मंदोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवतः स्वयं।
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥१११॥

जो कोई कर्मनय के अवलंबन में तत्पर हैं अर्थात् एकांत से क्रिया कांड में ही लगे रहते हैं वे डूब जाते हैं क्योंकि ज्ञान से शून्य हैं और कोई जब ज्ञाननय के पक्षपाती हैं वे भी डूब जाते है क्योंकि क्रियाकांड को छोड़कर अत्यंत स्वच्छंद होते हुए प्रमादी हो जाते हैं। किन्तु जो आप निरंतर ज्ञानरूप हुए कर्म को तो करते नहीं है तथा प्रमाद के वश में भी नहीं होते हैं, अपने स्वरूप में उत्साहवान् हैं वे सब लोक के ऊपर तैरते हैं

1. सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं। तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं। तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्ध कसाय जिणवरेंहि परिकहियं। तस्योदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥ समयसार

अर्थात् जो पुण्य-पाप क्रियाओं से सर्वथा छूटकर ध्यान में लीन होते हैं और जब ध्यान से उतरते हैं तब शुभरूप आवश्यक क्रियाओं में जाग्रत रहते हैं, वे ही निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर कारणसमयसाररूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कर कार्यसमयसाररूप केवली हो जाते हैं। पुनः वे ही तीन लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जाते हैं। इसलिये एकांत से पुण्य का निषेध नहीं है किंतु शुद्धोपयोग में पहुँचने तक पुण्यग्राह्य है।

आस्रव अधिकार—

सम्यग्दृष्टी के कर्मों का आस्रव नहीं होता है।

प्रश्न—हे भगवन्! ज्ञानी के कर्मों का आस्रव होता है या नहीं?

उत्तर—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव के भेद चेतन और अचेतन के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाते है। रागद्वेषादि परिणाम जीव के विकार हैं और ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल के विकार हैं। द्रव्य कर्म का उदय होने पर जब यह जीव रागादि भाव से परिणमन करता है तब आस्रव बंध होता है, कर्म के उदय मात्र से ही बन्ध नहीं होता है यदि उदय मात्र से बंध माना जाय, तब तो संसारी जीवों के सदा ही कर्म का उदय विद्यमान है।

प्रश्न—तब तो कर्म का उदय बंध में कारण नहीं है, फिर क्या है?

उत्तर—निर्विकल्प समाधि से रहित जीवों के मोह सहित कर्मों का उदय व्यवहारनय से बंध में निमित्त है। निश्चयनय से अशुद्ध उपादान कारणरूप अपने रागादि परिणाम ही बंध के कारण हैं। हां, इतना अवश्य है कि द्रव्य कर्म के बिना भाव कर्म (रागादि भाव) होना असंभव है अतः द्रव्य कर्मों का उदय निमित्त कारण माना गया है।

आचार्यश्री स्वयं कहते हैं—सम्यग्दृष्टी के आस्रव बंध नहीं है किंतु आस्रव का निरोध है और जो पहले के बांधे हुये कर्म सत्ता में मौजूद हैं उनको आगे नहीं बांधता हुआ वह जानता है। "जीव[1] का जो भाव रागादि सहित है, वही नवीन कर्मों का बंध करने वाला कहा गया है और जो भाव रागादि रहित वीतराग है वह अबंधक है केवल ज्ञायक मात्र है।" अर्थात् सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सराग और वीतराग। जो सराग सम्यग्दृष्टी चतुर्थ गुणस्थान में है वह मिथ्यादृष्टी की अपेक्षा तेतालीस प्रकृतियों का अबंधक

---

1. भावो रागादिजुदो जीवेण कदा दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबधगो जाणगो णवरि॥१६७॥ समयसार

है और सत्तर प्रकृतियों के अल्प स्थिति अनुभागरूप बंध को करने वाला होता हुआ संसार स्थिति का छेद करने वाला है अतएव वह इस दृष्टि से अबंधक है। उसी प्रकार आगे के गुणस्थानों में भी नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा तरतमता से अबंधक है, ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा से बंधक है। और वीतराग सम्यक्त्व के हो जाने पर अर्थात् बारहवें गुणस्थान में साक्षात् अबंधक है क्योंकि वहां पर मोहनीय कर्म के अभाव में रागादि भाव नहीं हैं। इसलिये "मैं सम्यग्दृष्टी हूं मुझे सर्वथा बंध नहीं होता है"[1] ऐसा नहीं कहना चाहिये।

प्रश्न—ज्ञानी का ज्ञान गुण परिणाम बंध का कारण कैसे होगा ?

उत्तर—यथाख्यात चारित्र के पहले-पहले ज्ञान गुण कषाय सहित होने से जघन्य-हीन कहलाता है[2] अतः यह जीव अंतर्मुहूर्त से अधिक निर्विकल्प समाधि ध्यान में स्थित नहीं हो सकता है। इसलिये वह ज्ञान गुण सविकल्प भावरूप से परिणत हुआ कषाय से सहित होने से बंधक होता है।

प्रश्न—संसार की स्थिति को घटाने वाले क्या-क्या कारण हैं ?

उत्तर—द्वादशांग[3] का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति परिणाम और केवली-समुद्घात ये संसार स्थिति के घात के कारण हैं। द्वादशांग श्रुत का ज्ञान व्यवहार से बाह्य विषयक है, और निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन लक्षण रूप है। भक्ति को यहाँ सम्यक्त्व कहा है वह व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टी के पंच परमेष्ठी की आराधना रूप है, और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्धात्म तत्त्व की भावनारूप है। अनिवृत्ति-शुद्धात्म स्वरूप से च्युत न होना, एकाग्र परिणतिरूप परिणाम है। यहाँ 'द्वादशांग का ज्ञान' से निश्चय व्यवहार ज्ञान हो गया, भक्ति से निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व हो गया; अनिवृत्ति परिणाम से सराग चारित्र के अनंतर का वीतराग चारित्र आ गया। इस प्रकार छद्मस्थ जीवों के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेद, अभेद रत्नत्रय रूप से संसार की स्थिति का घात

1. "वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं।" (टीका तात्पर्यवृत्ति)

2. "स तु यथाख्यातचारित्रवस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।" आत्मख्याति टीका, श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत। गाथा १७१ मे

3. द्वादशांगावगमस्तीव्रभक्ति·········समयसार टीका, जयसेनाचार्य। पृ० २४३।

करने वाले माने गये हैं। तथा केवली भगवान् के दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण रूप केवली समुद्घात् संसार के नाश का कारण हैं और राग द्वेष मोह ही बंध के कारण हैं।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टी के राग द्वेष मोह है या नहीं ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टी के राग द्वेष मोह नहीं हैं, क्योंकि राग द्वेष मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टिपना बन नहीं सकता, अतः सम्यग्दृष्टी के द्रव्यास्रव बंध के कारण नहीं हैं[1]।

अनंतानुबंधी[2] क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टी के नहीं हैं, क्योंकि केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप परमात्मा को उपादेय मानकर सप्ततत्त्वादि की श्रद्धारूप तथा शंकादि पच्चीस मल दोष रहित और संवेग, निर्वेद आदि आठ गुण सहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सराग सम्यक्त्व अन्यथा हो नहीं सकता अर्थात् सप्ततत्त्वादि श्रद्धारूप सम्यक्त्व के होने पर अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के निमित्त से होने वाला राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टी के नहीं है।

ऐसे ही अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों से उत्पन्न हुये राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टी के नहीं हैं। क्योंकि पंचम गुणस्थान के योग्य देश चारित्र का अविनाभावी सराग सम्यक्त्व देशव्रती में देखा जाता है। अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायों से होने वाला राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टी के नहीं है, क्योंकि छठे गुणस्थानरूप सरागचारित्र के साथ अविनाभावी सम्यक्त्व अन्यथा (अन्य प्रकार से) हो नहीं सकता है। अनंतानुबंधी आदि बारह कषाय और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ के तीव्र उदय से होने वाला तथा प्रमाद को उत्पन्न करने वाला राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टी के नहीं है, क्योंकि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा को उपादेय मानकर उस योग्य स्वकीय शुद्धात्म समाधि से उत्पन्न सहजानंद एक लक्षण सुखानुभूति मात्र ही जिसका एक स्वरूप है ऐसे अप्रमत्त आदि गुणस्थान में होने वाले वीतराग चारित्र का अविनाभूत वीतराग सम्यक्त्व अन्यथा (अन्य प्रकार से) हो नहीं सकता।

---

1. रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥ समयसार

2. समयसार गाथा १७७, १७८ की टीका, जयसेनाचार्यकृत पृ० २४५।

यहाँ यह अर्थ है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व है और चतुर्थ गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्व नहीं है। वहाँ उन कषायों से होने वाला राग द्वेष मोह भी असंभव है पुनः उस कषाय के निमित्त से होने वाला आस्रव भी नहीं है। ऐसे ही सातवें से लेकर दशवें तक वीतराग सम्यक्त्व के होने से वहाँ पर अनंतानुबंधी से लेकर बारह कषाय और संज्वलन का तीव्र उदय इन निमत्तक राग द्वेष मोह नहीं हैं, अतः उन उन निमित्तक आस्रव भी नहीं है। आगे ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम या क्षय हो जाने से पूर्णवीतरागता हो जाने से रागद्वेष मोह है ही नहीं, अतः वहाँ आस्रव बंध भी नहीं है। क्योंकि प्रकृति और प्रदेश बंध तो योग से होते हैं तथा स्थिति, अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। कषाय के अभाव में स्थिति अनुभाग बंध न होने से प्रकृति प्रदेश बंध होकर भी जीव का कुछ बिगाड़ नहीं कर पाते हैं। यों तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान को भी ईर्यापथआस्रव और एक समय की स्थिति वाला बंध माना है। किंतु उस आस्रव बंध का कोई मूल्य नहीं है।

रागादीनां झगिति विगमाग् सर्वतोप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परम वस्तु सपश्यतोंऽतः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावाना-
लोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

अर्थ—रागादि आस्रवों के क्षणमात्र में दूर होने से नित्य उद्योत रूप कुछ एक अद्वितीय परम वस्तु को अंतरंग में अवलोकन करने वाले पुरुष का यह ज्ञान अति विस्तार रूप फैलता हुआ अपने निज रस के प्रवाह से सब लोक पर्यंत अन्य अन्य भावों को अंतर्मग्न करता हुआ उदय रूप प्रगट हुआ। कैसा है ज्ञान ? अचल है अर्थात् ज्यों के त्यों सब पदार्थ जिसमें प्रतिभासित हैं फिर कैसा है ? जिसके बराबर दूसरा कोई नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्धनय का अवलंबन लेकर जो महापुरुष अपने अंतरंग में शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु का एकाग्रचित होकर अनुभव करते हैं। उनके सब रागादि भाव (आस्रव) दूर हो जाते हैं और सब पदार्थों को प्रकट करने वाला दिव्य केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

संवर अधिकार—

अनादि काल से संवर आस्रव का विरोधी है उसको आस्रव ने जीत लिया था, अब भेदविज्ञानरूप ज्योति अपने स्वरूप में निश्चल होती हुई आस्रव का तिरस्कार कर संवर को प्रगट करती है।

प्रश्न—भेदविज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—उपयोग तो चैतन्य का परिणमन है वह ज्ञान स्वरूप है और क्रोधादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नो कर्म ये सब पुद्गल द्रव्य के ही परिणाम हैं, जड़ हैं इनके और ज्ञान के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये इन दोनों में अत्यन्त भेद है। इस भेद को जानना ही भेद विज्ञान है। और इस भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति से ही संवर होता है। उसी का स्पष्टीकरण—

'शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही पाता है।'

प्रश्न—संवर किस प्रकार से होता है ?

उत्तर—"जो जीव अपनी आत्मा को अपने द्वारा पुण्य-पाप रूप, शुभाशुभ योगों से रोक करके-हटा करके अपने आपको दर्शन ज्ञान में स्थित करता है। जो अन्य वस्तुओं से इच्छा रहित, और संपूर्ण परिग्रहों से रहित होता हुआ अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को ध्याता है तथा कर्म नोकर्म को नहीं ध्याता है और आप चेतनारूप होने से अपने एकत्व स्वरूप का अनुभव करता है वह जीव अपने को अभिन्न दर्शन ज्ञानमयी होता हुआ शीघ्र ही कर्मों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लता है[1]।" शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिये आते हुये कर्मों का संवर करना-रोकना बहुत जरूरी है। सो उसी का क्रम बताते हैं।

"सर्वज्ञ भगवान ने रागद्वेष मोह रूप आस्रवों के चार हेतु बताये हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग। ज्ञानी के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव के बिना कर्म का भी निरोध होता है और कर्मों के अभाव में नोकर्मों का निरोध हो जाता है तथा नोकर्मों के अभाव में संसार का निरोध हो जाता है"[2]

इसलिये—भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

इस भेद विज्ञान को निरंतर धारा प्रवाहरूप जिसमें कि विच्छेद न पड़े इस तरह

---

1. गाथा नं० १८७, १८८, १८९ समयसार।
2. गाथा नं० १९०, १९१, १९२, समयसार।

तब तक भावे जब तक कि ज्ञान पर भावों से छूट कर अपने स्वरूप-ज्ञान में ही स्थित न हो जावे। क्योंकि—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

जो कोई सिद्ध हुये हैं वे सब इस भेद विज्ञान से ही हुये हैं और जो कर्मों से बंधे हैं वे सब इस भेद विज्ञान के अभाव में ही बंधे हैं।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं। जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं॥

गुरु के उपदेश से, अभ्यास से तथा स्वयं के अनुभव से जो स्व और पर के भेद को जान लेता है वही निरंतर मोक्ष सौख्य को जानता है।

प्रश्न—आत्मा तो परोक्ष है पुनः उसका ध्यान कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे कोई व्यक्ति उपदेश से, परोक्ष भी देवता के रूप को बनाकर देखता है, जानता है, वचन से कहता है और मन में निश्चित कर लेता है कि इस देवता का ऐसा रूप है। वैसे ही गुरु के उपदेश से भव्य जीव भी अरहंत सिद्ध सदृश आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके उसको ध्याता है और यह समझ लेता है कि मैंने आत्मा के स्वरूप को जान लिया है। इसे ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन रूप भावश्रुत ज्ञान शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से परोक्ष माना है। फिर भी इंद्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा यह स्वसंवेदन ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस कारण से स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से आत्मा परोक्ष भी है। सर्वथा आत्मा परोक्ष ही है ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्या[1] चतुर्थ काल में केवली भगवान् आत्मा को हाथ में लेकर दिखाते थे? नहीं। वे केवली भगवान् भी तो दिव्य ध्वनि के द्वारा ही कहते थे। फिर भी, दिव्यध्वनि के श्रवण काल में श्रोताओं को वह आत्मा परोक्ष ही रहती थी, पश्चात् उन्हीं को निर्ग्रंथ अवस्था में परम समाधिरूप ध्यान के समय प्रत्यक्ष अनुभव में आती थी। उसी प्रकार इस काल में भी आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है।

---

1. किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयंति?—टी० जयसेनाचार्य......समयसार।

निर्जरा अधिकार

उत्कृष्ट संवर रागादि आस्रवों के रोकने से अपनी सामर्थ्य द्वारा आगामी सभी कर्मों को मूल में दूर से ही रोकता हुआ ठहर रहा था, अब इस संवर के होने के पहले जो कर्म बंध रूप हुआ था उसे जलाने को निर्जरा रूप अग्नि फैलती है सो इस निर्जरा के प्रगट होने से ज्ञान ज्योति निरावरण होकर फिर रागादि भावों से मूर्छित नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव जो इंद्रियों से चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, यह सब ही निर्जरा के निमित्त है। अर्थात् विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये है। रागद्वेष मोह के सद्भाव में मिथ्यादृष्टी जो इंद्रियों से उपभोग करता है वह बंध के लिये ही है किन्तु राग द्वेषादि के अभाव में सम्यग्दृष्टी का उपभोग निर्जरा के लिये हो जाता है।

प्रश्न—इंद्रियों के उपभोग, रागद्वेष मोह के अभाव में निर्जरा के कारण कहे हैं और सम्यग्दृष्टी के रागादि मौजूद हैं पुनः उनके वे निर्जरा के निमित्त कैसे होंगे?

उत्तर—इस[1] ग्रंथ में वास्तव में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है, किन्तु जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि हैं उनका गौण रूप से ग्रहण हैं। तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जनित रागादि नहीं हैं। ऐसे ही आगे भी समझ लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि के संवरपूर्वक निर्जरा होती है, मिथ्यादृष्टि के गजस्नानवत् बंध पूर्वक निर्जरा होती है अर्थात् कर्म का उदय आने पर उसका फल सुख दुःख अनुभव करने के बाद पुनः उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आगे के कर्मों का बंध हो जाता है। इस अपेक्षा से ही मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को अबंधक कह दिया है।

तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥१३३॥

यह ज्ञान की ही कोई आश्चर्यकारी सामर्थ्य है अथवा विराग की ही है कि जो कर्म के फल को भोगता हुआ भी सम्यग्दृष्टि जीव कर्म से नहीं बंधता है। जैसे कुशल वैद्य विष का उपभोग करता हुआ मरण को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही ज्ञानी, पुद्गल कर्म के फल को

---

1. अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहण यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या ग्रहणं। समयसार पृ० 260, टीका जयसेनाचार्य कृत।

भोगते हुये भी निर्विकल्प समाधि-लक्षण भेदज्ञानरूप अमोघ मंत्र के बल से कर्म से नहीं बंधता है। तथा जैसे कोई पुरुष रोग के प्रतिकार के लिये मदिरा में उसके प्रतिपक्ष भूत औषधि को डालकर औषधि रूप से उसको पी लेता है। उसमें उसका प्रेम नहीं होता है। उसी प्रकार से संसार शरीर और भोगों से विरक्त परमात्मतत्त्व का ज्ञानी पुरुष पंचेंद्रिय के विषयभूत अशन पानादि द्रव्यों का उपभोग करते हुये भी जितने अंश में राग भाव नहीं करता है उतने अंश में कर्म से नहीं बंधता है और जब हर्ष विषादादि रूप समस्त विकल्प जाल रहित परम योग लक्षण भेदज्ञान के बल से सर्वथा वीतरागी हो जाता है तब सर्वथा कर्मों से नहीं बंधता है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ॥
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है क्योंकि वह अपने यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और परके त्याग की विधिकर दोनों का परमार्थ से भेद जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सर्वतः राग का योग छोड़ता है। सो यह रीति ज्ञान और वैराग्य के बिना नहीं होती है।

प्रश्न—तब तो सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता है यह बात सिद्ध हुई?

उत्तर—ऐसा नहीं है, देखो—

'सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बधो न मे स्यात्।
इत्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरंतु ॥
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

जो पर द्रव्य में रागद्वेष मोह से सहित हैं और अपने को ऐसा मानते हैं कि मैं सम्यग्दृष्टि हूं मेरे कदाचित् कर्म का बंध नहीं होता, क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं होता है ऐसा कहा है। ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व सहित ऊँचा है तथा हर्ष सहित रोमांच रूप हुआ है वे जीव भले ही व्रतादि का आचरण कर लें, किन्तु वे पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं, इसलिये सम्यक्त्व से शून्य हैं।

प्रश्न—तो क्या जो रागी हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं ?

उत्तर—हां देखिये, "जिसके हृदय में परमाणु मात्र भी राग भाव मौजूद है वह संपूर्ण आगम का पाठी होने पर भी आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को नहीं जानता वह पर को नहीं जानता है पुनः इस प्रकार से तो जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता हुआ वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है[1] ?"

प्रश्न—यदि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, तब तो चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर कुमार, भरत, सगर, राम, पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकेंगे ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, देखो ! मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तेंतालिस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होने वाले पाषाण रेखादि सदृश राग द्वेष आदि का अभाव है । पुनः पंचमगुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले भूमि रेखादि सदृश रागादि का अभाव है । और इस ग्रन्थ में पंचम[2] गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टि का मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है, सराग सम्यग्दृष्टि जीवों का गौण रूप से ग्रहण समझना चाहिये । अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें तक बुद्धिपूर्वक रागादि का अभाव होने से वीतरागता है किन्तु आगे ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में रागादि का अभाव ही हो जाने से साक्षात् वीतरागता है वे वीतराग सम्यग्दृष्टि ही साक्षात् अबंधक है । इसके नीचे कुछ न कुछ अंश में बंध है ही है ।

'श्री गुरुदेव[3] संसारी प्राणियों को संबोधन करते हुये कहते हैं कि—हे अंधे प्राणियों ! जो रागी पुरुष हैं वे अनादि संसार से लेकर जिस पद में सोते हैं उस पद को तुम अपद समझो, यह तुम्हारा स्थान नहीं है । पुनः कहते हैं कि तुम्हारा ठिकाना 'यह है, यह है' जहां चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है । अपने स्वाभाविक रस से स्थायी भाव को प्राप्त है । इस तरफ आवो, आवो यहां निवास करो ।' यहाँ दो-दो बार कहने से आचार्य की अति-करुणा और अनुराग भाव सूचित होता है ।

---

1. गाथा २०१, २०२ श्री कुंदकुंददेव (समयसार)
2. अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरिगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टिना मुख्यवृत्या ग्रहणं·············समयसार टीका, जयसेन·········पृष्ठ २७९ ।
3. आसंसारात् प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः·········समयसार कलश, १३८ वां ।

रागरहितमुनि ज्ञानी है—

ज्ञानी सब द्रव्यों में राग को छोड़ने वाला है। वह कर्म के मध्य में प्राप्त हुआ हो तो भी कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सोना। और अज्ञानी सब द्रव्यों में रागी है इसलिये कर्म के मध्य को प्राप्त हुआ कर्मरज से लिप्त होता है। जैसे कि कीचड़ में पड़े हुये लोहे को काई लग जाती है। अर्थात् हर्ष विषाद आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञानी पर द्रव्यों में रागद्वेष और मोह को नहीं करता है। इसलिये कर्मरज से लिप्त नहीं होता है किन्तु अज्ञानी संपूर्ण पंचेंद्रियों के विषयों में, पर द्रव्यों में आसक्त हुआ, उनकी आकांक्षा करता हुआ, उनमें मोहित होता हुआ कर्मरज से लिप्त होता रहता है। कहा भी है—

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं। चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ॥
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि। पक्षः परं भवति कल्मषसंश्रयस्य ॥१॥

दौर्विध्यदग्धमनसोन्तरुपात्तमुक्ते—श्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितांतरगं ॥
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे। कौतुस्कुती तव भवेत् विफला प्रसूतिः ॥२॥

अर्थ—नाना प्रकार के संकल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय लेने से तेरा मन नाना मनोरथ रूपी सागर में डूब रहा है किन्तु वास्तव में उसमें तुझे कुछ भी लाभ नहीं मिलता है। प्रत्युत पाप कर्मों का ही बंध हाथ लगता है। हे भाई! दुर्भाग्य से खाने-पीने आदि के विषय में लालायित होकर तेरा मन दौड़-धूप मचाता फिरता है, वैसे ही यदि वह परमात्मा नामक स्थान में स्फुरायमान हो जावे तब तो आपका जन्म लेना निष्फल कैसे होवे? अतः व्यर्थ की परद्रव्यों की आकांक्षा केवल पाप बंध का ही कारण है।

प्रश्न—सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती पुनः मोक्ष कैसे होगा?

उत्तर—जिस प्रकार नागफणी की जड़, हस्तिनी का मूत्र, सिंदूर द्रव्य और सीसक इन को मिलाकर अग्नि के योग में भस्त्रावायु से धमित करने पर सुवर्ण बन जाता है। यदि पुण्य का योग है तो, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान तो अग्नि है बारह प्रकार का तपश्चरण भस्त्रा है, आसन्न भव्य जीव लोहा है और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये परम औषधि हैं। भव्य जीवरूप लोहे में कर्म-द्रव्यकर्म की किट्ट संज्ञा है और रागादि विभाव परिणामों को कालिमा कहते हैं भव्यजीवरूपी लोहे के साथ सम्यक्त्वादि औषधि और ध्यान अग्नि का संयोग करके बारह प्रकार की तपरूप

भस्त्रा के द्वारा धौंकने से योगीजन अपनी आत्मा को सुवर्ण बना लेते हैं अर्थात् कर्मों से अलग कर शुद्ध सिद्ध कर लेते हैं। तात्पर्य यह निकला कि रत्नत्रयरूप औषधि ध्यानरूप अग्नि के द्वारा और तपश्चरणरूप वायु के प्रयोग द्वारा यह जीव अपनी आत्मा से संपूर्ण कर्मों को पृथक् कर देता है बस संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव जब तक निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं कर पाता है तब तक क्या करे ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि के अभाव में विषय कषायों से बचने के लिये व्रत, शील, दान, पूजादि शुभ कार्यों का अनुष्ठान करता है, उसको करते हुये भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध नहीं करता है। अतः उस पुण्यानुबंधि पुण्य से भवांतर में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, आदि के अभ्युदय को प्राप्त करके भी पूर्व भव में भावित भेदविज्ञान की भावना के बल से भोगों में आसक्ति, आकांक्षा आदि नहीं करता है पुनः शीघ्र ही दीक्षा लेकर कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि भरत, राम, पांडव आदि ने भोगों को भोग कर उन्हें त्याग कर स्वात्मसिद्धि प्राप्त की है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टी जीव में क्या-२ विशेषताएं रहती हैं ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टी में ही एक ऐसा साहस हो सकता है कि जिससे तीनों लोक चलायमान हो जाय ऐसे भयकारी वज्र के पड़ने पर भी अपने ज्ञान से चलायमान नहीं होता है, और स्वभाव से ही निर्भय होता हुआ संपूर्ण शंकाओं को छोड़कर अपने को बाधित न होने योग्य ज्ञानशरीर वाला समझते हुये अपने ज्ञान से च्युत नहीं होता है। उसे ही कहते हैं—

"सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं। इसीलिये निर्भय हैं क्योंकि वे सातभयों से रहित होने से निःशंक हैं।"[1] जो आत्मा कर्म बंध के कारण मोह को करने वाले मिथ्यात्व, अविरति-कषाय और योग इन चारों पदों को निःशंक हुआ काटता है। वह आत्मा निःशंक सम्यग्दृष्टि है। जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा सभी वस्तु के धर्मों में वांछा नहीं करता है वह आत्मा निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सभी वस्तु के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है वह जीव निश्चय कर विचिकित्सा दोष रहित सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सब भावों

1. सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभय विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

में मूढ़ नहीं होता हुआ यथार्थ दृष्टि रखता है। वह ज्ञानी जीव निश्चय कर अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि है।

जो सिद्धों की भक्ति से युक्त हो और अन्य वस्तु के सब धर्मों का गोपने वाला हो वह उपगूहनधारी सम्यग्दृष्टि है अर्थात् सम्यग्दृष्टि निश्चय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव से आत्मा की सब शक्ति बढ़ाने से उपबृंहक है। और उपगूहन शब्द का अर्थ छिपाने का है सो निश्चय से जो अपने उपयोग को सिद्ध भक्ति में लगाता है उसके अन्य धर्मों पर दृष्टि के न रहने से सभी अन्य धर्म छिप गये अतः उपगूहन अंग का पालन पूर्णतया हो रहा है। जो जीव उन्मार्ग में जाती हुई अपनी आत्मा को रत्नत्रय मार्ग में स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरणगुणसहित सम्यग्दृष्टि है।

जो जीव मोक्ष मार्ग में स्थित आचार्य उपाध्याय साधु पद सहित आत्मा में अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में वात्सल्य भाव करता है। वह वत्सलभाव सहित सम्यग्दृष्टि है। जो जीव विद्यारूपी रथ पर चढ़कर मनरूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है। अथवा जो शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूपी विद्यारथ पर चढ़कर संसार दुःख के कारणभूत मनोरथ के वेग को, चित्त की चंचलता को दृढ़ ध्यान खड्ग के द्वारा नष्ट कर देता है वह ज्ञानी जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार जो निःशंकित आदि आठ अंगों से युक्त सम्यग्दर्शन के धारी हैं। तथा निश्चय रत्नत्रय के साधक व्यवहार रत्नत्रय में स्थित हैं। निश्चय रत्नत्रय प्राप्त करने में प्रयत्नशील हैं। अथवा प्राप्त कर चुके हैं उनके पूर्व संचित कर्मों की निश्चित ही निर्जरा हो जाती है।

प्रश्न—आपने व्यवहार रत्नत्र को निश्चय रत्नत्रय का साधक क्यों कहा ?

उत्तर—वास्तव में निश्चय और व्यवहार में परस्पर में साध्य साधक भाव कहा गया है। जिस प्रकार फल के लिये फूल कारण है उसी प्रकार निश्चय के लिये व्यवहार कारण माना गया है। व्यवहार के अभाव में निश्चय रत्नत्रय का होना असंभव है। यहाँ पर जो संवरपूर्वक निर्जरा कही गई है वह सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धात्मा का सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान और उसी में अनुचरणरूप निश्चय रत्नत्रय के होने पर ही होती है और वह निश्चय रत्नत्रय शुभ—अशुभ बाह्य द्रव्यों के अवलंबन से रहित वीतराग धर्मध्यान, शुक्लध्यान-रूप निर्विकल्प समाधि में ही होता है और वह समाधि अतीव दुर्लभ है। क्यों ? क्योंकि, एकेन्द्रिय से विकलत्रय होना दुर्लभ है; उससे पंचेन्द्रिय होना, संज्ञी होना, पर्याप्तक होना,

मनुष्य पर्याय पाना, उत्तमदेश, कुल, रूप और इंद्रिय की पूर्णता प्राप्त करना, व्याधि रहित शरीर का पाना, श्रेष्ठ आयु, श्रेष्ठ बुद्धि का पाना, सद्धर्म का श्रवण, ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषय सुखों से व्यावृति, क्रोधादि कषायों की निवृत्ति होना, तप की भावना करना और समाधि पूर्वक मरण करना ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ से दुर्लभ हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि इनके विरोधी मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि विभाव परिणामों की प्रबलता देखी जाती है। अतः इस दुर्लभ परंपरा को समझ करके सर्व प्रयत्न पूर्वक समाधि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। कहा भी है।—

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्,
ससृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं ॥

इस प्रकार से अतिदुर्लभरूप बोधि (रत्नत्रय) को प्राप्त करके भी यदि कोई प्रमादी हो जावे तब वह बेचारा संसार रूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

बंध अधिकार—

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्मा में राग आदि भावों को करता हुआ स्वभाव से ही कर्म के योग जो पुद्गल उनसे भरे हुये लोक में मन वचन काय क्रिया को करता हुआ हुआ अनेक प्रकार के कारणों द्वारा वस्तुओं का घात करता हुआ कर्म रूप रज से बंधता है। वहाँ विचार किया जाय कि बंध का कारण क्या है ? प्रथम तो कर्मयोग पुद्गलों से भरा हुआ लोक बंध का कारण नहीं है यदि उनसे बंध हो तो लोक में सिद्धों को भी बंध का प्रसंग आयेगा। कायादि की क्रिया को बंध का कारण माना जाय तब तो मन वचन काय की क्रिया वाले यथाख्यात संयमियों में भी बंध का प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकार के कारण यदि बंध के कारण हों तो केवलियों के भी बंध का प्रसंग आ जायेगा और यदि वस्तुओं का उपघात बंध का कारण हो तो समिति में तत्पर साधु यत्नपूर्वक प्रवृति करते हैं कदाचित् उस समय भी उनसे सचित्तादि वस्तुओं का उपघात हो जाता है पुनः उनके भी कर्म का बंध होने लगेगा। इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि उपयोग में रागादि का करना बंध का कारण है। जैसे कि तैल का मर्दन कर कोई पुरुष रज से बहुत स्थान में व्यायाम करते हुये धूलि से लिप्त हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि प्राणी राग, द्वेष, मोह के द्वारा कर्मों से बंध जाते हैं।

जैसे फिर वही मनुष्य तैलादि चिकनी वस्तु को दूर कर बहुत धूलि वाले स्थान में शस्त्रों के अभ्यास द्वारा व्यायाम करता है फिर भी उसके धूलि नहीं चिपकती है उसी प्रकार से वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि का अभाव होने से कर्मों का बंध नहीं होता है।

प्रश्न—जिसके रागादि नहीं हैं वह कुछ भी करे तो भी बंध नहीं होगा ?

उत्तर—ऐसा अर्थ नहीं करना, यद्यपि यहां लोक आदि कारणों से बंध नहीं कहा और रागादि से बंध कहा है तो भी ज्ञानियों को अमर्याद होकर स्वच्छंद प्रवर्तन करना योग्य नहीं है क्योंकि निरर्गल प्रवृत्ति करना ही बंध का स्थान है। ज्ञानियों के बिना वांछा के कार्य होता है वह बंध का कारण नहीं कहा, क्योंकि जानता भी हो और करता भी हो ये दोनों क्रियाये परस्पर में निश्चय से विरुद्ध हैं। अर्थात् यहां 'ज्ञानी' शब्द से निर्विकल्प समाधि में स्थिति जीवों को लेना क्योंकि वहां बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं होती है।

कहा भी है—जो जानता है वह कर्ता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है वह निश्चय से कर्म राग है और जो राग है उसे मुनिजन अज्ञानमय परिणाम कहते हैं। यही परिणाम निश्चय से बंध का कारण है।

प्रश्न—क्या अहिंसा आदि की भावना से भी कर्म बंध होता है ?

उत्तर—हां देखो। मै परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं ऐसा आशय अज्ञान है और इस आशय से सहित जीव मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि प्रत्येक जीवों का आयु के क्षय से ही मरण होता है। तथा जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को जीवित करता हूँ और अन्य जीव मुझे जीवित करते हैं वह मूढ़ है अज्ञानी है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत है। अर्थात् यहां जो यह बात है वह नयविवक्षा से है जो। मुनिराज रागद्वेष रहित शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द सुखास्वादरूप परमोपेक्षा संयम की भावना से परिणत अभेद रत्नत्रय में स्थित हैं, यानी निर्विकल्परूप त्रिगुप्तसमाधि में लीन हैं उस समय जो ये हिंसा-अहिंसा के भाव विकल्परूप हैं, वे नहीं होते हैं उसी समय वह निश्चय सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी कहा जाता है, यहां व्यवहारनय को गौण करके निश्चयनय की प्रधानता करके यह कथन किया है। आगे भगवान श्रीकुंदकुंददेव स्वयं उसी बात को स्पष्ट करते हैं—यथा—

मारिमि जीवावेमी य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२३१॥

मैं किसी को मारता हूँ, जीवित करता हूँ इस प्रकार के जो अभिप्राय है वे शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रय से शून्य हैं अतः उन अभिप्रायों से क्रमशः पाप अथवा पुण्य का ही बंध होता है और कुछ भी नहीं होता है क्योंकि उन-उन जीवों के जीवन-मरण आदि उन-उन के द्वारा उपार्जित कर्मों के उदय के आधीन हैं। तथा दूसरी बात यह भी कि अध्यवसान मात्र से (परिणाम से) बंध हो जाता है जीव मरे अथवा न मरे। "उसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणामों से पाप का बंध होता है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप परिणामों से पुण्य का बंध होता है[1]।" टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि भी कहते हैं। "एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एवं पापबंधहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः तथा स यश्च सत्यदत्तब्रह्मा परिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंध हेतुः पूर्व कथित रीति से अज्ञान से हिंसा में अध्यवसाय के समान असत्य, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह में जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी केवल पाप बंध के ही कारण हैं। तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है, उसी तरह सत्यव्रत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इन में भी अध्यवसाय (परिणाम) किया जाय वह सभी पुण्यबंध का ही कारण है।

प्रश्न—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि किसी पर दया करके बचाऊं यह दयाभाव भी हिंसा के समान ही है सो क्या बात है ?

उत्तर—उन कहने वालों को श्री कुंदकुंददेव की गाथाओं और अमृतचन्द्रसूरि की टीका पर ध्यान देना चाहिये। यद्यपि किसी को ज़िलाने-मारने में सुखी-दुःखी करने के भावों से पुण्य-पाप का बंध होता है फिर भी यदि कोई अहंकार भाव से यही मानता रहे कि मैंने ही ऐसा किया तो वहाँ पर मिथ्यात्व हो जाता है। क्योंकि पर के सुख-दुःखादि में उनका-उनका पुण्य-पाप कर्म का उदय ही खास कारण है अन्य जीव तो उसमें निमित्त मात्र पड़ जाते हैं। अतः अहंकार से कर्तृत्व बुद्धि को नहीं करना चाहिये। यहां इस कथन का यह भी अभिप्राय है और वास्तव में तो यह कथन वीतरागी सम्यग्दृष्टि निश्चयनय का अवलंबन लेने वाले ध्यान में स्थित साधुओं के लिये ही है जो कि शुभ-अशुभ क्रियाओं से हटकर

---

1. एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव। कीरइ अज्झवसाण जं तेण दु बज्झए पावं ॥२६३॥
   तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव। कीरइ अज्झवसाण जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥

पुण्य-पाप इन दोनों का संवर करते हुये शुद्धोपयोग में स्थिर रहकर आत्मा का आनन्द ले रहे हैं। इस बात को भी स्वयं भगवान कुंदकुंददेव कह रहे हैं।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार के परिणाम जिनके नहीं होते हैं वे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं। देखिये! अमृतचन्द्रसूरि की अमृतवाणी—"ततो बंधनिमित्तान्येवेतानि समस्तान्यध्यवसानानि। येषामेवेतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः।" अतः ये सभी परिणाम बंध के निमित्त हैं। जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं वे ही मुनियों में प्रधान मुनिकुंजर कहलाते हैं।..................वे ही शुभ-अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं। इस कथन से यह समझना चाहिये "जो मैं किसी को मारता हूँ या किसी पर दया करता हूँ" ये परिणाम सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं। यह कथन मात्र महामुनियों के लिये ही है न कि सामान्य अव्रती श्रावकों के लिये, जैसा कि आज कल कुछ लोग समयसार की गाथा नं० २४७ से २६६ तक के अर्थ का अनर्थ करके इस बात का प्रचार कर रहे हैं कि "जीओ और जीने दो" यह सिद्धान्त ही मिथ्यात्व है उन्हें उसी समयसार ग्रन्थ की गाथा २७० और उसकी टीका का अच्छी तरह से मनन करना चाहिये। आगे और भी देखिये—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

पूर्व कथित परिणामों का कथन करने वाला व्यवहारनय है, वह निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध है। पुनः निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। सबसे पहले यहाँ यह समझना चाहिये कि मुनिगण ही निश्चयनय का आश्रय ले सकते हैं, श्रावक गण या अव्रतीजन नहीं ले सकते हैं। टीकाकार जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"परद्रव्य का आश्रय लेने वाला व्यवहारनय, शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय लेने वाले निश्चयनय के द्वारा प्रतिषिद्ध किया गया है। क्योंकि निश्चयनय में स्थित हुये मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा प्रारम्भ के प्रस्ताव में सविकल्प अवस्था में निश्चयनय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। फिर भी अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय शुद्धात्मा में स्थित हुये मुनियों के लिये वह निष्प्रयोजन है। अर्थात् छठे गुणस्थान तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

क्या व्यवहार रत्नत्रय हेय है ?—

व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप ये व्यवहार चारित्र हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, इनको पालन करता हुआ भी अभव्य-जीव, अज्ञानी मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् अभव्य जीव के कभी भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता है फिर भी वे मंद मिथ्यात्व और मंद कषाय के उदय से चारित्र को धारण कर लेते हैं तथापि वे अज्ञानी और मिथ्यात्वी ही हैं।

प्रश्न—जब अभव्य जीव भी चारित्र का पालन करते हुये ग्यारह अंग तक ज्ञानी हो जाते हैं पुनः वे अज्ञानी कैसे कहे गये हैं ?

उत्तर—मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाण तु ॥२७४॥

जो अभव्य जीव शास्त्र का पाठ भी पढ़ता है परन्तु मोक्ष तत्त्व का श्रद्धान नहीं करता है तो ज्ञान का श्रद्धान न करने वाले उस अभव्य का शास्त्र पढ़ना लाभ नहीं करता अर्थात् अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार का जिसको श्रद्धान नहीं है वह ख्याति पूजा आदि के निमित्त ग्यारह अंग का अध्ययन भी कर लेवे तो भी उसका वह शास्त्रों का पढ़ना शुद्धात्मा के परिज्ञानरूप गुण को करने वाला नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम का होना अशक्य है इसका भी कारण यह है कि वह अभव्य है।

यह अभव्य जीव धर्म का श्रद्धान करता है, उसे प्रतीति में लाता है, उसमें रुचि रखता है एवं उसे धारण भी करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिये नहीं किंतु भोगों को प्राप्त करने के लिये करता है।

इस व्यवहार रत्नत्रय को अभव्य जीव भी मुनि बन कर धारण कर लेते हैं इसीलिये यह हेय है, किन्तु निश्चय रत्नत्रय भव्य जीव के ही होता है, निश्चय वाले नियम से मोक्ष, प्राप्त करते हैं इसीलिये वह उपादेय हैं। इस पर भी यह निश्चित समझना चाहिये कि व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चयरत्नत्रय हो नहीं सकता है अतः कथंचित् व्यवहार भी उपादेयभूत हैं। कहा भी है—

"निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होने पर व्यवहार त्याज्य है, मतलब उस त्रिगुप्त अवस्था में व्यवहार स्वयमेव नहीं रहता है[1]" यहाँ यह तात्पर्य समझना। अर्थात्

1. टीका जयसेनाचार्य की गाथा २७७।

निश्चयरूप ध्यानावस्था में व्यवहार स्वयं ही छूट जाता है, रहता ही नहीं है। चिदानंदैकलक्षण स्वस्वभाव को जानता हुआ मोह रागद्वेष आदि भावों को नहीं करता है इसलिये नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है।

प्रश्न—मोह रागद्वेष से सभी कषायों का ग्रहण कैसे होगा ?

उत्तर—यहाँ मोह शब्द से दर्शन मोह लेना और रागद्वेष शब्द से चारित्र मोह का ग्रहण करना। इसी चारित्र मोह में क्रोध, मान, कषायें द्वेष रूप हैं क्योंकि वे द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं। और माया, लोभ राग के अंग हैं क्योंकि ये राग को उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसे ही नव नोकषायों में स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, हास्य और रति ये पांच राग-रूप हैं क्योंकि ये रागोत्पादक हैं। तथा अरति शोक, भय, जुगुप्सा ये चार द्वेष रूप हैं क्योंकि ये द्वेषोत्पादक हैं। ये रागादि भाव कर्मबंध के कारण हैं और रागादि परिणामों के लिये निश्चय से कर्म का उदय कारण है। ज्ञानी जीव कर्मबंध में कारण नहीं है।

प्रश्न—बंध के नाश के लिये क्या भावना करना ?

उत्तर—भेदाभेद रत्नत्रय को धारण करने वाले साधुओं को बंध का अभाव करने के लिये निम्न प्रकार भावना करना चाहिये।

"सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं,"………मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंदरूप एक स्वभाव वाला हूँ, मैं विकल्प रहित हूँ, मैं उदासीन हूँ, मैं निरंजन निज शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा संवेद्य, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य, भरित-संतृप्त अवस्था वाला हूँ; मैं राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेंद्रिय के विषयों के व्यापार से रहित हूँ, मैं मन, वचन, काय के व्यापार से रहित हूँ, मैं भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म से रहित हूँ। मैं ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने, अनुभव में आये हुये भोगों की आकांक्षारूप निदान, माया, मिथ्या रूप तीन शल्यों से रहित हूँ, मैं संपूर्ण विभाव-परिणाम से रहित शून्य हूँ, मैं तीनों जगत् में, तीनों काल में मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध स्वरूप हूँ। और इसी प्रकार से सभी जीव शुद्ध हैं। निरंतर ऐसी भावना करते रहने से उसरूप तन्मय हो जाने की योग्यता आ जाती है तभी इस निश्चयनय की भावना में

परिणत होने वाले महामुनि शुद्धात्मा के आनंद का अनुभव लेते हुये बंध का अभाव कर देते हैं।

बंध के कारण रूप रागादि के उदय की निर्दयता पूर्वक प्रखर पुरुषार्थ से विदारण करती हुई, उस रागादि के कार्य रूप अनेक प्रकार के बंध को अब तत्काल ही दूर करके, यह 'ज्ञानज्योति' सम्यक् प्रकार से प्रकट हो जाती है, जिसने कि अज्ञान अंधकार का सर्वथा नाश कर दिया है। पुनः उस ज्ञान के विस्तार को कोई भी आवृत-ढक नहीं सकता है, अर्थात् वह लोकालोक में फैल जाता है।

मोक्ष अधिकार (भेद विज्ञान)—

बंध पदार्थ के बाद पूर्ण ज्ञान, वो ही हुई प्रज्ञारूपी करोंत उससे वह ज्ञान बंध और पुरुष को पृथक् करके पुरुष को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है। वह पुरुष अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर रहा है। ज्ञान अपने स्वाभाविक आनंद से सरस है, उत्कृष्ट है और उसने करने योग्य-समस्त कार्य कर लिये हैं अब कुछ करना शेष नहीं रहा। जैसे कोई पुरुष बंधन से बंधा हुआ बंध के स्वरूप को जानता है तो इतने मात्र से वह छूट नहीं सकता है उसी प्रकार से जो पुरुष कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग भेदों को जानता है तो भी वह कर्म से छूट नहीं सकता, जो स्वयं रागादि को दूर करके शुद्ध हो जाता है वही मोक्ष पाता है। अर्थात् आत्मा और बंध का पृथक् करना मोक्ष है। उसमें बंध के स्वरूप को जानने मात्र से मोक्ष नहीं होता है इसलिये ज्ञान मात्र से मोक्ष मानना गलत है।

प्रश्न—आत्मा और बंध को पृथक् करने का क्या उपाय है ?

उत्तर—आत्मा और बंध के पृथक् करने को यह प्रज्ञा तीक्ष्ण छैनी है। जो चतुर-पुरुष है वे सावधान हुये आत्मा और कर्म इन दोनों का सूक्ष्म मध्य का संधी का बंधन उसमें किसी प्रकार यत्न से उस छैनी को ऐसा पटकते हैं कि वहाँ पड़ी हुई यह छैनी शीघ्र ही सब तरह से आत्मा और कर्म को भिन्न-भिन्न कर देती है। पुनः यह ज्ञान जीव और बंध को अपने-अपने लक्षणों से इस तरह भिन्न कर देता है कि बंध तो छिदकर अलग हो जाता है और शुद्ध आत्मा का ग्रहण हो जाता है।

प्रश्न—उस आत्मा को ग्रहण कैसे करना ?

उत्तर—जिस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा उस आत्मा को और बंध को पृथक् किया जाता है उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही स्वयं अपनी शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिये।

इसलिये—मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मैं हूँ सो सर्वविशुद्ध चिन्मात्र स्वरूप हूँ, ज्ञानज्योति स्वरूप अनंत गुणों का पुंज हूँ। जो आत्मा सापराध है वह तो निरन्तर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बन्धता है, और जो निरपराध है वह बन्धन को कभी नहीं छूता है। यह आत्मा अपराधी होने से अपनी आत्मा को नियम से अशुद्ध ही सेवन करता है और जो निरपराध है वह अच्छी तरह शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला होता है। अर्थात् जो शुद्धोपयोग में स्थित हैं वे ही साधु निरपराधी हैं।

प्रश्न—यदि साधु निरपराधी है तो उसे प्रतिक्रमण आदि भी नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—हाँ, समयसार में ही उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्तीय।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥

अप्पडिकमण अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा सोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार तो विषकुंभ हैं। और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार अमृतकुंभ हैं। अमृतचंद्रसूरि की टीका—"यस्तावदज्ञानीजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुंभ एव किं तस्य विचारेण।.......... द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुंभत्वं साधयति।"

प्रथम तो अज्ञानी जनों को साधारण ऐसे अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण न करना आदि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले हैं इसलिये स्वयं ही अपराधरूप होने से विषकुंभ ही हैं उनका विचार करने से तो यहाँ कुछ प्रयोजन ही नहीं है। क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं। और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को कम करने में समर्थ होने से अमृतकुंभ हैं। तथापि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण इन दोनों से विलक्षण, ऐसी अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी भूमिका (ध्यान) को प्राप्त करने वाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि अपराध नष्ट करने रूप अपना कार्य

करने में असमर्थ होने से विपक्ष अर्थात् बंध का कार्य करने रूप होने से विषकुंभ ही हैं। क्योंकि जो अप्रतिक्रमण आदि रूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने से समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाली होने से साक्षात् स्वयं अमृतकुंभ है और इस प्रकार वह तीसरी भूमि व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमण आदि को भी अमृतकुंभ सिद्ध कर देती है। "ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति" इसलिये ऐसा नहीं मान लेना कि निश्चयनय, द्रव्य प्रतिक्रमण आदि को छुड़वाता है।

इसका अर्थ यह होता है कि महामुनि जब तक शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं होते हैं तब तक तो उन्हें प्रतिक्रमण आदि करने ही पड़ते है और वे तब तक अमृतकुंभ हैं, दोषों से छुड़ाने वाले हैं। उसके आगे पहुँचकर जब वे शुद्ध आत्मा का ध्यान करने में समर्थ हो जाते हैं तब वे प्रतिक्रमण आदि उनके लिये विषकुंभ है चूंकि वे उन्हें ध्यान में बाधक बनकर सराग चारित्र में ही रोके रहते हैं किन्तु इनसे पूर्व में यदि कोई साधु प्रमादी होकर प्रतिक्रमण आदि न करे तो उसका उन प्रतिक्रमण आदि का न करना ही उसके लिये बिषकुंभ बन जाता है।

इसी बात को और देखिये—

जयसेनाचार्य कृत टीका—किये हुये दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरित करना प्रतिसरण है, मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण करना प्रतिहरण है, पंचनमस्कारादि मंत्र और जिनप्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों का अवलंबन लेकर चित्त को स्थिर करना धारणा है, बहिरंग विषय कषायादि से मन को हटाना निवृत्ति है, अपनी साक्षी से दोष प्रगट करना निंदा है, गुरु की साक्षी में दोष प्रगट करना गर्हा है और दोषों के लगने पर प्रायश्चित्त लेकर शुद्धी करना शुद्धि है। ये आठ प्रकार के शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय कषाय परिणतिरूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से सविकल्परूप सरागचारित्र अवस्था में अमृतकुंभ होता है। तथापि राग, द्वेष, मोह, ख्याति पूजा, लाभादि समस्त परद्रव्य के अवलंबनरूप विभाव परिणाम से शून्य, चिदानंदैक स्वभाव विशुद्धात्मा के अवलंबन से पूर्ण, निर्विकल्परूप शुद्धोपयोग लक्षण जो तीसरी भूमि है उसकी अपेक्षा से बीतराग चारित्र में स्थित हुये पुरुषों के लिये विषकुंभ ही है। अर्थात् अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है—एक ज्ञानीजनों के आश्रित, दूसरा अज्ञानीजनों के आश्रित। अज्ञानीजनों के आश्रित तो विषकषायरूप ही है और ज्ञानीजनों के आश्रित है वह त्रिगुप्तिमय परमसमाधि-

रूप-ध्यानरूप है। इसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण भी है। यह सम्पूर्ण शुभ और अशुभ-रूप आस्रवों को रोकने वाला है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि जो प्रतिक्रमण आदि आठ भेद रूप शुभोपयोग है वह सविकल्प अवस्था में अमृतकुंभ है और परमोपेक्षा संयम रूप निर्विकल्प अवस्था में विषकुंभ ही है।

देखिये अमृतचंद्रसूरि समयसार कलश में कितने मधुर शब्दों में कहते हैं—

'हतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां। प्रलीन चापलमुन्मूलित-
मालंबन। आत्मन्येवालानितं चित्तमासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः' ॥१८८॥

इस कथन से सुख से बैठे हुये प्रमादी जीवों को तो ताड़ना की ही है, किन्तु जो निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रमादी होकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको ताड़कर उद्यम में लगाया है, चपलता का नाश किया है। और जो स्वच्छंद प्रवर्तते हैं उनका स्वच्छंदपना मेटा है, आलंबन को दूर किया है। जो व्यवहार के पक्ष में द्रव्य प्रतिक्रमणादि में ही संतुष्ट हो रहे हैं उनका आलंबन छुड़ाकर जब तक संपूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तब तक चैतन्य मात्र आत्मा में चित्त लगा रहे, चित्त को इस तरह स्थिर किया है।

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

हे भाई! जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण कैसे अमृत हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमाद रूप क्यों होता है? निष्प्र-मादी होकर ऊंचा-ऊंचा क्यों नहीं चढ़ता?

कषाय के भार से भारी होने को आलस्य कहा है उसे ही प्रमाद कहते हैं। इस-लिये प्रमाद युक्त आलस्य भाव शुद्ध भाव कैसे हो सकता है? इसलिये आत्मीकरण से भरे स्वभाव में निश्चल हुआ मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है और थोड़े समय में ही कर्मबंध से छूट जाता है। जो पुरुष निश्चय से अशुद्धता को करने वाले संपूर्ण परद्रव्यों को छोड़कर आप अपने निज द्रव्य में लीन होता है वह पुरुष नियम से सब अपराधों से रहित होता हुआ बंध का नाश कर देता है। और नित्य ही उदय रूप तथा अपने स्वरूप की प्रकाश ज्योति से निर्मल उछलता हुआ चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से अपनी महिमा को पूर्ण करके परमशुद्ध हुआ कर्मों से छूट कर—मुक्त हो जाता है।

सर्वविशुद्ध-ज्ञान अधिकार—(ज्ञान सर्व विशुद्ध है)

समस्त कर्ता भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से नाश करके पद पद पर बंध मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ शुद्ध शुद्ध अपने रस के फैलाव से परिपूर्ण टंकोत्कीर्ण महिमा वाला ज्ञान पुंज प्रकट होता है जब तक यह जीव शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत हुआ प्रकृतियों के उदय रूप रागादि भावों को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी कहलाता है और वही जीव मिथ्यादृष्टी है असंयत है मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है, किन्तु जब यह जीव मिथ्यात्वादि भावों को छोड़ कर सम्यग्दर्शनादि के सद्भाव से अपनी आत्मा को सर्वथा परद्रव्यों से भिन्न अनुभव करता है तब यह जीव सम्यग्दृष्टी है, ज्ञानी है और संयत मुनि है।

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ।।३१७।।

अभव्य जीव अच्छी तरह अभ्यास कर शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी कर्म के उदय से हुये स्वभाव को नहीं छोड़ता है, जैसे कि सर्प गुड़ मिश्रित दुग्ध को पीते हुये भी निर्विष नहीं होते हैं।[1] ज्ञानी जीव बहुत प्रकार के कर्मों का न तो कर्त्ता है और न भोगता है परन्तु कर्म के बंध को और कर्म के फल पुण्य-पापों को जानता ही है। यहाँ यह कथन निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनियों की अपेक्षा ही है। देखिये—

"कोई आत्मघाती सर्वथा एकांतवादी जन कर्म को ही कर्त्ता मानकर आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् कर्त्ता है' ऐसी जिनेन्द्र भगवान की निर्बोध श्रुत-रूप वाणी को कुपित करते हैं—विराधित करते हैं। ऐसे आत्मघातकों की बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गई है। उनके ज्ञान की संशुद्धि के लिये स्याद्वाद से निर्बाधित वस्तु स्थिति कही जाती है।"

पूर्वपक्ष—कर्म[2] ही आत्मा को अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय के बिना अज्ञान नहीं हो सकता। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम बिना ज्ञान नहीं हो सकता है। कर्म ही आत्मा को सुलाता है क्योंकि निद्रा

---

1. कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां।—.....समयसार कलश (२०४)
2. समयसार गाथा, ३३२ से लेकर ३४४ गाथाओं का भाव है।

कर्म के उदय बिना निद्रा नहीं हो सकती। कर्म ही आत्मा को जगाता है क्योंकि निद्रा कर्म के क्षयोपशम बिना जागना नहीं हो सकता। कर्म ही आत्मा को सुखी दुखी करता है क्योंकि साता असाता वेदनीय के उदय बिना सुख-दुख असंभव है। वैसे ही कर्म ही आत्मा को मिथ्यात्वी, असंयमी आदि करता है। इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि सभी जीव नित्य एकांत से अकर्त्ता ही हैं। देखो! जैन सिद्धांत भी इसी अभिप्राय का समर्थन करता है—

पुरुषवेद कर्म स्त्री की और स्त्रीवेद कर्म ही पुरुष की अभिलाषा करता है। इस वाक्य से अभिलाषा रूप कर्म का कर्त्ता कर्म ही सिद्ध होता है। यहाँ जीव के द्वारा किये गये कुशील का समर्थन न होने से जीव कुशील का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार 'जो दूसरे को मारे और दूसरे से मारा जाये' इस परघात कर्म की व्याख्या के अनुसार हिंसा कर्म का कर्त्ता परघात कर्म ही सिद्ध होता है, जीव नहीं क्योंकि कर्म को कर्त्ता मान लेने से जीव सदैव अकर्त्ता ही रहता है।

उत्तर—ऐसा कहने वाले श्रमणाभास हैं—जैनाभास है। वे अपनी बुद्धि के दोष से आगम के अभिप्राय को बिना ही समझे सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। क्योंकि इस तरह एकांत से प्रकृति को कर्त्ता मान लेने पर तो सभी जीव सर्वथा अकर्त्ता ही सिद्ध हो जायेंगे पुनः 'जीव कर्त्ता है' ऐसा जो आगम है उस आगम से इस मान्यता में विरोध आता है उसे कैसे दूर करेंगे?

पूर्वपक्ष—कर्म आत्मा के पर्याय रूप अज्ञानादि भावों को करता है और आत्मा द्रव्य रूप मात्र आत्मा को ही करता है अतः आत्मा कर्त्ता सिद्ध हो जाता है।

उत्तर—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्य रूप से नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है और लोक के बराबर है और जो नित्य होता है वह कार्य रूप नहीं हो सकता है, चूंकि कर्तृत्व और नित्यत्व में परस्पर विरोध है।

प्रश्न—मिथ्यात्व आदि भावों का कर्त्ता भी कर्म ही है आत्मा तो आत्मा को ही करता है ऐसा माने तो क्या बाधा है?

उत्तर—ऐसा कथन भी केवल मिथ्यात्व के संस्कार से ही हुआ है। अतः यह भी मान्यता ठीक नहीं है। अतः वास्तविक मान्यता यह है कि सामान्य की अपेक्षा आत्मा ज्ञान

स्वभाव में स्थित है, परन्तु मिथ्यात्व आदि भावों को जानते समय अनादि काल से भेद-विज्ञान के अभाव से ज्ञेय रूप परपदार्थों को, मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है अतः विशेष की अपेक्षा अज्ञानमयी परिणामों के करने से 'कर्त्ता' होता है । और जब भेदविज्ञान की पूर्णता के हो जाने से आत्मा को आत्मा जान लेता है तब विशेष रूप से भी ज्ञानमयी परिणामों से परिणमन करता है उस समय मात्र ज्ञाता रहने से वह जीव साक्षात् 'अकर्त्ता' होता है । अर्थात् कितने ही जैन मुनि आत्मा को एकांत से अकर्त्ता कह देते हैं और कर्म-प्रकृति को कर्त्ता मान लेते है तब तो प्रकृति ही परस्त्री का सेवन करती है और प्रकृति ही हिंसा करती है अतः उनके मत से तो व्यभिचार[1] पाप और हिंसा[2] पाप प्रकृति कर्म ही करते हैं तब पुनः जीव को पाप बंध भी कैसे हो सकेगा ? तथा अनर्गलता बढ़ती ही चली जायेगी अतः स्याद्वाद की व्यवस्था को समझना बहुत जरूरी है । एकांत से जीव को अकर्त्ता[3] मानना सांख्य की मान्यता है ।

इन्हीं गाथाओं के अर्थ को स्पष्ट करते हुये श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

यह जीव कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी और अज्ञानी होता है, कर्मों के द्वारा ही सुखी दुःखी होता है और कर्मों के द्वारा ही तीनों लोकों में भ्रमण करता है जो कुछ भी शुभ अशुभ आदि हैं वे एकांत से कर्मकृत ही हैं । ऐसा मानने पर तो जीव अकर्त्ता हो गया, तब जीव के कर्मों का अभाव हुआ, कर्म के अभाव में संसार का भी अभाव हो गया, यह दूषण आता है । कर्म ही कर्त्ता है यह उपर्युक्त सिद्धांत सांख्यमतानुयाइयों का है ऐसा बताकर श्री कुंदकुंददेव फिर भी इस प्रकार कहते हैं कि हम यह बात केवल द्वेष के वश कहते हैं किन्तु आप सांख्यों के मत में ही ऐसा लिखा है कि 'पुरुषवेद स्त्री की और स्त्रीवेद पुरुष की अभिलाषा करता है, जीव ऐसी अभिलाषा नहीं करता है, पुनः आप सांख्य के मत में कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं ठहरेगा किन्तु जैसे शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं वैसे अशुद्ध निश्चयनय से भी सभी जीव ब्रह्मचारी ही ठहरेंगे, किन्तु ये बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं ।

सांख्य—किसी दूसरे के कर्म के स्वरूप को प्रकृति-कर्म नष्ट करता है वह प्रकृति भी किसी दूसरे कर्म द्वारा नष्ट की जाती है अपितु जीव नष्ट नहीं किया जाता है । ऐसे अर्थ को लिये हुये ही आप जैन के मत में परघात नाम कर्म कहा गया है ।

---

1. तह्मा ण कोवि जीवो अबंभचारी उ अह्म उवएसे·······॥३३७॥
2. तह्मा ण कोवि जीवो वधायओ अत्थि अह्म उवदेसो·······॥३३९॥
3. एवं संसुवएसं जे उ परुविंति एरिसं समणा । तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥ समयसार

जैन—हमारे यहाँ घात करने वाला परघात कर्म कहने पर भी जीव ही हिंसा के रूप में परिणमन करता है, परघात कर्म तो उसमें सहकारी कारण मात्र ही होता है। यद्यपि हम जैनों के यहाँ शुद्ध पारिणामिक रूप परम भाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव को हिंसा परिणाम से रहित अपरिणामी माना गया है। फिर भी व्यवहारनय से वही जीव परिणामी भी माना गया है। किन्तु आपके यहाँ तो जैसे शुद्धनय से कोई जीव हिंसक नहीं है वैसे ही अशुद्धनय से भी हिंसक नहीं है।

इस प्रकार सांख्य मत का आश्रय लेकर जो द्रव्यलिंगी श्रमणाभास परमागम में कहे हुये नय विभाग को नहीं समझकर एकांत हठ पकड़कर प्रकृति (कर्म) को ही सब कुछ करने वाला मान लेते हैं उनके यहाँ आत्मा के कर्त्तापने का अभाव हो जाने से कर्म का भी अभाव हो जाता है और कर्म के अभाव में संसार का अभाव हो जाता है, तब मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता है। और इन सबका न होना तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, किन्तु हमारे जैनमत मे परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा सब बातें सुघटित हैं।

प्रश्न—जीव से प्राण भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो जैसे जीव का नाश नहीं होता वैसे प्राणों का भी नाश नहीं होना चाहिये तो फिर हिंसा कैसे ? यदि प्राण जीव से भिन्न है तब तो प्राणों के घात होने पर भी आत्मा का क्या बिगाड़ हुआ अतः फिर भी वहाँ हिंसा नहीं हुई ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि काय आदि रूप प्राणों के साथ इस जीव का कथंचित् भेद है कंथचित् अभेद है।

प्रश्न—सो कैसे ?

उत्तर—जैसे तपे हुये लोहे के गोले में से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः व्यवहारनय से कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है। किन्तु निश्चय नय से मरण काल में परलोक जाते समय कायादि प्राण इस जीव के साथ नहीं जाते इसलिये कायादि प्राणों का जीव के साथ भेद भी है यदि एकांत से भेद ही मान लिया जाये तो फिर दूसरे के शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर किसी को दुःख नहीं होता वैसे ही अपने शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये, किन्तु ऐसा करना नहीं है इसमें तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

प्रश्न—फिर जो हिंसा हुई वह व्यवहार से ही हुई, निश्चय से नहीं।

उत्तर—तुमने ठीक ही कहा है, कि व्यवहार से हिंसा होती है और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नरक आदि का दुःख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है। हाँ, वह नारक आदिकों का दुःख तुम्हें इष्ट है तो हिंसा करते रहो और यदि नरकादि से तुम्हें डर लगता है तो हिंसा करना छोड़ दो। "ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादि दुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेर्त्तहि हिंसां कुरुत। भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति।" बस इस सारे विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि सांख्यमत के समान जैनमत में आत्मा एकांत से अकर्त्ता नहीं है किन्तु वीतराग-निर्विकल्प समाधि रूप भेद ज्ञान के समय में तो आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है अवशेष काल में वह कर्मों का कर्त्ता होता है। अतः सर्व विशुद्ध ज्ञान ही आत्मा के कर्तृत्व को समाप्त करके सर्वतः पूर्णकेवलज्ञान बन जाता है।

वीतरागी तपोधन—

निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना में परिणत साधु ही तपोधन कहलाते हैं। इहलोक-परलोकाकांक्षा रूप समस्त शुभ अशुभ संकल्प विकल्प से रहित, विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्व का ही सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव रूप अभेद रत्न-त्रयात्मक जो निर्विकल्प समाधि है उस परम समाधि में स्थित होकर वीतराग सहज परमानंद स्वभाव सुखसुधारस के आस्वाद रूप और कार्य समयसार को उत्पन्न करने वाले कारण समयसार में जो स्थित हैं वे ही साधु अभेद नय से निश्चय प्रतिक्रमण निश्चय-प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना रूप से परिणत हुये महातपोधन कहलाते हैं।

उसी का स्पष्टीकरण—

अतीतकर्म से ममत्व छोड़ना प्रतिक्रमण है, आगामी न करने की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है और वर्तमान में जो कर्म उदय में आया है उसका ममत्व छोड़ना वह आलोचना है। ऐसा चरित्र का विधान है—

"अतीत काल में किये हुये जो शुभ अशुभ ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार के कर्म हैं उनसे जो अपनी आत्मा को छुड़ाता है वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है और जो आगामी

काल में शुभ अशुभ कर्म जिस भाव से बंधे उस भाव से जो ज्ञानी छूटे वह आत्मा प्रत्याख्यान स्वरूप है तथा जो वर्तमान काल में शुभ अशुभ अनेक प्रकार के कर्म उदय में आ रहे हैं उसको जानता मात्र है (तन्मय होकर अनुभव नहीं करता है) वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप है। इस प्रकार से जो नित्य ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करता है वही निश्चय से चारित्र स्वरूप है[1]।" अभिप्राय यह हुआ कि जो साधु अभेदरत्न-त्रयात्मक परमोपेक्षासंयम को धारण करने वाला है निर्विकल्प ध्यान रूप समाधि में स्थित है उसी के यह निश्चय चारित्र होता है।

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः[2] ।।२२४।।

ज्ञान की चेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध निरन्तर प्रकाशित होता है और अज्ञान की चेतना से बंध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोक देता है। अर्थात् चेतना के दो भेद हैं—ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना। इस अज्ञान चेतना के भी दो भेद हैं—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। किसी वस्तु के प्रति एकाग्र होकर अनुभवरूप स्वाद लेना संचेतन है। ज्ञान के तरफ ही एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना ज्ञान चेतना है इससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है तब संपूर्ण ज्ञान चेतना नाम पाता है और अज्ञानरूप-कर्मरूप, कर्मफलरूप उपयोग को करना, उसी तरफ एकाग्र होकर अनुभव करना अज्ञान चेतना है। इससे कर्म का बंध होता है और यह ज्ञान की शुद्धता को रोक देती है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि अपने शब्दों में स्पष्ट करते हैं—

ज्ञान से अन्यत्र—भिन्न भावों में 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करना अज्ञान चेतना है उसके दो भेद है कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। ज्ञान से भिन्न अन्यत्र यह अनुभव करना कि 'इसको मैं करता हूँ' यह कर्मचेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्यत्र ऐसा अनुभव करना कि 'मैं इसको भोगता हूँ' यह कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही अज्ञान चेतना संसार के बीज है क्योंकि संसार का बीज आठ विध कर्म हैं। और कर्म का बीज अज्ञान चेतना है। चूंकि इसी से कर्म बंधते हैं। इसलिये मोक्षार्थी भव्यों को अज्ञान चेतना का नाश करने के लिये सब कर्मों को छोड़ देने की भावना भाना चाहिये फिर कर्मफल के त्याग की भावना करते

1. गाथा–३८३, ३८४, ३८५, ३८६। समयसार।
2. समयसार कलश।

हुये अपनी स्वभावभूत जो ज्ञानवती—भगवती एक ज्ञान चेतना है उसी का निरन्तर अनुभव करना चाहिये।

उसमें सबसे प्रथम सकल कर्मों के त्याग की भावना को भाना चाहिये—

कृतकारितानुमतैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे ॥२२५॥

अतीत, अनागत, वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी कर्मों को कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय से छोड़ करके उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का मैं अवलंबन करता हूँ। इस प्रकार सब कर्मों के त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है। इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य स्पष्ट करते हैं—

मिथ्यात्व रागादि से परिणत हुये जीव के अज्ञान चेतना होती है वह कर्म को करती है। उदयागत शुभ अशुभ का अनुभव करते हुये अज्ञानी जीव स्वस्थ भाव से भ्रष्ट होता हुआ 'मेरा यह कर्म है, मैंने यह कर्म किया है ऐसा कहता है' यह कर्मचेतना है। इस चेतना के अनुभव वाला जीव आठ प्रकार के कर्मों को बांधता रहता है और उदयागत कर्मफल का अनुभव करते हुये तथा शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव न करते हुये इष्टानिष्ट इंद्रियों के विषयों के निमित्त से जो सुखी अथवा दुःखी होता है वह भी आठ कर्मों को बांध लेता है वह कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही संसार के बीज हैं। कर्मचेतना का नाश करने के लिये साधु निश्चय प्रतिक्रमण आदि रूप से परिणत होकर शुद्ध चेतना के बल से आत्मा का ध्यान करने में समर्थ होते हैं। अतः कर्मचेतना के त्याग की भावना को बताते हैं—

प्रतिक्रमण—"यदहमकार्षं यदचीकरम् यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतं"।

मैंने अतीत काल में जो कर्म किया है, कराया है और करते हुये अन्य को अनुमोदना दी है, मन से, वचन से और काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। यहाँ अतीत काल सम्बन्धी जो कर्म को कृत कारित अनुमोदना और मन वचन काय से किये गये हैं उनका त्याग करना (मिथ्या में दुष्कृतं कहना) प्रतिक्रमण है। सब कर्मों के त्याग करने में कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन काय के ४९ भेद हो जाते हैं।

देखिये कृत, कारित और अनुमत इस प्रकार प्रत्येक तीन भंग हुये फिर कृत, कारित ये दोनों, कृत, अनुमत ये दोनों, कारित, अनुमत ये दोनों इस प्रकार दो-दो के संयोग से तीन

भंग हुये । और कृत, कारित अनुमत इन तीनों के संयोग से एक भंग हुआ । इस प्रकार सब मिलकर एक सप्तभंगी हुई । उसी प्रकार मन, वचन, काय से प्रत्येक को लेकर तीन भंग, मन वचन, मन काय और वचन काय ये तीन भंग और मन वचन काय को मिलाकर एक भंग ऐसे दूसरी सप्तभंगी हुई । मन, वचन, काय इनके प्रत्येक के साथ कृत होने से तीन भंग मन वचन, मन काय और वचन काय इनके साथ कृत करने से तीन भंग तथा तीनों को साथ मिलाकर कृत करने से एक भंग ऐसे तीसरी सप्तभंगी हुई । ऐसे ही कारित पर, अनुमत पर तथा कृत कारित इन दोनों पर कृत अनुमति इन दोनों पर, और कारित अनुमति इन दोनों पर तथा कृत कारित अनुमति इन तीनों पर भी प्रत्येक से इसी क्रम से सप्तभंगी लगा लेना चाहिये ये सभी मिलकर उनंचास भंग होते हैं ।

"मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से कर्म किये हैं । उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (समस्त कर्मों से रहित) चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।" यह प्रतिक्रमण विधि हुई ।

प्रत्याख्यान—जो मैं करूंगा, जो मैं कराऊँगा करते हुये किसी अन्य को भला मानूंगा, मन से वचन से काय से, किसी भी प्रकार से यह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे । इसमें भी ४९ भंग लगाकर चिंतवन करने से प्रत्याख्यान होता है । "मैं भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके, मोह रहित होता हुआ निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।" यह प्रत्याख्यान विधि हुई ।

आलोचना—जो मैं करता हूं, कराता हूं, करते हुये अन्य को अच्छा मानता हूं, मन से, वचन से, काय से, यह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे । पूर्वोक्त उनंचास भंग पूर्वक यह आलोचना करना चाहिये । "मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदय में आता हुआ कर्म है । उन सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ" ।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना रूप से, तीनों कालों के समस्त कर्मों को दूर करके शुद्धनयावलम्बी, मिथ्यात्व रहित हुआ मैं अब सर्व विकारों से रहित शुद्ध आत्मा का अवलंबन लेता हूँ । इस तरह कर्मचेतना के त्याग की भावना हुई है । अब कर्मफलचेतना की भावना को स्पष्ट करते हैं—

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥२३०॥

कर्म रूपी विषवृक्ष के फल, मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जावें, मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा का निश्चलतया अनुभव करता हूँ। कर्म फल के त्याग की भावना करने वाले तपोधन चिंतवन करते हैं कि मैं मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तब फिर क्या करता हूँ ? मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वभावमय आत्मा को ही भले प्रकार अनुभव करता हूँ। मैं श्रुतज्ञानावरणकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। इत्यादि रूप से ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अंतराय के ५ ऐसे १४८ भेदों रूप सभी प्रकृतियों के फल के त्याग की भावना करनी चाहिये।

यहाँ पर अभिप्राय यह है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से जब तक यह आत्मा दूर नहीं होता, तब तक ज्ञानचेतना पर नहीं पहुंच पाता है। क्योंकि ये दोनों चेतना अज्ञानरूप है। किन्तु ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञानरूप है जब तक यह प्राप्त नहीं हो पाती है तब तक नवीन कर्मों का बंध होता रहता है। अतः मुमुक्षु को नूतन कर्म से बचने के लिये शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप परम समाधि में लगे रहना चाहिये।

सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञान चेतना की भावना करने वाला ज्ञानी सोचता है कि मैं सकल कर्मों के फल का त्याग करके चैतन्य लक्षण वाले आत्मतत्त्व का ही अनुभव करता हूँ। यह काल की आवली प्रवाहरूप से अनन्त है, वह आत्मतत्त्व के अनुभव में ही लगी रहे। उससे अन्य प्रवृत्ति में उपयोग न जावे। तब ज्ञान चेतना का फल यह होता है कि यह मुमुक्षु आगामी काल में केवलज्ञान प्राप्त कर सब कर्मों से रहित मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

द्रव्यलिंग और भावलिंग—

जो पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानते हैं, अपना कुछ भी हेतु नहीं मानते हैं वे मोहरूपी नदी के पार नहीं उतरते हैं, क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा का स्वरूप उसके ज्ञान से रहित अंधबुद्धि वाले हैं।

"बहुत से निंदा स्तुति के जो वचन हैं वे पौद्गलिक हैं उनको सुनकर अज्ञानी जीव ही रोष करता है और संतुष्ट होता है। वे शब्द यह नहीं कहते हैं तुम मुझे सुनो,

ऐसे ही पुद्गलरूप से परिणत हुये शुभ-अशुभ वर्ण भी ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझको देखो, शुभअ-शुभ गंध भी ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझको सूंघो, शुभ-अशुभ रस भी ऐसा नहीं कहते हैं कि तुम मुझको चखो तथैव शुभ अशुभ स्पर्श भी ऐसा नहीं कहते हैं कि मेरा स्पर्श करो। अज्ञानी जीव ही इन पंचेंद्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष करता रहता है। किंतु जो परमतत्त्वज्ञानी हैं वे व्यवहार निश्चय कारणसमयसाररूप बाह्य-अभ्यंतर रत्नत्रय से सहित होते हुये मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में राग-द्वेष नहीं करते हैं किन्तु स्वस्थ भाव से अपने शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करते हैं वे ही कर्मबंधन से छूट सकते हैं।

यह ज्ञान सभी वस्तुओं में पृथक् है, इसका स्पष्टीकरण—"शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ नहीं जानता है, जड़ है इसलिये ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य हैं। ऐसे रूप, रस, गंध, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश अध्यवसान ये सभी ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि ये सब अचेतन हैं। ज्ञान इनसे भिन्न है, ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है इसलिये जीव ज्ञायक है, वही ज्ञानी है क्योंकि वह निरंतर जानता है और वह ज्ञान ज्ञायक आत्मा से अभिन्न है। वह ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, संयम है, अंग-पूर्व रूप सूत्र है और धर्म अधर्म है तथा दीक्षा भी ज्ञान है ऐसा ज्ञानीजन स्वीकार करते हैं।"

इसी बात को श्रीजयसेनस्वामी स्पष्ट करते हैं—

"न श्रुतं ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः"[1]......... ज्ञान श्रुत-शास्त्र नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और श्रुत में भेद है। ऐसे ही रूप, वर्ण, गंध, रसादि से लेकर अध्यवसान पर्यंत सभी चीजें परद्रव्य हैं अचेतन हैं। जीव ही एक ज्ञानरूप है क्योंकि वह चेतन है इसलिये ज्ञान और जीव में अभिन्नता है। इस प्रकार से अनादि-कालीन विभ्रम के मूल रूप, धर्म अधर्म रूप, परसमय को छोड़कर स्वयं ही दीक्षारूप को स्वीकार करके दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त कर मोक्षमार्ग को आत्मा में ही परिणत करके संपूर्ण विज्ञानघन भावरूप हुआ, हानोपादान से शून्य साक्षात्

---

1. गाथा–३९० से ४०४ तक का भाव है।

समयसारभूत, परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान ही अवस्थित हो जाता है अर्थात् परभावों से पृथक् होकर शुद्ध ज्ञान ही स्वयं में पूर्ण होकर केवलज्ञान बन जाता है।

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते। ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ॥२३८॥

इस पूर्वोक्त शुद्ध-ज्ञान के शरीर ही नहीं है, इसलिये ज्ञाता आत्मा का शरीरमय लिंग मोक्ष का कारण नहीं है। "पाखंडीलिंग[1] या गृहीलिंग ऐसे बहुत प्रकार के लिंग-भेष हैं, उनको धारण करके अज्ञानी उन्हें ही मोक्ष मार्ग कह देते हैं, किन्तु आचार्य कहते हैं कि लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हंतदेव भी देह से निर्मम हुये लिंग को छोड़कर रत्नत्रय का सेवन करते हैं। तात्पर्य यह है कि "गृहण किये हुये सागार और अनगाररूप लिंग को छोड़कर, दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग में ही अपनी आत्मा को लगावो[2]।" अर्थात् द्रव्यलिंग मात्र ही मोक्ष का मार्ग नहीं है उसके आश्रय से हुआ भावलिंग जो रत्नत्रयरूप है वही मोक्ष का मार्ग है। पुनः आचार्य कहते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

हे भव्य! तू मोक्ष मार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी आत्मा में ही निरंतर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

जो पुरुष बहुत प्रकार के पाखंडो लिंगों में और गृहस्थ लिंगों में मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक हूँ, इस प्रकार द्रव्यलिंग के ममकार से मिथ्या अहंकार करते हैं, उन पुरुषों ने भगवान् समयसार को नहीं जाना है। अर्थात् मुनिपद स्थान या गृहस्थावस्थारूप धर्म ये द्रव्यलिंग के बिना असंभव हैं और इनके भावलिंग भी असंभव है फिर भी जो केवल द्रव्यलिंग में ही सब कुछ समझते हैं अपनी राग-द्वेष प्रवृत्ति को छोड़कर आत्मा का ध्यान नहीं करते हैं वे समयसारभूत आत्मा के ज्ञान से रहित हैं। अर्थ का अनर्थ न हो जाये, इसलिये स्वयं भगवान् श्री कुंदकुंद कहते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

---

1. गाथा—४०८, ४०९। 2. गाथा—४११।

व्यवहारनय तो मुनि, श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता। इसी बात को जयसेनाचार्य स्पष्ट करते हैं—

"द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है ऐसा मत समझो......यहाँ द्रव्यलिंग का आधारभूत जो शरीर है उसके ममत्व का निषेध किया है। क्योंकि पूर्व में दीक्षा के समय संपूर्ण परिग्रह का ही त्याग किया है किन्तु शरीर का त्याग नहीं किया है। क्यों? क्योंकि शरीर के आधार से ज्ञान और ध्यान का अनुष्ठान होता है इसलिये, शेष परिग्रह के समान शरीर को पृथक् नहीं किया जा सकता। वीतराग ध्यान के समय "यह मेरा शरीर है, मैं क्षुल्लक, ऐलक या मुनि लिंगधारी हूँ" इत्यादि विकल्प व्यवहार से भी नहीं करना चाहिये। देखिये—

शालितंदुल के बहिरंगतुष के विद्यमान रहने पर अभ्यंतर तुष—ललाई दूर करना शक्य नहीं है और अभ्यंतर तुष का त्याग हो जाने पर बहिरंग तुष का त्याग नियम से होता ही है। इस न्याय से संपूर्ण परिग्रह के त्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता है अथवा नहीं भी होता है, नियम नहीं है। किंतु अभ्यंतर के भावलिंग के होने पर सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है। देखिये भरतचक्रवर्ती आदि जो कि अंतर्मुहूर्त मात्र में केवली हुये हैं वे भी निर्ग्रंथलिंग से ही हुये हैं।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥२४४॥

आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से और बहुत से दुर्विकल्पों से बस हो, बस हो। इस ग्रन्थ में एक परमार्थ का ही निरंतर अनुभव करना चाहिये। क्योंकि वास्तव में अपने रस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान करके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार शुद्ध आत्मा-परमात्मा, उसके सिवाय अन्य कुछ भी सार नहीं है।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां। विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥२४५॥

यह समयप्राभृतग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। कैसा है? जिसका विनाश न हो सके ऐसा जगत् में अद्वितीय नेत्र के समान है क्योंकि वह शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमय है उसको प्रत्यक्ष प्राप्त करता है। अर्थात् यह ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से दोनों तरह से नेत्र के समान है क्योंकि शुद्ध आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव कराता है।

जो समयपाहुडमिणं पडिदूण अत्थतच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ।।४१५।।

जो चेतयिता भव्य जीव इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ से और तत्त्व से समझकर इसके अर्थ में स्थिर होगा वह उत्तम सुख स्वरूप होगा ।

जो भव्य जीव इस समयप्राभृतग्रन्थ को पहले पढ़कर तथा ग्रन्थ और अर्थ से उसे सम्यक्प्रकार समझकर अनंतर उपायभूत शुद्धात्मलक्षण निर्विकल्प समाधि में स्थिर होंगे, वे भाविकाल में वीतरागसहज अपूर्व परमाल्हाद रूप आत्मा से ही उत्पन्न अतिशयशाली और बाधारहित सिद्धों के सुख को प्राप्त कर लेंगे ।

प्रश्न—वह सिद्धों का सुख कैसा है ?

उत्तर—देखो ! कोई मनुष्य स्त्रीसेवन आदि पंचेंद्रियों के विषयों के व्यापार से रहित निर्व्याकुलचित्त हुआ कहीं बैठा है । तब किसी ने पूछा कि हे भाई ! सुख से तो हो । तब उसने कहा, हां ! सुख से हूं उस समय उसे निराकुलता में जो कुछ भी सुख हुआ है वह सुख आत्मा से ही उत्पन्न है । अतः—वर्तमान में जो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य है वे सब निराबाधरूप से सभी इंद्रियों को प्रसन्न करने वाला इंद्रियजन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त सुख वर्तमान में भोग रहे हैं उन्हीं सभी के भूतकालीन और भविष्यतकालीन ऐसे त्रैकालिक सभी सुखों को एकत्रित करिये । उन समस्त सुखों से भी अनंतगुणासुख अतींद्रिय-जन्य निजस्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान् को एक समय में प्राप्त होता है । इस प्रकार अध्यात्म ग्रन्थ का स्वाध्याय करके रागद्वेष को दूर करते हुये परमशांति का अनुभव करना चाहिये ।

स्याद्वाद सिद्धि—

'स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वचनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनं इति स्याद्वादः' स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनं ।

स्यात्, कथंचित्, विवक्षित प्रकार से, अनेकांत रूप से कथन करना—प्रतिपादन करना स्याद्वाद है और वह स्याद्वाद अर्हंत भगवान् का शासन है । अथवा यह स्याद्वाद समस्त वस्तु तत्त्व को सिद्ध करने वाला अर्हंत सर्वज्ञ भगवान् का एक अस्खलित शासन है । यह स्याद्वाद सभी वस्तु को अनेकांतात्मक कहता है क्योंकि सभी वस्तुयें अनेकांत स्वभाव वाली हैं ।

प्रश्न—अनेकांत किसे कहते हैं ?

उत्तर—एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व नास्तित्व सदृश दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों को प्रतिपादन करने वाला अनेकांत है। वह अनेकांत यह बताता है कि ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है, शुद्धात्मा है, वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सत् असत् रूप किंवा नित्य अनित्य आदि स्वभाव वाला है।

उसी का स्पष्टीकरण—आत्मा ज्ञान रूप से तत् रूप है। तो वही आत्मा ज्ञेय रूप से अतत् रूप है, द्रव्यार्थिकनय से एक है तो पर्यायार्थिकनय से वही अनेक है। अपने द्रव्य क्षेत्र कालभावरूप स्वचतुष्टय के द्वारा वह आत्मा सत् रूप (अस्ति रूप) है तो वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है। द्रव्यार्थिकनय से नित्य है तो पर्यायार्थिकनय से अनित्य भी है। पर्यायार्थिकनय से भेद रूप है तो द्रव्यार्थिकनय से अभेदरूप है। इत्यादि अनेक धर्मवाला आत्मा है। श्री समंतभद्र स्वामी ने भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया। सर्वमेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते ॥

अर्थात् सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक और वक्तव्य-अवक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नयों के चार जोड़े हैं। इनको यदि सर्वथा रूप एकांत दृष्टि से मानें तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाने से दूषित हो जाते हैं। किंतु यदि स्यात्-कथंचित् रूप से इन्हें स्वीकार किया जाये तो ये एक दूसरे के पोषक (अनुकूल) बने रहते हैं। इस प्रकार अनेकांत के व्याख्यान से ज्ञान मात्र स्वभाव वाला जीव पदार्थ भी अनेकांतात्मक सिद्ध हुआ। इस प्रकार अज्ञान से मूढ़ प्राणियों को समझाने के लिये अनेकांत आत्मतत्त्व को ज्ञान मात्र सिद्ध करता हुआ स्वयं ही अनुभव गोचर होता है।

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं।
अलंघ्यं शासन जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥२६३॥

इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्था करके अपने स्वरूप को आप ही स्थापित करता हुआ अलंघ्य जैन शासन रूप यह अनेकांत व्यवस्थित सिद्ध हो गया है।

प्रश्न—जब यह आत्मा अनेकांतात्मक है तो यह अनंतधर्मात्मक सिद्ध हो गया, पुनः इस आत्मा को ज्ञान मात्र कैसे कहा ?

उत्तर—यहाँ लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य आत्मा की प्रसिद्धि हो जाती है अर्थात् यहाँ आत्मा का लक्षण जो ज्ञान मात्र किया है उसका अभिप्राय यही है कि वह ज्ञान आत्मा

का असाधारण गुण है, वह आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यह लक्षण सभी को मान्य है/प्रसिद्ध है। यह ज्ञान स्वसंवेदन रूप से सभी प्राणियों के अनुभव में आ रहा है अर्थात् मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ, इत्यादि रूप से सभी को 'मैं' शब्द से स्वयं का वेदन-अनुभव हो रहा है।

एक बात यह भी है कि आत्मा में अनंत धर्म हैं वे सभी ज्ञान के परिणमन स्वरूप हैं अर्थात् परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरूप को, धारण करने वाले अनंत धर्मों के समुदाय रूप परिणत हुई एक ज्ञान क्रिया, उस मात्र भावरूप करके अपने आप होने से आत्मा ज्ञान मात्र है यह बात बन जाती है। यद्यपि सभी धर्मों में लक्षण भेद हैं तो भी प्रदेश भेद नहीं है अतः एक असाधारण ज्ञान के कहने से सभी धर्म उसमें आ गये। इसी से इस आत्मा के ज्ञान मात्र एक भाव में अंतः पाती अनंत शक्तियाँ उदित होती हैं। मतलब आत्मा में अनंत शक्तियाँ मानी गई हैं ज्ञान उन सबका अनुभव करने वाला होने से वे सब ज्ञान के अंतर्गत/लीन के सदृश कह दी जाती है। वास्तव में वे सब पृथक्-पृथक् हैं।

उन शक्तियों का वर्णन—

(१) आत्म द्रव्य का चैतन्य मात्र भाव वही हुआ भावप्राण उसको धारण करने वाली जीवत्व शक्ति है।

(२) जड़रहित चेतना स्वरूप चिति शक्ति है।

(३) अनाकारोपयोगमयी दर्शन शक्ति है।

(४) साकारोपयोगमयी ज्ञान शक्ति है।

(५) अनाकुलत्व लक्षण सुख शक्ति है।

(६) आत्मस्वरूप की रचना की सामर्थ्य रूप वीर्य शक्ति है।

(७) अखंडित प्रताप सहित स्वातंत्र्यशाली प्रभुत्व शक्ति है।

(८) सर्वभावों में व्यापक एक भावरूप विभुत्व शक्ति है।

(९) समस्त विश्व को देखने में समर्थ सर्वदर्शित्व शक्ति है।

(१०) समस्त विश्व को जानने में परिणतज्ञान रूप सर्वज्ञ शक्ति है।

(११) अमूर्तिक आत्म प्रदेशों में लोकालोक के आकार को झलकाने वाली स्वच्छत्व शक्ति है।

इत्यादिरूप से इस समयसार में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने ४७ शक्तियों के नाम गिनाये

हैं। इनको आदि लेकर अनंत शक्तियों से युक्त आत्मा है तो भी वह अपने ज्ञानमात्र स्व-भाव को नहीं छोड़ता है।

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु, तत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयंतः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो, ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयंतः ॥२६५॥

वस्तु अपने आप अनेकांतात्मक है। ऐसे वस्तु तत्त्व की व्यवस्था को अनेकांत से संगत दृष्टि से देखते हुये सत्पुरुष स्याद्वाद की अधिक से अधिक शुद्धि को स्वीकार करके और जिनेंद्र भगवान् की स्याद्वाद नीति का उलंघन नहीं करते हुये ज्ञानी होते हैं। अर्थात् जो महापुरुष वस्तु को अनेकांत रूप जानते हैं श्रद्धान करते हैं, और अनुभव करते हैं वे ही ज्ञानी कहलाते हैं।

भावार्थ—इस स्याद्वाद अधिकार में प्रत्येक वस्तु को अनंत धर्म वाली सिद्ध किया है। वैसे ही आत्मा में भी अनंत गुणों को माना है। वे अनन्त गुण संसार अवस्था में शक्ति रूप हैं तथा मुक्ति में व्यक्त रूप हैं। उस आत्मा के अनंत गुणों में से एक ज्ञानगुण को ही विशेष करके इस समयसार में कहा है। मतलब यदि ज्ञानगुण न होवे तो उन अनंतगुणों का ज्ञान या अनुभव कौन करावे ? अतः सभी गुणों में एक ज्ञानगुण ही महान है। नेत्र के समान प्रधान है। उसी ज्ञानगुण के सहारे यह जीव संसार का अन्त करता है।

उपाय और उपेयभाव का विचार—

शुद्ध आत्मा यद्यपि ज्ञानमात्र भावरूप एक है तो भी वह अनेकांत स्वरूप सिद्ध किया जा चुका है। अतः एक आत्मतत्त्व में स्याद्वाद से साधित उपाय और उपेय दोनों भाव घट जाते हैं। आत्मा में जो साधक रूपता है वह उपाय है और जो सिद्ध रूपता है वह उपेय हैं। आत्मा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के संस्कार से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जब उसके विपक्षी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है तब वही आत्मा व्यवहार निश्चयरूप रत्नत्रय से परिणत होने के कारण स्वयं ही 'उपाय' कहलाता है और वही आत्मा रत्नत्रय को पूर्ण करके स्वयं मोक्ष पर्यायरूप/सिद्धपर्यायरूप परिणत होने से 'उपेय' कहलाता है।

जिनका किसी तरह अज्ञान दूर हो गया है ऐसे भव्य पुरुष ज्ञानमात्र निजभावमयी निश्चल भूमिका का आश्रय लेते हैं। वे पुरुष साधकपने को अंगीकार करके सिद्ध होते हैं और जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमिका को न पाकर संसार में भ्रमण करते हैं।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-पात्रीकृतः श्रयतिभूमिमिमां स एकः ।।२६७।।

जो भव्य जीव स्याद्वादनय कुशलता और सुनिश्चल व्रत समिति आदि रूप संयम इन दोनों के द्वारा अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में उपयोग लगाता हुआ आत्मा को निरंतर भाता है, वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय से उन दोनों में परस्पर में तीव्र मैत्री भाव का पात्र हुआ निज भावमयी भूमिका को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों में परस्पर मैत्री भाव को प्राप्त हुआ संयमी साधु सिद्धमयी भूमि को प्राप्त कर लेता है ।

'एक तरफ देखिये तो कषायों का क्लेश दीखता है, एक तरफ देखिये तो कषायों का उपशम रूप शांत भाव है। एक तरफ देखिये तो संसार सम्बंधी पीड़ा दीखती है, एक तरफ देखिये तो संसार का अभावरूप मुक्ति भी स्पर्श करती है और एक तरफ देखिये तो केवल एक चैतन्यमात्र ही शोभता है। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव की महिमा अद्भुत से भी अद्भुत विजय रूप होकर प्रवर्तती है।' निश्चल चैतन्य स्वरूप आत्मा में अपने द्वारा, अपने आपको निरन्तर मग्न करती हुई, मोह रहित, प्रतिपक्षी कर्मों से रहित, निर्मल और पूर्ण ऐसी अमृत-चन्द्र ज्योति—अमृतमयी चन्द्रमा के समान ज्योति—प्रकाश स्वरूप आत्मा सर्व क्षेत्रकाल में देदीप्यमान–प्रकाशरूप होवे ।

जो कर्मों से मुक्त है और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है। मैं उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति स्वरूप परमात्मा को नमस्कार करता हूँ ।

अब यहाँ सप्तभंगी प्रक्रिया को अवतरित करते हैं—

स्यादस्तिद्रव्यं, स्यान्नास्तिद्रव्यं, स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं, स्यादवक्तव्यं द्रव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।

यहाँ 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् है जो एकांत का निषेध और अनेकांत का प्रकाश करता है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है। अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है। स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की क्रम से अपेक्षा करने पर द्रव्य अस्ति-नास्ति रूप है। स्वचतुष्टय और पर-चतुष्टय भावों की युगपत् अपेक्षा करने पर द्रव्य अवक्तव्य है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की और युगपत् स्वपर चतुष्टय भावों की अपेक्षा करने से द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है। पर द्रव्यादि

चतुष्टय की और युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा करने से द्रव्य नास्ति अवक्तव्य है। स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव तथा युगपत् स्वपर द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा द्रव्य अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

इस तरह प्रत्येक वस्तु में सप्तभंगी घटित करना चाहिये।

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति। कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे : ॥२७८॥

यह समय आत्मवस्तु तथा समयप्राभृत नामक शास्त्र, उसका व्याख्यान या यह आत्मख्याति नामक टीका शब्दों के द्वारा की गई है और ये शब्द अपनी शक्ति से ही अच्छी तरह वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसमें आत्म-स्वरूप/ज्ञानमात्र में गुप्त होने वाले (प्रवेश करने वाले) मुझ अमृतचन्द्रसूरि ने कुछ भी नहीं किया है। यहाँ आचार्य ने समयसार का आश्रय लेते हुये अपने को स्वरूप में रहने वाला बतलाते हुये यह स्पष्ट किया है कि इस समयप्राभृत ग्रन्थ, की आत्मख्याति नाम की टीका को वस्तु तत्त्व प्रतिपादक शब्दों ने रचा है। मैं अकिंचित्कर हूँ। इस कथन से आचार्य श्री ने अपनी कर्तृत्व बुद्धि को हटाते हुये अपने अहंकाररूप उद्धतपने का त्याग किया है। तथापि निमित्त-नैमितिक व्यवहार से यह टीका अमृतचन्द्रसूरि द्वारा ही विरचित है। आत्मा की ख्याति–प्राप्ति के लिये प्रत्येक भव्य जीवों को इसका निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

अब देखिये—श्री जयसेनाचार्य इस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका को समाप्त करते हुये क्या कहते हैं ?—

अब प्राभृत और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य राजा के दर्शन के लिये जाता है तब कोई सारभूत वस्तु भेंट में देता है उसे ही प्राभृत कहते हैं। उसी प्रकार से परमात्मा के आराधक पुरुषों को निर्दोष परमात्मा के दर्शनार्थ यह शास्त्र प्राभृत सदृश है। क्योंकि यह सारभूत ग्रन्थ है इसीलिये इसे 'प्राभृत' कहते हैं। वैसे ही रागादि पर-द्रव्यों के अवलंबन से रहित होकर विशुद्धि का आधारभूत निज शुद्धात्मा में स्थित होना 'अध्यात्म' है।

प्रश्न—इस अध्यात्म रूप प्राभृत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिये ?

उत्तर—इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'मैं सहज शुद्धज्ञानानंदैक स्वभाव हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, नित्यनिरंजन शुद्धात्मा का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान

रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंद रूप सुखानुभूति मात्र लक्षण स्वसंवेदन से अनुभव के योग्य हूँ, मैं रागद्वेष, मोह क्रोधादिकषाय, पंचेंद्रिय विषय व्यापारादि विभाव परिणामों से शून्य हूँ तथा संसार के सभी जीव भी शुद्ध निश्चय-नय से इसी प्रकार ही शुद्धबुद्ध निरंजन सिद्ध समान हैं। निरंतर ऐसी भावना करते रहना चाहिये।

जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥१॥
जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥२॥

जिन महर्षि पद्मनंदी ने अपनी बुद्धिरूपी सिर से महातत्त्वपाहुड़/समयसार पाहुड़रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवों के लिये अर्पण कर दिया है वे पद्मनंदी महर्षि श्री कुंदकुंददेव जयवंत होवें। जिनका आश्रय लेकर भव्य लोग अनंत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह सब जीवों के लिये शरणभूत होकर रहने वाला जिन शासन चिरकाल तक जयवंत रहे।

यश्चाभ्यस्यति संश्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात्।
तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं॥
शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलं।
संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते॥

आत्मरस के रसिकों द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम की टीका सहित प्राभृत शास्त्र है इसको जो कोई आदर पूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा और इसे प्रसिद्ध करेगा, वह जीव शाश्वत अद्भुत सकलज्ञानस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे मुक्तिललना में आसक्त हुआ सदा ही अग्रपद–लोक के अग्रभाग में सदाकाल निवास करेगा।

卐—卐

सप्त परमस्थान

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्य सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाण चेति सप्तधा ।।

१. सज्जाति, २. सद्गृहस्थता (श्रावक के व्रत), ३. पारिव्राज्य (मुनियों के व्रत), ४. सुरेन्द्रपद, ५. साम्राज्य (चक्रवर्तीपद) ६. अरहंतपद और ७. निर्वाणपद ये सात परम स्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परमस्थानों को प्राप्त कर लेता है।

इन्हें कर्त्रन्वय क्रिया भी कहते हैं। इन सप्तपरमस्थानों का कर्त्रन्वय क्रियाओं के नाम से आदिपुराण[1] में सुन्दर विवेचन देखा जाता है।

(१) सज्जाति परमस्थान—

"इन क्रियाओं में कल्याण करने वाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि निकट भव्य को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर होती है।" दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करने वाले मनुष्य के सज्जाति नाम का परमस्थान होता है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध जाति रूपी संपदा सज्जाति है। इस सज्जाति से ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम वंशों को प्राप्त होता है। पिता के वंश की जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि जाति कहलाती है। कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को 'सज्जाति' कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुये गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है[2]।"

आर्यखंड की विशेषता से सज्जातित्व की प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलने पर प्राणियों के अनेक प्रकार के कल्याण उत्पन्न करती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही वर्णन की गई है क्योंकि पुरुषों के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूलकारण यही एक सज्जाति है। संस्काररूप जन्म से जो सज्जाति का वर्णन है वह दूसरी ही सज्जाति

---

1. आदिपुराण पर्व ३९, पृ० २७७।
2. स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये। विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ।।८३।।
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ।।८५।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ।।८६।। आदिपु० पर्व ३९

है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मा कहलाता है। अर्थात् प्रथम उत्तम वंश में जन्म यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की 'द्विज' यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यंत उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जाति व्यवस्था को माने बिना 'सज्जातित्व' नहीं बन सकती। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं—

'जिनमें शुक्लध्यान के लिये कारण ऐसे जाति गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं। उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जाति में कारणभूत नाम और गोत्र से सहित जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परंपरा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में मनुष्यों का वर्ण-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है[1]।'

कृतयुग की आदि में जब प्रजा भगवान् के सामने अपनी आजीविका की समस्या लेकर आई तब भगवान् ने उसे आश्वासन देकर विचार किया—

'पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जैसे असि, मषि आदि षट्कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर, नगर आदि की रचना है वह सब यहाँ पर भी होनी चाहिये। अनंतर भगवान् के स्मरण मात्र से देवों के साथ सौधर्म इंद्र वहाँ आया और उसने शुभ मुहूर्त में जगद्गुरु भगवान् की आज्ञानुसार मांगलिक कार्य पूर्वक अयोध्या के बीच में 'जिन मंदिर' की रचना की। पुनः सर्व ग्राम नगर आदि की रचना कर प्रजा को बसाकर चला गया।[2]'

---

1. जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः। येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥४९३॥
अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसततेः। तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात् ॥४९४॥
शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः। एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे ॥४९५॥ उत्तरपुराण, पर्व ७४।

2. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता। साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥१४३॥
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
आदिपुराण, पर्व १६।

'पुनः भगवान् ने असि, मषि आदि षट्कर्मों का उपदेश देकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की । उस समय प्रजा अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर अन्य आजीविका नहीं करती थी इसलिये उनके कार्यों में कभी संकर (मिलावट) नहीं होती थी । उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान् की आज्ञानुसार ही होते थे[1] ।' अर्थात् इस कर्मभूमि की आदि में भगवान् वृषभदेव ने अपने अवधिज्ञान के बल से विदेह क्षेत्र की अनादिनिधन कर्मभूमि की व्यवस्था को देखकर उसी के सदृश ही यहाँ सब व्यवस्था बनाई थी । अतः जैसे इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग की व्यवस्था सादि है भोगभूमि में या प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम और छठे काल में मोक्ष नहीं होता है वैसे ही यह वर्ण व्यवस्था भी सादि है फिर भी इसके बिना मोक्ष नहीं है ।

स्वयं कुंदकुंददेव भी कहते हैं—

'देश, कुल, जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन वचन काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव ! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिये हमेशा मंगलमयी होवें[2] ।'

जातिव्यवस्था को स्वीकार करने पर ही जाति से शुद्ध यह विशेषण सार्थक होता है ।

सिद्धांतचक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य भी कहते हैं—

'दुर्भाव, अशुचि, सूतक-पातक दोष से युक्त, रजस्वला स्त्री और जातिसंकर आदि दोष से दूषित लोग यदि दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । तथा जो कुपात्र में दान देते हैं वे भी कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं[3] ।'

जाति व्यवस्था मानने पर ही 'जातिसंकर' दोष बनेगा अन्यथा नहीं । उपासकाध्ययन में भी कहा है—

'जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर संतान की शुद्धि देखी जाती है । वैसे ही आप्त

1. आदिपुराण पर्व १६, पृ० ३६२, ३६३ ।
2. देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता । तुह्म' पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ।।
(श्रीकुंदकुंदकृत आचार्यभक्ति)
3. दुब्भावअसुयसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं । कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ।।६१४।। (त्रिलोकसार)

के निर्दोष होने पर उनका कहा हुआ आगम निर्दोष माना जाता है[1] ।' 'द्रव्य, दाता और पात्र की विशुद्धि होने पर ही विधि शुद्ध हो सकती है क्योंकि सैकड़ों संस्कार से भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता है[2] ।' उत्तरपुराण में एक कथा आती है कि 'जब सत्यभामा ब्राह्मणी को यह मालूम हुआ कि यह मेरा पति कपिल, ब्राह्मण न होकर दासी पुत्र है तो वह ब्रह्मचर्यव्रत लेकर राजा की शरण में गई । राजा ने भी सोचा कि 'पापी और विजातीय के लिये न करने योग्य कुछ भी नहीं है । इसीलिये राजा लोग कुलीन मनुष्यों का ही संग्रह करते हैं[3] ।' ऐसा समझकर राजा ने उस मायावी कपिल को दंडित किया ।

ऐसे ही गुणभद्रसूरि ने बताया है कि 'एक समय एक मुनि वेश्या के दरवाजे की तरफ से निकले तब वेश्या ने विनय से निवेदन किया—हे मुने ! मेरा कुलदान देने योग्य नहीं है । इस तरह अपने कुल की निंदा करती हुई वह पूछती है भगवन् ! उत्तम कुल और रूपादि इस जीव को किन कार्यों से मिलते हैं ? तब मुनि ने कहा हे भद्रे ! मद्य, मांस आदि के त्याग करने से उत्तम कुल आदि की प्राप्ति होती है[4] ।'

इसीलिये सोमदेवसूरि कहते हैं—

'मनुष्यों की क्रियायें शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त और आगम निर्दोष नहीं हैं तो उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है । जैसे कि क्रियायें शुद्ध होने पर भी विजाति लोगों से कुलीन संतान रूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है[5] ।'

अतः आचार्य आदेश देते है कि—

'धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं । अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही संबंध करना चाहिये । अन्य कुजातियों की स्त्रियों से, बंधु बांधवों की

1. पित्रो. शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९६॥ उपासकाध्ययन, पृ० २६
2. तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता । यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥३०८॥
उपासका०, पृ० १३९ ।
3. पापिष्ठानां विजातीनां नाकार्यं नाम किञ्चन । एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम् ॥ उत्तरपुराण, पृ० १६१ ।
4. दानयोग्यकुला नाहमस्मीत्यात्मानमुच्छुचा । निंदन्ती वाढमप्राक्षीत् मुने कथय जन्मिनाम् ॥२६०॥
कुलरूपादयः केन जायंते संस्तुता इति । मद्यमांसादिकत्यागादित्युदीर्य मुनिश्च सः ॥२६१॥ उत्तरपुराण, पर्व, ५९
5. आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु । नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥१७८॥
उपासकाध्ययन, पृ० ६१ ।

तथा व्रती स्त्रियों से भी संबंध नहीं करना चाहिये[1]।' 'यही कारण है कि जीवंधर कुमार ने गायों के जीतने के बाद ग्वालसरदार की कन्या गोविंदा को स्वयं न वरण कर अपने मित्र पद्मास्य को ही उसके योग्य समझा और उसके साथ विवाह कराया[2]।'

श्रीरविषेणाचार्य कहते हैं—

'१. कुल, २. शील, ३. धन, ४. रूप, ५. समानता, ६. बल, ७. अवस्था, ८. देश, ९. विद्यागम ये नौ गुण वर के कहे गये गये हैं तथापि उत्तम पुरुष इन सभी गुणों में एक कुल को ही श्रेष्ठगुण मानते हैं। परन्तु वही कुल नाम का गुण जिस वर में न हो भला उसे कन्या कैसे दी जा सकती है[3]।' यही कारण है कि जब सुग्रीव की भार्या सुतारा के महल में साहसगति विद्याधर कृत्रिम सुग्रीव का रूप बनाकर घुस आया और सत्य सुग्रीव के आ जाने के बाद जब मंत्री लोग सत्य और मायावी का निर्णय नहीं कर सके। तब उन लोगों ने विचार किया कि—

'लोक में गोत्रशुद्धि अत्यंत दुर्लभ है इसलिये उसके बिना बहुत भारी राज्य से भी प्रयोजन नहीं है। निर्मल गोत्र पाकर ही शीलादि आभूषणों से भूषित हुआ जाता है इसलिये इस निर्मल अंतःपुर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये[4]।'

इसीलिये तो भारतीय संस्कृति में विधवा विवाह का सर्वथा निषेध है। जब चन्द्रनखा को खरदूषण ने हरण कर लिया तब रावण के कुपित होने पर मंदोदरी कहती है—

'यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा[5]।'

जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरत

---

1. धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः। यज्जात्यैव पराजातिबंधुलिंगिस्त्रियस्त्यजेत् ॥४०६॥

2. गद्यचिंतामणि।

3. कुलं शीलं धन रूपं समानत्वं बल वयः। देशो विद्यागमश्चेति यद्युप्युक्ता वरे गुणाः ॥१४॥
तथापि तेषु सर्वेषु संतोऽभिजनमेककम्। वरिष्ठमनुरुध्यन्ते शेषेषु तु मनःसमम् ॥१५॥
स च न ज्ञायते यस्य वरस्य प्रथमो गुणः। कथं प्रदीयते तस्मै कन्या मान्या समंततः ॥१६॥पद्मपुराण, पर्व १०१।

4. अत्यतदुर्लभा लोके गोत्रशुद्धिस्तया विना। नितान्तपरमेणापि न राज्येन प्रयोजनम् ॥६४॥
संप्राप्य निर्मलं गोत्रं भव्यं शीलादिभूषितैः। तस्मादन्तःपुरं यत्नादिदं रक्ष्यं सुनिर्मलम् ॥६५॥पद्मपु०, पर्व ४७।

5. कथंचिच्च हतेऽप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता। अन्यस्मै नैव विश्राण्या केवल विधवीभवेत् ॥३६॥ पद्मपु० पर्व, ९।

सम्राट् के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिये तैयार हो गये। उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं—

'मैं सुलोचना को भी नहीं चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा[1]।'

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में कुल की शुद्धि देखकर सजाति में ही विवाह किये जाते थे। विधवा विवाह, पुनर्विवाह आदि प्रथायें निषिद्ध थीं। सजातीय भार्या को ही 'धर्मपत्नी' यह संज्ञा दी जाती है। राजाओं के जो अन्य विजातीय स्त्रियाँ भी रहती थीं वे केवल भोगपत्नी मानी जाती थीं। क्योंकि 'सज्जाति' से उत्पन्न संतान ही दान, पूजन करने के लिये अधिकारी है और 'सज्जाति' को ही दैगंबरी दीक्षा का विधान है। आचार ग्रन्थों में तो है ही, श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित 'जैनेन्द्र-व्याकरण' का भी सूत्र है—

जो वर्ण से अर्हत् रूप के योग्य नहीं हैं[2] इससे स्पष्ट है कि तीन वर्ण ही दीक्षा के योग्य हैं और अंतिम वर्ण दीक्षा के अयोग्य है।

जिस प्रकार गुलाब के वृक्ष की टहनी (कलम) काटकर लगाते हैं। तो श्वेत, लाल या गुलाबी जैसे भी गुलाब तरु की टहनी है वैसा ही फूल आता है और यदि आजकल विज्ञान से शिक्षित लोग सफेद गुलाब की कलम और लाल गुलाब की कलम दोनों को मिलाकर लगा देते हैं तो उसमें श्वेत या लाल गुलाब फूल न आकर एक तीसरे ही रंग का फूल आ जाता है तथा श्वेत या लाल गुलाब जैसी असली सुगंधि भी उसमें नहीं रहती है। कालांतर में उस संकर (मिश्रित) गुलाब की कलम भी नहीं लगायी जा सकती है चूंकि उसकी उपजाऊ शक्ति खत्म हो जाती है। वैसे ही 'जातिसंकर' से दूषित कुल में मोक्षमार्ग परंपरा नहीं चलती है। क्योंकि 'सज्जाति' परम स्थान के बिना 'पारिव्राज्य' परम स्थान और मोक्ष मिलना असंभव है।

कुछ लोगों का कहना है कि छठे काल में 'सज्जातित्व' समाप्त हो जावेगा,

---

1. नाहं सुलोचनाप्यर्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयं। परासुरधुनैव स्याद् किं मे विधवया त्वया ॥६५॥
आदिपुराण, पर्व, ४४, पृ० ३६१।

2. 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां'।

क्योंकि तब विवाहप्रथा रहेगी ही नहीं। पुनः आगे छठे और पंचम काल के बाद चतुर्थ काल के अंत में कुलकर जन्म लेंगे एवं उन्हीं में तीर्थंकरों का भी जन्म होगा। तो बिना 'सज्जाति' के भी मोक्षमार्ग चलेगा ही। इस पर चारित्रचक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने बहुत ही सुंदर समाधान दिया था। उन्होंने कहा था कि—

छठे काल के अंत में प्रलय के समय जो बहत्तर जोड़ा देवों द्वारा यहां से ले जाये जाकर विजयार्ध की गुफाओं में सुरक्षित किये जावेंगे। तिलोयपण्णत्ति में ऐसा कथन है कि उस समय कुछ और भी मनुष्य सुरक्षित रखे जावेंगे। उन्हीं में से जिनमें 'सज्जाति' (बिना विवाह के भी एक स्त्री से संबंध होने की परंपरा) सुरक्षित रह जावेगी उन्हीं से कुलकर तीर्थंकर आदि जन्म लेवेंगे। उदाहरण के लिये देखिये—

यदि कोई एक बोरी गेहूँ घुने हुये लाकर किसी चतुर महिला को दे देवे और कहे कि इन सर्वथा घुने हुये गेहूँ में से भी तुम २-४-१० गेहूँ बिना घुने हुये निकाल दो तो आप ही बतलाइये १०-२० गेहूँ बिना घुने हुये उस बोरी भर गेहूं में से ढूंढने पर मिलेंगे या नहीं ? यदि मिल सकते है तो फिर वैसे ही कई करोड़ों मनुष्यों की संख्या में से १०-२० स्त्री-पुरुष (दंपती) शुद्ध 'सज्जाति' वाले तब भी सुरक्षित रह सकते है और उन्हीं में से ही किन्हीं को कुलकर तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य मिल सकता है ऐसा विश्वास करना चाहिये।

(२) सद्गार्हस्थ्यपरमस्थान—

सज्जाति नाम के परमस्थान को प्राप्त करने वाला भव्य 'सद्गृहित्व' परमस्थान को प्राप्त करता है। वह सद्गृहस्थ आर्य पुरुषों के करने योग्य छह कर्मों का पालन करता है। गृहस्थ अवस्था में करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहंत भगवान् द्वारा कहे गये उन-उन समस्त आचरणों का जो आलस्यरहित होकर पालन करता है जिसने श्री जिनेन्द्र देव से उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधर देव ने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज-आत्मतेज को धारण करता है। अर्थात् प्रथम तो शरीर का जन्म पुनः गुरु के द्वारा व्रतों को ग्रहण करने से संस्कार का जन्म ऐसे दो जन्म जिसके होते हैं उसे द्विज—द्विजन्मा कहते हैं। वर्तमान में ब्राह्मणों को द्विज संज्ञा है। भरत सम्राट ने भी जैनव्रती श्रावकों को ही ब्राह्मण संज्ञा दी थी। किन्तु यहाँ पर तो उच्चवर्णीय सद्गृहस्थ ही विवक्षित हैं।

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि जो असि, मषी आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले जैनद्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसा का दोष लग सकता है परन्तु इस विषय में जैनाचार्य कहते हैं कि यद्यपि आजीविका के लिये छह कर्मों के करने वाले जैन गृहस्थों को थोड़ी सी हिंसा की संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रों में उन दोषों[1] की शुद्धि भी तो दिखलाई गई है। उनकी विशुद्धि के अंग तीन हैं—पक्ष, चर्या और साधन। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष कहलाता है। किसी देवता के लिये, किसी मंत्र की सिद्धि के लिये अथवा किसी औषध या भोजन बनवाने के लिये मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी इच्छा न रहते हुये प्रमाद से दोष लग जावे तो प्रायश्चित से उसकी शुद्धि की जाती है तथा अंत में अपना सब कुटुम्ब पुत्र के लिये सौंपकर घर का परित्याग किया जाता है। यह गृहस्थ लोगों की चर्या कही।

आयु के अंत समय में शरीर, आहार और समस्त प्रकार की चेष्टाओं का परित्याग कर ध्यान की शुद्धि से जो आत्मा को शुद्ध करना है वह साधन है। अरहंत देव को मानने वाले जैनों का पक्ष, चर्या और साधन इन तीनों में हिंसा के साथ स्पर्श भी नहीं होता।

चारों आश्रमों की शुद्धता भी श्री अर्हंत देव के मत में ही है। अन्य लोगों ने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये बिना ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम माने है जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होने से प्राप्त होते हैं। ये चारों ही आश्रम अपने-अपने अंतर्भेदों से सहित होकर अनेक प्रकार के हो जाते हैं।[2] मैत्री आदि चारों भावनाओं का लक्षण राजवार्तिक में बहुत ही सुन्दर है—

१. अनादिकाल से आठ प्रकार के कर्म बंधन से बंधे हुये जीव तीव्र दुःखों के लिये कारणभूत ऐसी चारों गतियों में हमेशा ही दुःख उठाते रहते हैं। इन संसारी प्राणियों को ही यहाँ सत्व संज्ञा है। ऐसे सभी सत्वों में—प्राणीमात्र में मैत्रीभाव रखना अर्थात् मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से दूसरों को दुःख न होने देने की अभिलाषा का नाम मैत्री भावना है। मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, मेरी

1. जिनसेनाचार्य (आदिपुराण पर्व ३९) 2. आदिपुराण पर्व ३९।

सब जीवों से प्रीति है मेरा किसी से वैर नहीं है ? इत्यादि प्रकार की भावना ही मैत्री है ।

२. सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष गुणाधिक हैं । ऐसे गुणीजनों में प्रमोद भाव होता है गुणीजनों को देखकर मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आल्हाद, रोमाञ्च; स्तुति, सद्गुण कीर्तन आदि के द्वारा अंतरंग की भक्ति को, भावों के अनुराग को प्रगट करना प्रमोद भावना है ।

३. असाता वेदनीय के उदय से जो शारीरिक या मानसिक दुःखों से संतप्त हैं क्लिश्यमान कहलाते हैं । ऐसे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह रूपभाव का होना कारूण्य भावना है । मोह से अभिभूत कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञान से युक्त विषयतृष्णा से जलने वाले हित-अहित में विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, बाल, वृद्ध आदि जीव क्लिश्यमान हैं । उन जीवों के प्रति दया भाव से ओत-प्रोत हो जाना कारूण्य भावना है ।

४. तत्त्वों के उपदेश को जो श्रवण करते है और उनको ग्रहण करने के पात्र है उन्हें विनेय कहते हैं । इससे विपरीत अविनेय हैं । इन विरुद्धचित्त वालों में माध्यस्थभाव रखना । जो व्यक्ति ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित हैं, महामोह से अभिभूत हैं और विपरीत दृष्टि—महामिथ्यादृष्टि हैं ऐसे विरुद्धवृत्ति वाले जीवों के प्रति राग-द्वेष न करके माध्यस्थ्यभाव रखना चौथी भावना है । वास्तव में ऐसे अविनेय लोगों के प्रति किया गया धर्म का उपदेश सफल नहीं हो सकता है प्रत्युत कभी-कभी अनर्थ का कारण भी बन जाया करता है अतएव आचार्यों ने ऐसे विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ रहने का आदेश दिया है । जैसे कि रक्षाबंधन कथा में श्रुतसागर मुनि के द्वारा दिया गया तत्त्वों का उपदेश बलि आदि दुर्बुद्धि मंत्रियों के लिये उल्टा हुआ और वे संघ के अहित में तत्पर हो गये ।

इस प्रकार से इन मैत्री प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ भावनाओं को भाने वाला व्यक्ति जब समस्त हिंसा को अर्थात् संकल्पपूर्वक त्रस हिंसा को छोड़ देता है और धर्म के पक्ष में तत्पर हो जाता है तब वह पाक्षिक कहलाता है ।

सागारधर्मामृत में इस पाक्षिक श्रावक के लिये मद्य मांस मधु और पंच उदुंबर फल इन आठों का त्याग करना अत्यावश्यक बतलाया है । रात्रिभोजन त्याग और अनछना पानी

पीने का त्याग भी कहा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का भी स्थूल त्याग करना चाहिये तथा जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री इन सात व्यसनों का त्याग भी होना चाहिये। तभी वह 'पाक्षिक' संज्ञा को प्राप्त होता है।

श्रावक के धर्म—दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। ऐसा आर्ष में कहा गया है। दान के चार भेद हैं–आहार दान, औषधिदान, शास्त्रदान और वसतिकादान। अंतिम दो दान के ज्ञानदान और अभयदान भी नाम प्रसिद्ध हैं। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि चतुर्विध संघ को ये चारों दान देते हैं। पात्र के भी उत्तम, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद माने गये हैं।

आदि पुराण में पूजा के पांच भेद बताये हैं—

नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह, आष्टान्हिकमह और ऐंद्रध्वजमह। मह का अर्थ पूजा है। नित्यप्रति जिनेंद्रदेव की जलगंधादि से अर्चना करना, जिनबिंब-जिनमंदिर बनवाना, मुनीश्वरों की पूजा करके उन्हें आहार देना यह सब नित्यमह है। महामुकुटबद्ध राजा लोग जो बड़े वैभव से पूजा करते हैं वह चतुर्मुख या सर्वतोभद्र है। आष्टान्हिक पर्व में की गई पूजा आष्टान्हिक है। चक्रवर्ती सबकी इच्छा पूर्ण करने वाला ऐसा किमिच्छक दान देते हुये जो पूजा करते है वह कल्पद्रुम पूजा है। इंद्रों के द्वारा जो पूजन होती है उसका नाम ऐंद्रध्वज है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना शील है और अष्टमी आदि पर्वों में चतुर्विध आहार का त्याग करना उपवास है। इस उपवास के अनुष्ठान में अनेकों भेद होते हैं। इस श्रावक धर्म का उपदेश जिनेंद्रदेव ने दिया है। यह बात सिद्धांतग्रन्थों में कही गई है।

कसायपाहुड—टीका जयधवला में शंका-समाधान पूर्वक इसी बात को कहा है—

शंका—"चौबीसों तीर्थंकर सदोष हैं क्योंकि उन्होंने छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत ऐसे श्रावक धर्म का उपदेश दिया है। दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावक धर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है। क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिराना-गिरवाना तथा उनको पकाना-पकवाना आदि

'छहकाय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है। तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना, और धूप जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है[1]।'

शील की रक्षा भी सावद्य है क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है। उपवास भी सावद्य है क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है। अथवा जिनेंद्रदेव श्रावकों को स्थूल अहिंसा का उपदेश देते हैं। अर्थात् 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रस जीवों को ही मत मारो।' ऐसा प्रतिपादन करते हैं इन्हीं सब सावद्य कारणों का उपदेश देने से जिनेंद्रदेव निर्दोष नहीं हैं।

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आताप में और खुले हुये स्थान में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण जिनेंद्रदेव निरवद्य नहीं हैं और इसीलिये वे वंदनीय नहीं हैं।"

यहाँ तक शंकाकार ने अपनी शंका रखी है अब आचार्य इसका समाधान देते हैं—

"उपर्युक्त शंकाओं का परिहार करते हैं कि—यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता है।[2]"

"तीर्थंकर का विहार संसार के लिये सुखकर है किंतु उससे पुण्य फलरूप कर्मबंध होता हो ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरम्भ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं अर्थात् वे दान पूजा आदि आरंभों का उपदेश देते हैं उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है[3]।" "जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुये हैं। उनके खुले रहते हुये जो जीव शुभास्रव के द्वार को खोलता है अर्थात् शुभास्रव के

1.——.....'छज्जीवविराहणहेडणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-पुरफुरल्लारोहण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च।'
(जयधवला, पुस्तक १; पृ० १००)

2. 'जयवि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसि कम्मबंधो अत्थि। (जयधवला, पृ० १, पृ० १०१)

3. तित्थयरस्सविहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेई ॥५४॥ (जयधवला, पृ० १, पृ० १०५)

कारणभूत कार्यों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है।[1]" "और जब महाव्रती मुनियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है ?[2]"

इन शंका और समाधान के प्रकरण को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनेंद्र-देव ने श्रावकों के लिये दान, पूजन करना, जिनमंदिर बनवाना आदि आरंभ का उपदेश दिया है। एवं मुनियों के लिये अनशन आदि तपश्चरण का उपदेश दिया है फिर भी न वे सदोष हैं और न उनके बताये मार्ग पर चलने वाले श्रावक और मुनि ही सदोष हैं। अतः इस 'सद्गृहित्व' नामक परस्थान के इच्छुक गृहस्थ को दान, पूजा, शील, उपवास धर्मों को यथाशक्ति करते रहना चाहिये।

(३) पारिव्राज्य परमस्थान—

घर से विरक्त होकर जो पुरुष का दीक्षा ग्रहण करना है वह पारिव्राज्य है। परिव्राट् का जो निर्वाण दीक्षा रूप भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं। इस पारिव्राज्य परमस्थान में ममत्व भाव छोड़कर दिगंबर रूप धारण करना पड़ता है। मोक्ष के इच्छुक पुरुष को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभयोग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुंदर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करने के योग्य माना गया है। जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्रमा पर परिवेष–मंडल हो, इंद्रधनुष हो, दुष्ट ग्रहों का उदय हो, आकाश मेघ पटल से ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मास का दिन हो, संक्रांति हो अथवा क्षय तिथि हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य को मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यों का दीक्षा संस्कार नहीं करना चाहिये।

आचार्य सुयोग्य शिष्य को दीक्षा विधि में सर्वप्रथम केशलोच कराते हैं, पुनः सर्ववस्त्र आभूषण त्याग कराकर अट्ठाईस मूलगुणों की विधि समझाकर उन्हें दीक्षा देते हैं।

---

1. पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंतो कउ सदोसो ॥५७॥ (जयध: पु० १, पृ० १०६)

2. घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईण कुदो पावं ॥६०॥ (जयध०, पु० १, पृ० ६०)

संयम की रक्षा के लिये मयूर पंखों की पिच्छी, शौच के लिये काठ का कमंडलु और ज्ञान के लिये शास्त्र देते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण—पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इंद्रियों को वश करना, छह आवश्यक क्रिया, लोच, आचेलक्य, स्नान का त्याग, क्षिति शयन, दंत धावन न करना, खड़े होकर आहार करना, एक बार आहार करना ये २८ मूलगुण हैं।

पांच महाव्रत—मुख्य व्रतों को महाव्रत कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये कारण भूत हिंसादि के त्याग को व्रत कहते हैं। जिनको तीर्थंकर आदि महापुरुष ग्रहण करते हैं अथवा जो पालन करने वाले को महान् बना देते हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। इसके पांच भेद है—

अहिंसा महाव्रत—कषाययुक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहते हैं। प्रमत्त योग से दश प्राणों का वियोग करना हिंसा है। ऐसी हिंसा से विरत होना, सर्व प्राणियों पर पूर्ण दया का पालन करना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत—प्राणियों को जिससे पीड़ा होगी ऐसा भाषण, चाहे विद्यमान पदार्थ विषयक हो अथवा न हो, उसको त्याग करना।

अचौर्य महाव्रत—अदत्तवस्तु को ग्रहण नहीं करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—पूर्णतया मैथुन का–स्त्री मात्र का त्याग कर देना।

परिग्रहत्याग महाव्रत—बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों का त्याग करना, मुनियों के लिए अयोग्य समस्त वस्तुओं का त्याग करना।

ये पांच महाव्रत सर्व सावद्य–पापों के त्याग के कारण हैं।

पांच समिति—सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। उसके पांच भेद हैं—

ईर्या समिति—अच्छी तरह देखकर मन को स्थिर कर गमन-आगमन करना।

भाषा समिति—आगम से अविरुद्ध, पूर्वापर संबंध से रहित, निष्ठुरता, कर्कश, मर्मच्छेदक आदि दोषों से रहित भाषण करना।

एषणा समिति—लोकनिंद्य आदि कुलों को छोड़कर और सूतक, पातक; जाति संकर आदि दोषों से रहित घरों में छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय टालकर आहार ग्रहण करना।

आदान निक्षेपण समिति—आंखों से देखकर और पिच्छिका से शोधन कर यत्न-पूर्वक वस्तु को रखना और उठाना।

प्रतिष्ठापन समिति—जंतु रहित प्रदेश में ठीक से देखकर मलमूत्रादि का त्याग करना। ये पांच समितियां हैं।

पञ्च इन्द्रिय निरोध—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पंच इंद्रियों के विषयों से इंद्रियों को हटाना–नियंत्रण करना इंद्रिय निरोध है।

छह आवश्यक क्रियायें—अवश्य करने योग्य क्रियाएं आवश्यक कहलाती हैं।

समता—रागद्वेष मोह से रहित होना अथवा त्रिकाल पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करना।

स्तव—ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

वंदना—एक तीर्थंकर का दर्शन या वंदन करना अथवा पंचगुरुभक्ति पर्यंत वंदना करना।

प्रतिक्रमण—अशुभ मन, वचन और काय के द्वारा जो प्रवृत्ति हुई थी उससे परा-वृत्त होना। अथवा किये हुये दोषों का शोधन करना। इस प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं।

प्रत्याख्यान—अयोग्य द्रव्य का त्याग करना अथवा योग्य वस्तु का भी त्याग करना।

व्युत्सर्ग—देह से ममत्व रहित होकर जिनगुण चिंतन युक्त कायोत्सर्ग करना। ऐसे छह आवश्यक हैं। इंद्रिय, कषाय, रागद्वेषादि के वश में जो नहीं हैं वे अवश हैं, उनकी क्रियाएं आवश्यक क्रियाएं हैं। ये छह आवश्यक मुनियों को नित्य ही करना चाहिये।

लोच—अपने हाथों से मस्तक और दाढ़ी-मूंछ के केशो को उखाड़ कर फेंक देना। यह केशलोंच उत्कृष्ट दो महीने में, मध्यम तीन और जघन्य चार महीने में होता है।

आचेलक्य—चेल–वस्त्र एवं मुनिपने के अयोग्य सर्व परिग्रहों का त्याग कर देना।

अस्नान—स्नान का त्याग।

क्षितिशयन—घास, लकड़ी का फलक, शिला इत्यादि पर सोना ।

अदंतधावन—दांतौन के लिये दंत मंजन, काष्ठादि का उपयोग नहीं करना ।

स्थितिभोजन—खड़े होकर पैरों को चार अंगुल अंतर से रखकर भोजन करना ।

एक भक्त—दिन में एक बार आहार लेना । इस प्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण कहलाते हैं ।

प्रत्येक दिगंबर मुनियों में इन मूलगुणों का होना आवश्यक है । मुनियों के २२ परीषह जय और १२ तप ये ३४ उत्तर गुण कहलाते हैं । ये किन्हीं में होते हैं, किन्हीं में नहीं भी होते हैं ।

२७ सूत्रपद—

पारिव्राज्य परमस्थान में सत्ताईस सूत्रपद निरूपित किये गये हैं कि जिनका निर्णय होने पर पारिव्राज्य का साक्षात् लक्षण प्रगट होता है । उनके नाम—जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, शरीर की सुंदरता, प्रभा, मंडल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंदनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं । ये परमेष्ठियों के गुणस्वरूप हैं । ये गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यथा संभव रूप से होते हैं परन्तु शिष्य को अपने जाति आदि गुणों का सन्मान नहीं करके परमेष्ठी के ही जाति आदि गुणों का सन्मान करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ।

१. जाति—स्वयं उत्तम जातिवाला होने पर भी अहंकार रहित होकर अरहंतदेव के चरणों की सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वह भव्य मुनि दूसरे जन्म में क्रम से दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियों को प्राप्त हो जाता है । इंद्र के दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजयाश्रिता, अरहंतदेव के परमा और मोक्ष को प्राप्त हुये जीवों के अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाली स्वा जाति होती है ।

२. मूर्ति—जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियों को प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिये । जिस प्रकार जाति के चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति के भी

चार भेद होते हैं। दिव्या मूर्ति, विजयाश्रिता मूर्ति, परमामूर्ति और स्वामूर्ति। कोई आचार्य मूर्ति के तीन भेद ही मानते हैं वे सिद्धों में स्वामूर्ति नहीं मानते हैं क्योंकि मूर्ति का अर्थ शरीर से है।

३. लक्षण—शरीर में उत्तम-उत्तम तिल, व्यंजन आदि लक्षणों को धारण करता हुआ भी मुनि उन अपने लक्षणों को निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेंद्र देव के लक्षणों का चिंतवन करते हुये तपश्चरण करे। इसमें भी दिव्य लक्षण, विजयाश्रित लक्षण, परमालक्षण और स्वालक्षण ऐसे चार भेद हो जाते हैं।

४ सुन्दरता—जिनकी परम्परा अक्षुण्ण है ऐसे दिव्य आदि सौंदर्यों की इच्छा करता हुआ मुनि अपने शरीर के सौंदर्य को मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे। इसके प्रभाव से ही उसे अगले भवों में दिव्य सौंदर्य, विजयाश्रित सौंदर्य, परम सौंदर्य और स्वसौंदर्य प्राप्त होगा।

५ प्रभा—मुनि अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली प्रभा का त्याग कर शरीर को रज पसीने आदि से मलिन रखते हुये अरहंत देव की प्रभा का ध्यान करे। इसी के प्रभाव से वह अगले भवों में दिव्य प्रभा, विजयाश्रित प्रभा, परमप्रभा और स्वप्रभा को प्राप्त करलेता है।

६. मण्डल—जो मुनि अपने मणि और दीपक आदि के तेज को छोड़कर तेजोमय जिनेंद्र देव की आराधना करता है वह प्रभा मण्डल से उज्ज्वल हो उठता है। अर्थात् वह दिव्य प्रभा मण्डल, विजयाश्रित प्रभा मण्डल, परम प्रभामण्डल और स्वप्रभा मण्डल को प्राप्त कर लेता है।

७. चक्र—जो पहले के अस्त्र, शस्त्र और वस्त्र आदि को छोड़कर अत्यन्त शांत होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह मुनि धर्मचक्र का अधिपति होता है। अर्थात् वह इन्द्र का दिव्य चक्र, चक्रवर्ती का विजयाश्रित—सुदर्शन चक्र, अरहंत देव का परमचक्र—धर्मचक्र और सिद्धों का स्वचक्र—स्वगुणसमूह को प्राप्त कर लेता है।

८. अभिषेक—जो मुनि स्नान आदि संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिंतवन करता है वह मेरु पर्वत पर उत्कृष्ट जन्माभिषेक को प्राप्त होता है। यहां पर भी इन्द्र का दिव्य अभिषेक, चक्रवर्ती का साम्राज्य पद पर विजयाश्रित अभिषेक और तीर्थंकर अरहंत का जन्मकाल में जन्माभिषेक समझना चाहिये।

९ नाथता—जो मुनि अपने इस लोक सम्बन्धी स्वामीपने को छोड़कर परमस्वामी श्री जिनेन्द्र देव की सेवा करता है वह जगत के जीवों द्वारा सेवनीय होने से सबके नाथपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसकी सेवा करते हैं। यहाँ पर भी दिव्य नाथता, विजयाश्रित नाथता, परमनाथता और स्वानाथता घटित कर लेना चाहिये।

१०. सिंहासन—जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्यागकर दिगंबर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करने वाला तीर्थंकर होता है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य सिंहासन, विजयाश्रित सिंहासन, परम सिंहासन और स्व सिंहासन लगा लेना चाहिये।

११. उपधान—जो मुनि अपने तकिया आदि का अनादर करके परिग्रह रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजा पर शिर को रखकर पृथ्वी के ऊँचे-नीचे प्रदेश पर शयन करता है वह महा अभ्युदय को प्राप्त कर जिन हो जाता है। उस समय सब लोग उसका आदर करते हैं और वह देवों के द्वारा बने हुये देदीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है। यहाँ भी दिव्य उपधान, विजयाश्रित उपधान, परम उपधान और स्व उपधान समझना चाहिये।

१२. छत्र—जो मुनि शीतल छत्र—छाते आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नों से युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है। अर्थात् गृहस्थावस्था के धूप के निवारक छाता आदि परिग्रह त्यागी मुनि को क्रम से दिव्य छत्र, विजयाश्रित छत्र, परमछत्र, और स्वछत्र प्राप्त होते हैं।

१३. चामर—जिसने अनेक प्रकार के पंखाओं के त्याग से तपश्चरण विधि का पालन किया है ऐसे मुनि को जिनेन्द्र पर्याय प्राप्त होने पर चौंसठ चामर ढुलाये जाते हैं अर्थात् दिव्य चामर, विजयाश्रित चामर और परम चामर, संज्ञक चंवर उनपर ढुरते हैं।

१४. घोषणा—जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्याग कर तपश्चरण करता है उसके बिजय की सूचना स्वर्ग की दुंदुभियों के गंभीर शब्दों से घोषित की जाती है। यहाँ पर भी क्रम से दिव्य घोषणा, विजयाश्रित घोषणा और परमघोषणा समझना चाहिये।

१५. अशोकवृक्ष—चूंकि पहले उसने अपने उद्यान आदि की छाया का परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये अब उसे अरहंत अवस्था में महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति

होती है। यहाँ पर भी इन्द्र के नंदन वन का अशोक दिव्य अशोक, चक्रवर्ती के उद्यान का विजयाश्रित अशोक और अरहंतदेव का परम अशोक वृक्ष समझना।

१६. निधि—जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता है। समवसरण भूमि में निधियाँ दरवाजे पर खड़ी होकर उसकी सेवा करती हैं। यहाँ पर भी दिव्य निधि, विजयाश्रित निधि और परमनिधि की कल्पना की जा सकती है।

१७. गृहशोभा—जिसकी सब ओर से रक्षा की गई थी ऐसे अपने घर की शोभा को छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिये श्रीमंडप की शोभा अपने आप इसके सामने आ जाती है। यहाँ पर भी इन्द्र के विमान की शोभा दिव्य गृह शोभा है, चक्रवर्ती के भवन की शोभा विजयाश्रित गृहशोभा है और अरहंत देव के समवरण में श्रीमंडप की शोभा है। अंत में निर्वाणधाम की शोभा स्व-गृहशोभा कही जावेगी।

१८ अवगाहन—जो मुनि तप करने के लिये सघन वन में निवास करता है उसे तीनों जगत् के जीवों के लिये स्थान दे सकने वाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है। अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकों के समस्त जीव स्थान पा सकते हैं। यहाँ पर भी इन्द्रों का दिव्य अवगाहन, चक्रवर्ती का विजयाश्रित अवगाहन, अरहंत का परम अवगाहरन और सिद्धों का स्व अवगाहन घटित कर लेना चाहिये।

१९. क्षेत्रज्ञ—जो क्षेत्र मकान आदि का त्याग कर शुद्ध आत्मा का आश्रय लेता है उसे तीनों जगत् को अपने अधीन रखने वाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अर्थात् इन्द्र को दिव्य क्षेत्रज्ञ, चक्रवर्ती को विजयाश्रित क्षेत्रज्ञ, अरहंत को परम क्षेत्रज्ञ और सिद्धों को स्वक्षेत्रज्ञ प्राप्त होता है।

२०. आज्ञा—जो मुनि आज्ञा देने का अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसकी उत्कृष्ट आज्ञा सुर-असुर गण अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा समस्त जीव मानते है। यहाँ भी दिव्य आज्ञा, विजयाश्रित आज्ञा, परम आज्ञा और अंत में स्व आज्ञा प्राप्त होती है।

२१. सभा—जो मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदि की सभा का परित्याग कर देता है उसके अरहंत अवस्था में तीनों लोकों की सभा समवसरण सभा प्राप्त होती है। अर्थात् इन्द्र की दिव्य सभा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित सभा, अरहंत की परमसभा और सिद्धों की स्व-सभा ये क्रम से उसे प्राप्त हो जाती है।

२२. कीर्ति—जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति-निंदा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकों के इन्द्रों द्वारा प्रशंसित होता है। यहाँ भी क्रम से दिव्य कीर्ति, विजयाश्रितकीर्ति, परमकीर्ति और स्वकीर्ति मिलती है।

२३. वंदनीयता—इस मुनि ने वंदना करने योग्य अरहंतदेवकी बंदना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वंदना करने योग्य भी पूज्य पुरुषों द्वारा बंदना को प्राप्त हो जाता है। यहाँ भी दिव्य वंदनीयता, विजयाश्रित वंदनीयता, परमवंदनीयता और स्ववंदनीयता इन चारों की प्राप्ति उन वंदना करने वाले मुनि को प्राप्त हो जाती है।

२४. वाहन—जो पादत्राण-जूता और सवारी आदि का त्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलों के मध्य में चरण रखने योग्य हो जाता है अर्थात् अरहंत अवस्था में देवगण उनके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं। यहाँ भी दिव्यवाहन, विजयाश्रित वाहन, परमवाहन और स्ववाहन घटित करना चाहिये।

२५. भाषा—चूंकि यह मुनि वचनगुप्ति को धारण कर अथवा हित-मित वचनरूप भाषा समिति का पालनकर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभा को संतुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है। यहाँ भी इन्द्रों की दिव्यभाषा, चक्रवर्ती की विजयाश्रित भाषा, अरहंत की परमभाषा समझना तथा सिद्धों की भाषा नहीं है।

२६. आहार—इस मुनि ने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणायें कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

२७. सुख—यह मुनि काम जनित सुख को छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरण में स्थिर रहा है इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है। यहाँ पर भी क्रम से इसे दिव्यसुख, विजयसुख, परमसुख और स्वसुख प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार से ये सत्ताईस सूत्रपद कहे गये हैं। इनके होने पर मुनि चर्या आदर्श चर्या हो जाती है।

इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है; संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकार की जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है। जिस तपश्चरण रूपी

चिंतामणि का फल उत्कृष्ट पद की प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहंत देव की जाति तथा मूर्ति आदि की प्राप्ति होती है ऐसे पारिव्राज्य नाम के परमस्थान का वर्णन किया गया है।

जो आगम में कही हुई जिनेन्द्र आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसी के वास्तविक पारिव्राज्य होता है। अनेक प्रकार के वचनों के जाल में निबद्ध तथा युक्ति से बाधित अन्य लोगों के पारिव्राज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्य को ग्रहण करना चाहिये। यह तीसरा पारिव्राज्य परम-स्थान होता है।

(४) सुरेंद्रता परमस्थान—

इंद्र पद प्राप्त करना 'सुरेन्द्रता' नाम का चौथा 'परमस्थान' होता है। जिन्होंने पारिव्राज्य नामक परमस्थान को प्राप्त कर अन्त में सल्लेखना विधि से शरीर को छोड़ा है उन्हीं को यह 'सुरेन्द्रता' परमस्थान प्राप्त होता है। कोई भी पुण्यशाली मुनि संन्यास विधि से मरणकर देवगति नाम कर्म के उदय से स्वर्ग में इंद्र पर्याय को प्राप्त होता है। वहाँ उपपादगृह में उपपादशय्या से जन्म होता है। अंतर्मुहूर्त में ही छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाने से नवयौवन संपन्न दिव्य वैक्रियिक शरीर बन जाता है। उस शरीर में नख, केश, रोम, चर्म, रुधिर, मांस, हड्डी एवं मल-मूत्रादि धातुयें नहीं होती है।

देव विमान में उत्पन्न होते ही बिना खोले किवाड़ खुल जाते हैं। उसी समय आनंदभेरी का शब्द होने लगता है। उस भेरी के शब्द को सुनकर परिवार के देव-देवियाँ 'जय-जय, नंद-नंद' आदि शब्दों को बोलते हुये वहाँ आ जाते है। किल्विष देव घंटा पटह आदि बजाने लगते है। गंधर्व देव नृत्य प्रारम्भ कर देते है। सब देव देवियों को देखकर नवीन जन्म को प्राप्त हुये इन्द्र कौतुक से सबको देखते हैं। तत्क्षण ही अवधिज्ञान प्रकट हो जाता है। तब वे अपने इंद्र जन्म को जानकर प्रसन्नता से अपने परिकर की ओर देखते हैं। नियोग के अनुसार द्रह में स्नान करके वस्त्राभूषण धारण कर सर्वप्रथम जिन-मंदिर में जाकर जिनेंद्रदेव की प्रतिमा का १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं। जल चंदन आदि से पूजा करते हैं। पुनः अपने स्थान पर आकर सिंहासन पर आरूढ़ होकर सभी देव देवियों को संतुष्ट करते हुये उन्हें अपने-अपने कार्यों में नियुक्त कर देते हैं।

सौधर्म इन्द्र का वैभव—सौधर्म इन्द्र के दश प्रकार के परिवार होते हैं—प्रतीन्द्र,

सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल, आत्मरक्ष, परिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक।

एक इंद्र के एक ही प्रतीन्द्र होते हैं। वे आज्ञा एवं ऐश्वर्य के सिवाय बाकी के सभी वैभव में इन्द्र के सदृश होते हैं।

सौधर्म के ८४ हजार सामानिकदेव होते हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश होते हैं। सोम, यम, वरुण और कुबेर नाम के ४ लोकपाल होते हैं। तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्ष देव होते हैं। परिषद देवों में अभ्यंतर परिषद की संख्या बारह हजार, मध्यम परिषद की चौदह हजार और बाह्य परिषद की सोलह हजार है। अनीक जाति के देवों में सेनाओं के भेद से ७ भेद होते हैं। वृषभ, अश्व, रथ, गज पदाति गंधर्व और नर्तक ये ७ सेनायें हैं। इन सातों में से प्रत्येक सेना सात-सात कक्षाओं से युक्त रहती हैं। उनमें से प्रथम सेना का प्रमाण अपने सामानिक देवों के बराबर है। इससे आगे सप्तम सेना पर्यंत उससे दूना-दूना है। सौधर्म इन्द्र की बैल की प्रथम सेना की प्रथम कक्षा में चौरासी हजार बैल हैं। इससे आगे सात कक्षाओं तक इस बैल सेना का प्रमाण एक करोड़ छह लाख अड़सठ हजार है। अश्व रथ आदि सेनायें भी इतने-इतने मात्र हैं। सौधर्म इन्द्र के समस्त अनीकों की संख्या सात करोड़ छयालीस लाख छयत्तर हजार प्रमाण है। इन सातों अनीकों में जो अधिपति-देव हैं उनके नाम क्रम से दामयष्ठि, हरिदाम, मातलि, ऐरावत, वायु यशस्क और नीलांजना हैं। सौधर्म इन्द्र के आभियोग्य प्रकीर्णक और किल्विषक देवों का प्रमाण असंख्यात है।

सौधर्म इन्द्र की देवियाँ—सौधर्म इन्द्र के १ लाख ६० हजार देवियां हैं और उनमें आठ महादेवियां हैं। आठ महादेवियों में प्रथम देवी का नाम 'शची है। अनुपम लावण्य-वाली इन महादेवियों के १६-१६ हजार परिवार देवियाँ हैं तथा इस इन्द्र के ३२ हजार वल्लभिका देवियां हैं। ऐसे कुल मिलाकर ८×१६०००+३२०००=१६०००० हो जाती हैं। ये ८ महादेवियाँ और ३२००० वल्लभायें ये प्रत्येक ही १६-१६ हजार विक्रिया करने में समर्थ होती हैं।

सौधर्म इंद्र का आधिपत्य—यह सौधर्म इंद्र बत्तीस लाख विमानों का अधिपति है। ऐसे ही ईशानेंद्र के २८ लाख आदि विमान माने गये हैं। सौधर्म-ईशान इन दो स्वर्गों के इन्द्रक विमान ३१ हैं। उनके नाम—ऋतु, विमल, चंद्र, वल्गु, वीर, अरुण, नंदन, नलिन,

कंचन, रोहित, चंच, मरुत, ऋद्धीश, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हारिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नंद्यावर्त, प्रभाकर, पृष्ठक, गज, मित्र और प्रभा।

ये सभी इंद्रक एक के ऊपर एक होने से भवनों के खन के समान हैं। एक-एक इंद्रक का आपस में अंतराल असंख्यात योजन प्रमाण है। सब इंद्रक विमानों की चारों दिशाओं में श्रेणीबद्ध और विदिशाओं में प्रकीर्णक विमान हैं। सभी इंद्रक और श्रेणीबद्ध विमान गोल हैं। दिव्य रत्नों से निर्मित हैं और ध्वजा तोरणों से सुशोभित हैं। इनके अंतराल में विदिशाओं में पुष्पों के सदृश रत्नमय उत्तम प्रकीर्णक विमान है। इस सौधर्म स्वर्ग में ३१ इंद्रक, चार हजार तीन सौ इकहत्तर श्रेणीबद्ध और इकतीस लाख पंचानवे हजार पांच सौ अट्ठानवे प्रकीर्णक विमान हैं। ये सब मिलकर ३१+४३७१+३१९५५९८ =३२००००० हो जाते हैं। सभी इन्द्रक विमान संख्यात योजन प्रमाणवाले हैं। जिनमें से पहला ऋतु नाम का इन्द्रक विमान ४५ लाख योजन प्रमाण वाला है। सभी श्रेणीबद्ध विमान असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। प्रकीर्णक विमानों में कुछ संख्यात योजन वाले हैं कुछ असंख्यात योजन वाले हैं। ये सभी विमान सुंदर-सुंदर तटवेदी, गोपुर-द्वार तोरण और पताकाओं से सुशोभित हैं।

सौधर्म इन्द्र का निवास—३१ इन्द्रकों में जो अंतिम 'प्रभा' नाम का इन्द्रक है। उसके दक्षिण श्रेणी में जो अठारवाँ श्रेणीबद्ध विमान है उसमें सौधर्म इन्द्र रहता है। वहाँ पर ८४ हजार योजन विस्तृत एक नगर बना हुआ है। जिसका नाम है सौधर्म इन्द्र नगर। यह नगर सुवर्णमय परकोटे से वेष्ठित है। परकोटे के अग्रभाग पर कहीं पर पंक्तिबद्ध ध्वजायें हैं और कहीं पर मयूराकार यंत्र शोभायमान हो रहे हैं। इस नगर में सौधर्म इन्द्र का प्रासाद (भवन) है जो कि १२० योजन विस्तार वाला है और ६०० योजन ऊँचा है। इस भवन में सौधर्म इन्द्र अपनी १ लाख ६० हजार इन्द्राणियों सहित निरंतर सुख समुद्र में मग्न रहता है।

सौधर्म इन्द्र के परिवार देवों के निवास स्थान—इन्द्र के नगर के बाह्य पांच परकोटे माने गये हैं। उन्हें वेदी भी कहते हैं। इन पांचों परकोटों के बीच में चार अंतराल हो जाते हैं। प्रथम अंतराल १३ लाख योजन का है, दूसरा ६३ लाख योजन का है, तीसरा ६४ लाख योजन का है और चौथा ८४ लाख योजन वाला है। प्रथम अंतराल में सौधर्म इन्द्र के आत्मरक्षक देव अपने-अपने परिवार सहित रहते हैं। दूसरे में पारिषद्

जाति के देव, तीसरे में सामानिक देव और चौथे में आरोहक, अनीक, आभियोग्य, किल्विषक प्रकीर्णक तथा त्रायस्त्रिंश देव सपरिवार रहते हैं। इंद्र भवन के चारों ओर इंद्राणी और वल्लभाओं के भवन बने हुये हैं।

नन्दनवन—इस पाँचवें परकोटे के आगे 'इन्द्रपुर' की चारों ही दिशाओं में दिव्य वनखण्ड हैं। इनको ही 'नंदनवन' कहते हैं। इनमें से पूर्व दिशा में अशोकवन हैं, दक्षिण में सप्तच्छदवन हैं, पश्चिम में चंपकवन है और उत्तर में आम्रवन हैं। इन चारों दिशाओं के वनों में प्रत्येक के मध्य में एक-एक चैत्यवृक्ष हैं। ये जंबूवृक्ष के समान प्रमाण वाले पृथ्वी-कायिक हैं। इन एक-एक चैत्यवृक्षों के चारों तरफ 'पल्यंकासन' से जिनप्रतिमायें विराज-मान हैं। इस प्रकार ये वन खण्ड चैत्यवृक्षों से सुशोभित, पुष्करिणी, बापी, मणिमयदेव भवनों से संयुक्त, फल पुष्पादि से परिपूर्ण होकर सबको आनन्द देने वाले हैं अतः 'नन्दनवन' नाम से प्रसिद्ध हैं।

दिव्यस्तम्भ—सौधर्म इन्द्र नगर के मध्य में सौधर्म इन्द्र का प्रासाद है। इन्द्र के गृहों के आगे ३६ योजन ऊँचे, १ योजन मोटे ऐसे स्तम्भ हैं जिन्हें मानस्तम्भ भी कहते हैं। इनमें १२ धारायें हैं अर्थात् ये स्तम्भ बारह कोण संयुक्त गोल हैं। १ योजन मोटे-गोल की परिधि बारह कोश होने से १-१ कोश की धारायें कोण बने हुये हैं। इन मानस्तम्भों में उत्तम रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। प्रत्येक करण्डक ५०० धनुष विस्तृत और एक कोश लम्बे है। रत्नमय सींकों के समूहों से लटकते हुये ये सब संख्यातों करण्डक शक्रादि से पूज्य अनादि निधन महारमणीय हैं। इन सौधर्म इन्द्र के मानस्तम्भों के करण्डकों से भरतक्षेत्र के तीर्थंकर के लिये दिव्य आभरण, भूषण आदि लाये जाते हैं।

ऐसे ही ईशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गों में भी मानस्तम्भ हैं। जिनसे इन्द्र क्रमशः ऐरावत, पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों के लिये दिव्य वस्त्रादि लाते हैं।

न्यग्रोधवृक्ष—इन इन्द्र के भवनों के आगे न्यग्रोधवृक्ष होते हैं जो कि जम्बूवृक्ष के समान पृथ्वीकायिक हैं। इनके मूल में प्रत्येक दिशा में जिन प्रतिमायें विराजमान हैं जिनके चरणों में सतत इन्द्रादि गण नमस्कार करते रहते हैं।

उपपादगृह—उस मानस्तम्भ के पास ईशान दिशा में ८ योजन ऊँचा, लम्बा और चौड़ा उपपादगृह है उसमें दो रत्नमयी उपपाद शय्या हैं। यहीं पर इन्द्र का जन्म स्थान है।

जिनभवन—ईशान दिशा में ही उपपादगृह के समीप जिनमंदिर स्थित है जो कि अनेक शिखरों से युक्त है। इस मन्दिर में रत्नमयी १०८ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं।

सुधर्मासभा—इन्द्र भवन से ईशान दिशा में ३०० कोश ऊँची, ४०० कोश लम्बी, २०० कोश विस्तृत 'सुधर्मा' नामक सभा है। इस सभा भवन में इन्द्र के सिंहासन के आगे ८ पट्टदेवियों के ८ आसन हैं। इन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्व आदि दिशा में क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर इन चार लोकपालों के ४ आसन हैं। इन्द्रासन के आग्नेय दक्षिण और नैऋत्य दिशा में अभ्यंतर मध्यम और बाह्य पारिषद देवों के क्रम से १२ हजार, १४ हजार और १६ हजार आसन हैं। नैऋत्यदिशा में ही त्रायस्त्रिंश देवों के ३३ आसन हैं। सेनानायकों के ७ आसन पश्चिम दिशा में है। वायव्य और ईशान दिशा में क्रम से ४२-४२ हजार आसन हैं। चारों ही दिशाओं में अंगरक्षक के भद्रासन हैं। सौधर्म इन्द्र के पूर्वादि दिशाओं में ८४ हजार आसन हैं। इस प्रकार सुधर्मा सभा में आसनों की व्यवस्था है।

इन्द्र का यान—सौधर्म इन्द्र का 'बालुक' नामक यान विमान होता है। यह १ लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। इसमें आसन, शय्या, धूपघट, चामर, आदि विद्यमान हैं। ध्वजायें फहराती रहती हैं। सुन्दर द्वार हैं और वज्रमय कपाट लगे हुये हैं।

ऐरावत हाथी—सौधर्म इन्द्र के आभियोग्य देवों का अधिपति 'बालक' नामक देव है। यह देव विक्रिया से १ लाख योजन प्रमाण हाथी का रूप बना लेता है। इस हाथी के बत्तीस मुख होते हैं। एक-एक मुख में चार-चार दांत होते हैं। एक-एक दाँत पर निर्मल जल से युक्त १-१ सरोवर होता है। एक-एक सरोवर में एक-एक कमलवन रहते हैं। इन कमलवनों में ३२-३२ महाकमल होते हैं। विक्रिया से बनाये गये ये कमल सुवर्णमय हैं। एक-एक कमल पर १-१ नाट्यशाला होती है। उस १-१ नाट्यशाला में ३२-३२ अप्सरायें नृत्य करती रहती हैं। सौधर्म इन्द्र भगवान् के जन्मोत्सव आदि अवसर में इसी ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है।

सौधर्म इन्द्र के लोकपालों का परिवार—लोकपालों में से प्रत्येक के विमानों की संख्या छह लाख, छयासठ हजार, छै सौ छयासठ हैं। प्रत्येक लोकपाल के तीन करोड़, पचास लाख देवांगनायें होती हैं।

इन्द्रों की विक्रिया—इन्द्र इन्द्राणी अथवा देवगण मूलशरीर से कहीं भी नहीं जाते आते हैं। तीर्थंकरों के कल्याणकों में, अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने हेतु या अन्यत्र कहीं भी क्रीड़ा हेतु जाने में ये इन्द्रादिदेव विक्रिया से निर्मित शरीर से ही गमनागमन करते हैं। मूल शरीर से नहीं। ये देवगण अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में शरीर की नई-नई विक्रिया करते रहते हैं। इसमें इन्हें कष्ट का अनुभव नहीं होता है प्रत्युत आनंद का अनुभव होता है।

आयु—सौधर्म स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु २ सागर प्रमाण है। जघन्य आयु १पल्य है। इनमें देवियों की जघन्य आयु १ पल्य से कुछ अधिक और उत्कृष्ट आयु ५ पल्य है।

अवगाहना—सौधर्म स्वर्ग में शरीर की ऊँचाई ७ हाथ प्रमाण है।

आहार व उच्छ्वास—जिनदेवों की आयु २ सागर है वे २००० वर्षों के बीत जाने पर दिव्य अमृतमय मानसिक आहार ग्रहण करते हैं। और ये देव दो पक्ष बाद उच्छ्वास ग्रहण करते है। जिनकी आयु पल्य प्रमाण है वे पाँच दिन में आहार ग्रहण करते हैं। विशेषव्यवस्था त्रिलोकसार आदि से समझना चाहिये।

कायप्रवीचार विक्रियाआदि—सौधर्म स्वर्ग के देव-देवियाँ परस्पर में शरीर से काम-सेवन करते हैं। ये देव पहले नरक तक विक्रिया करते हैं। इनका अवधिज्ञान भी पहले नरक तक ही जानने में समर्थ है।

अन्तराल—एक इन्द्र मरण को प्राप्त होता है तो उसी स्थान पर दूसरे इन्द्र का जन्म हो जाता है। कदाचित् इन्द्र के मरने के बाद दूसरे इन्द्र के जन्म लेने में अधिक से अधिक अंतर पड़ जावे तो छह मास का पड़ सकता है। इसके बाद नियम से दूसरा इन्द्र जन्म ले लेता है। देवों में अकालमृत्यु नहीं होती है अतः वे अपनी आयु पूरी करके ही मरण को प्राप्त होते हैं।

यहाँ तक संक्षेप से सौधर्म इन्द्र का वर्णन किया है विस्तार से तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये।

'सुरेन्द्रता' नाम के परमस्थान में सौधर्म इन्द्र का पद प्रमुख है। क्योंकि तीर्थंकरों के कल्याणकों में प्रमुखता सौधर्म इन्द्र की ही रहती है। वैसे ईशान इन्द्र आदि इन्द्रों के पद प्राप्त करना भी इस परमस्थान में गर्भित है। सौधर्म इन्द्र नियम से एक भवावतारी ही होता है। ईशान इन्द्र आदि उत्तर इन्द्रों के लिये कोई नियम नहीं है।

यह इन्द्र पद सम्यग्दर्शन सहित घोर तपश्चरण करने वाले महामुनियों को ही प्राप्त होता है। अतः सप्तपरम स्थानों में पारिव्राज्य परमस्थान के बाद में इस परमस्थान का नाम आता है। जो भव्यजीव इस चतुर्थ परमस्थान को प्राप्त कर लेता है वह क्रम से साम्राज्य आर्हन्त्य और निर्वाण परमस्थान का अधिकारी हो जाता है।

(५) साम्राज्य परमस्थान—

जिसमें चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और रत्नों से उत्पन्न हुये भोगोपभोग रूपी संपदाओं की परम्परा प्राप्त होती है ऐसे चक्रवर्ती के बड़े भारी राज्य को प्राप्त करना 'साम्राज्य' नाम का पाँचवां परमस्थान कहलाता है। इस पद के भोक्ता छह खण्ड पृथ्वी पर एक छत्र शासन करने वाले चक्रवर्ती कहलाते हैं।

इस चक्रवर्ती पद में परिवार और विभूति कितनी होती है? चक्रवर्ती के शरीर में वज्र की हड्डियों के बन्धन और वज्र के ही वेष्टन रहते हैं और वह वज्रमय कीलियों से कीलित रहता है इसलिये अभेद्य रहता है। अर्थात् चक्रवर्ती के वज्रवृषभनाराच संहनन रहता है। उनके शरीर का आकार और अंगोपांग बहुत ही सुन्दर मनोहर रहते है अर्थात् उनके समचतुरस्र-संस्थान रहता है। छह खण्ड के सभी राजाओं से अधिक उनके शरीर में बल रहता है। उनके सुदर्शन नामक चक्ररत्न के प्रभाव से छह खण्ड के सभी राजा उनकी आज्ञा को शिर से धारण करते हैं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों की सेवा करते है। अच्छी-अच्छी रचना वाले बत्तीस हजार देश होते हैं जिससे चक्रवर्ती का लम्बा चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा मालूम पड़ता है। ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी होते है। सूर्य की चाल के साथ स्पर्धा करने वाले दिव्य रत्नों से निर्मित चौरासी लाख ही रथ होते हैं। पृथ्वी जल तथा आकाश में समान रूप से चलने में समर्थ ऐसे अठारह करोड़ घोड़े रहते हैं। योद्धाओं के मर्दन में प्रसिद्ध ऐसे चौरासी करोड़ पदाति-पैदल चलने वाले सिपाही रहते हैं।

एक चक्रवर्ती के छ्यानवें हजार रानियाँ होती हैं। जिनमें बत्तीस हजार कन्यायें आर्यखण्ड की रहती है, विद्याधरों की बत्तीस हजार कन्यायें होती है एवं म्लेच्छ खण्ड के राजाओं की कन्यायें बत्तीस हजार होती है ऐसे कुल छ्यानवें हजार रानियाँ होती हैं। इन रानियों के साथ रति क्रीड़ा में चक्रवर्ती विक्रिया के प्रभाव से एक साथ ही एक कम

६६ हजार रूप बना लेते हैं। बत्तीस हजार नाट्यशालायें होती हैं इन्द्र के नगर के समान बहत्तर हजार नगर होते हैं। नन्दनवन सदृश बगीचों से रम्य छयानवें करोड़ गांव होते हैं। निन्यानवें हजार द्रोणमुख अर्थात् बन्दरगाह होते हैं। अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं। कोट, परकोटे, अटारियाँ और परिखाओं से शोभायमान सोलह हजार खेट होते हैं। कुभोग भूमियाँ मनुष्यों से व्याप्त छप्पन अन्तरद्वीप होते हैं। जिनके चारों ओर परिखा बनी रहती है ऐसे चौदह हजार संवाह-पहाड़ों पर बसने वाले नगर होते हैं। चावलों को पकाने वाले ऐसे पाकशालाओं में एक करोड़ हण्डे होते हैं। जिनके साथ बीज की नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल होते हैं। दही मथने के शब्दों से पथिकों को आकर्षित करने वाली ऐसे तीन करोड़ व्रज अर्थात् गोशालायें रहती हैं। जहाँ रत्नों के व्यापार होते हैं ऐसे सात सौ कुक्षिवास होते हैं। निर्जन प्रदेश और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी विभागों से विभक्त ऐसे अठ्ठाईस हजार सघन वन होते हैं। जिनके चारों ओर रत्नों की खानें विद्यमान है ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा होते हैं।

प्रत्येक चक्रवर्ती के काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पांडुक, पद्म, माणव, पिंग, शंख, और सर्वरत्न इन नामों से प्रसिद्ध ऐसी नव निधियाँ होती हैं। जिनसे चक्रवर्ती घर की आजीविका से बिलकुल निश्चित रहते है। 'काल' नाम की निधि से प्रतिदिन लौकिक शास्त्र व्याकरण आदि की उत्पत्ति होती रहती है। तथा यही निधि वीणा बांसुरी आदि इंद्रियों के मनोज्ञ विषय भी प्रदान करती है। महाकाल नाम की निधि से असि मषी आदि छह कर्मों के साधन भूत द्रव्य तथा सम्पदाओं को उत्पन्न करती रहती है। नैस्सर्प्य निधि से शय्या आसन, मकान आदि मिलते रहते है। पाण्डुक निधि से धान्यों की उत्पत्ति होती है तथा छहों प्रकार के रस भी मिलते रहते हैं। पद्मनिधि रेशमी सूती आदि सब तरह के वस्त्रों को देती रहती है। पिंगल निधि से दिव्य आभरण मिलते रहते हैं। माणव निधि से नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकार के शस्त्रों की उत्पत्ति होती है। शंख निधि से सुवर्ण उत्पन्न होता है और सर्वरत्न नाम की निधि से नील, मरकत, पद्मराग आदि नाना मणिरत्नों की उत्पत्ति होती रहती है।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते हैं जिनमें सात अजीव और सात सजीव होते हैं। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न हैं एवं सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, स्थपति (सिलावट) और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं। चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं। मणि चर्म तथा

काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृह में प्रगट होते हैं। स्त्री, हाथी और घोड़ा इन तीन की उत्पत्ति विजयार्ध शैल पर होती है और अन्य रत्न निधियों के साथ-साथ अयोध्या में ही उत्पन्न होते हैं।

चक्रवर्ती सम्राट् स्त्रीरत्न के साथ-साथ छहों ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पंचेंद्रियों के योग्य भोगों को करता है। चक्रवर्ती के सुभद्रा नाम का स्त्रीरत्न होता है।

चक्रवर्ती के दशांग भोग माने गये हैं—रत्न सहित नौ निधियां, रानियां, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, भाजन, भोजन और वाहन ये दश भोग के साधन होते हैं। चक्रवर्ती के रत्न, निधि और स्वयं की रक्षा करने में तत्पर ऐसे सोलह हजार गणबद्ध देव होते हैं जो हाथ में तलवार धारण कर रक्षा करते हैं। चक्रवर्ती के घर को घेरे हुये 'क्षितिसार' नाम का कोट होता है। देदीप्यमान रत्नों के तोरणों से युक्त 'सर्वतोभद्र' नाम का गोपुर रहता है। उनकी बड़ी भारी छावनी के ठहरने का स्थान 'नंद्यावर्त' नाम का है। सब ऋतुओं में सुख देने वाला ऐसा 'वैजयन्त' नाम का महल होता है। बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई 'दिक्स्वस्तिका' नाम की सभा भूमि होती है। टहलने के समय हाथ में लेने के लिये मणियों की बनी हुई 'सुविधि' नाम की छड़ी रहती है। सब दिशायें देखने के लिये 'गिरि-कूटक' नाम का राजमहल होता है। चक्रवर्ती के नृत्य देखने के लिये 'वर्धमानक' नाम की नृत्यशाला होती है। ग्रीष्म के संताप दूर करने के लिये बड़ा भारी 'धारागृह' रहता है। वर्षा ऋतु में निवास करने के लिये 'गृहकूटक' नाम का महल रहता है। सफेद चूना से पुता हुआ 'पुष्करावर्त' नाम का खास महल होता है। 'कुबेरकांत' नाम का भण्डारगृह रहता है जो कभी भी खाली नहीं होता है। 'वसुधारक' नाम का बड़ा भारी अटूट कोठार रहता है। और 'जीमूत' नाम का बहुत बड़ा स्नानगृह होता है।

'अवतंसिका' नाम की सुन्दर माला होती है। 'देवरम्या' नाम की सुन्दर चाँदनी होती है 'सिंहवाहिनी' नाम की शय्या रहती है। तथा 'अनुत्तर' नाम का सिंहासन होता है। विजयार्धकुमार के द्वारा प्रदत्त 'अनुपमान' नाम के चंवर होते हैं। बहुमूल्य रत्नों से निर्मित 'सूर्यप्रभ' नाम का देदीप्यमान छत्र होता है। विद्युत् की दीप्ति को तिरस्कृत करने वाले 'विद्युत्प्रभ' नाम के दो सुन्दर कुण्डल होते हैं। 'विषमोचिका' नाम की खड़ाऊं होती है जो कि चक्रवर्ती के अतिरिक्त दूसरे के पैर का स्पर्श होते ही विष छोड़ने लगती है। 'अभेद्य' नाम का कवच रहता है। दिव्यशस्त्रों से सुसज्जित 'अजितंजय' नाम का रथ होता है।

जिसकी प्रत्यञ्चा के आघात से समस्त संसार कांप उठे ऐसा 'वज्रकाण्ड' नाम का धनुष होता है। जो कभी व्यर्थ नहीं जाते ऐसे 'अमोघ' नाम के बाण होते हैं। वज्र से निर्मित ऐसी 'वज्रतुण्डा' नामक शक्ति (शस्त्र) होती है। 'सिंहाटक' नाम का भाला होता है। रत्नों से जिसकी मूठ बनी हुई है ऐसी 'लोहवाहिनी' नाम की छुरी रहती है। वज्र के समान 'मनोवेग' नाम का कणप (अस्त्रविशेष) रहता है। 'सौनंदक' नाम की उत्तम तलवार होती है। भूतों के मुखों से चिन्हित 'भूतमुख' नाम का खेट (अस्त्रविशेष) रहता है।

'सुदर्शन' नाम का चक्ररत्न होता है। 'चण्डवेग' नाम का दण्डरत्न होता है। वज्रमय 'चर्मरत्न' रहता है जिसके बल से चक्रवर्ती की सेना जल के उपद्रव से बच जाती है। 'चूड़ामणि' नाम का चिंतामणि रत्न रहता है। 'चिंताजननी' नाम का काकिणी रत्न होता है जो विजयार्ध पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दूर करता है। 'अयोध्य' नाम का सेनापति रत्न होता है। समस्त धार्मिकक्रियाओं में कुशल 'बुद्धिसागर' नाम का पुरोहित रत्न रहता है। 'कामवृष्टि' नाम का गृहपति रत्न होता है। राजभवन आदि के निर्माण में कुशल 'भद्रमुख' नाम का शिलावटरत्न—इंजीनियर रहता है। 'विजयपर्वत' नाम का सफेद हाथी होता है। विजयार्ध पर्वत की गुफा के मध्य भाग को लीलामात्र में उल्लंघन करने वाला 'पवनञ्जय' नाम का घोड़ा होता है। तथा 'सुभद्रा' नाम का स्त्रीरत्न होता है। चक्रवर्ती के इन दिव्य रत्नों की देवगण सदा रक्षा किया करते हैं।

चक्रवर्ती के बारह योजन तक गम्भीर आवाज पहुँचाने वाली ऐसी 'आनन्ददायिनी' नाम की बारह भेरियाँ होती हैं। इसी प्रकार के 'विजयघोष' नाम के बारह पटहनगाड़े होते हैं। 'गम्भीरावर्त' नाम के चौबीस शंख होते हैं। वायु के झकोरे से उड़ती हुई और चक्रवर्ती के यश को फैलाती हुई 'अड़तीस करोड़' 'पताकायें' होती हैं। चक्रवर्ती को हाथ में पहनने के लिये 'वीरांगद' नाम के रत्ननिर्मित उत्तम कड़े होते हैं। 'महाकल्याण' नाम का दिव्यभोजन होता है जो कि उनको अतिशय तृप्ति और पुष्टि करता है, जिसे अन्य कोई नहीं पचा सकते ऐसे गरिष्ठ, स्वादिष्ट और सुगन्धित 'अमृतगर्भ' नाम के मोदक आदि भक्ष्य पदार्थ होते हैं। 'अमृतकल्प' नाम के खाद्यपदार्थ एवं 'अमृत' नाम के दिव्य पानक—पीने योग्य पदार्थ होते हैं।

चक्रवर्ती के ये सब भोगोपभोग के साधन उसके पुण्यरूप कल्पवृक्ष के ही फल रूप से फलते हैं। उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता है और वे संसार में अपनी बराबरी नहीं रखते हैं। 'चक्रवर्ती के बन्धुकुल-परिवार का प्रमाण साढ़े तीन करोड़ होता है। और

संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ होती हैं ।' ये सब चक्रवर्ती का वैभव उन्हें ही प्राप्त होता है जो 'सज्जाति सद्गार्हस्थ्य पारिव्राज्य और सुरेन्द्रता' नाम के चार परम स्थानों को प्राप्त कर चुके हैं । मुनिव्रत धारण कर जो सम्यक्त्व सहित घोर तपश्चरण करते हैं वे ही चक्रवर्ती के साम्राज्य रूप इस पाँचवें परम स्थान के स्वामी होते हैं ।

(६) आर्हन्त्य परमस्थान—

अर्हंत परमेष्ठी का भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं । इस क्रिया में स्वर्गावतार आदि महाकल्याणरूप संपदाओं की प्राप्ति होती है । स्वर्ग से अवतीर्ण हुये तीर्थंकर महापुरुष को जो पंचकल्याणकरूप संपदाओं का मिलना है उसे ही आर्हंत्य नाम का छठा परमस्थान जानना चाहिये ।

जिन्होंने सोलह कारण भावनाओं को भाते हुये तीर्थंकर के पादमूल में अथवा सामान्यकेवली या श्रुतकेवली के पादमूल में तीर्थंकर नामक नामकर्म की प्रकृति का बंध कर लिया है ऐसे महामुनि स्वर्ग में जाकर इंद्र-अहमिंद्र आदि उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं । वहाँ के सुखों का अनुभव करते हुये जब उनकी आयु छह महिने की शेष रह जाती है तब यहाँ मर्त्यलोक में जिस क्षत्रिय महाराजा के यहाँ उनका जन्म होने को होता है । इंद्र की आज्ञा से कुबेर उस नगरी को स्वर्गपुरी के समान सुंदर सजाकर माता के आंगन में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ प्रमाण रत्नों की वर्षा करना शुरू कर देता है । तीर्थंकर शिशु के गर्भ में आने के पूर्व ही माता वृषभ आदि उत्तम-उत्तम सोलह स्वप्नों को देखती है । श्री ह्री आदि देवियां इन्द्र की आज्ञा से माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं । जब वह स्वर्ग का इन्द्र अपनी आयु पूर्णकर माता के गर्भ में अवतीर्ण होता है तब इन्द्रादि देवगण आसन के कंपायमान होने से भगवान् का गर्भावतार जानकर मर्त्यलोक में आकर माता-पिता की पूजा कर गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हैं ।

नव महीने बाद तीर्थंकर का जन्म होते ही इन्द्र महावैभव सहित यहाँ आकर बालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से महा अभिषेक आदि क्रिया संपन्न करके जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं । तीर्थंकर महापुरुष को राज्य अनुशासन करने के बाद अथवा किसी को कुमारावस्था में ही वैराग्य हो जाने से जब वे दीक्षा के लिये तैयार होते हैं । तब इंद्रों द्वारा प्रभु का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया जाता है । दीक्षा

लेकर तपश्चरण करते हुये जब केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब इंद्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की जाती है। उस समय इंद्रगण बड़ी भक्ति से आकर ज्ञानकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। इसी समय तीर्थंकर प्रकृति उदय में आती है और यह समवसरण आदि वैभव आर्हन्त्य वैभव कहलाता है। मुख्यरूप से यही आर्हन्त्य अवस्था छठा परम-स्थान है। बहुत काल तक श्रीविहार करते हुये भगवान् असंख्य प्राणियों को धर्मामृत का पान कराते हैं पुनः आयु के अंत में निर्वाण धाम को प्राप्त कर लेते हैं। उस समय भी इंद्रों द्वारा निर्वाण कल्याण उत्सव किया जाता है। इस प्रकार से गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक कहलाते हैं। यहाँ पर आर्हन्त्य परमस्थान का प्रकरण होने से केवलज्ञान के अनंतर होने वाली आर्हन्त्य विभूति का कुछ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही तीर्थंकर का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पांच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है। उस समय तीनों लोकों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है और सौधर्म आदि इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं। भवनवासी देवों के यहां अपने आप शंख का नाद होने लगता है। व्यंतरवासी देवों के यहाँ भेरी बजने लगती है, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद होने लगता है और कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टा बजने लगता है। इंद्रों के मुकुट के अग्रभाग स्वयंमेव झुक जाते हैं और कल्प-वृक्षों से पुष्पों की वर्षा होने लगती है। इन सभी कारणों से इन्द्र और देवगण तीर्थंकर के केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर भक्तियुक्त होते हुये सात पैर आगे बढ़कर भगवान् को प्रणाम करते हैं। जो अहमिन्द्रदेव हैं, वे भी आसनों के कंपित होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति को जानकर सात पैर आगे बढ़कर वहीं से परोक्ष में जिनेंद्रदेव की वंदना कर अपना जीवन सफल कर लेते हैं। सोलह स्वर्ग तक के देव देवियां तो भगवान् की वंदना के लिये चले आते हैं।

उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा तीर्थंकर के समवसरण (धर्मसभा) को विचित्र रूप से रचता है। उस समवसरण का अनुपम संपूर्णस्वरूप वर्णन करने के लिये साक्षात् सरस्वती भी समर्थ नहीं है। यहाँ पर लेशमात्र वर्णन किया जाता है[1]। इस समवसरण के वर्णन में यहां ३१ विषय बताये जा रहे हैं—

१. यह समवसरण का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ के आधार से है।

सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल, चैत्यप्रासाद भूमि, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिका, वेदी, लताभूमि, साल, उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजभूमि, साल, कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप, साल, श्रीमण्डप, ऋषि आदि गणों का विन्यास, वेदी, प्रथम पीठ, द्वितीय पीठ, तृतीय पीठ और गंधकुटी।

१. सामान्य भूमि—समवसरण की संपूर्ण सामान्य भूमि सूर्यमण्डल के सदृश गोल, इन्द्रनीलमणिमयी होती है। यह सामान्यतया बारह योजन प्रमाण होती है। विदेह क्षेत्र के संपूर्ण तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का यही प्रमाण है। यहाँ भरत क्षेत्र के और ऐरावत के तीर्थंकरों की समवसरण भूमि का उत्कृष्ट प्रमाण यही है, जघन्य प्रमाण एक योजन मात्र है, मध्यम के अनेक भेद हैं। जैसे कि भगवान् वृषभदेव का समवसरण बारह योजन का था शेष तीर्थंकरों का घटते-घटते अंतिम भगवान् महावीर का एक योजन मात्र था।

२. सोपान—समवसरण में चढ़ने के लिए भूमि से १ हाथ ऊपर से आकाश में चारों ही दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर २०००० सीढ़ियाँ होती हैं। ये सीढ़ियाँ १ हाथ ऊंची और इतनी ही विस्तार वाली रहती हैं। ये सब स्वर्ण से निर्मित होती है। देव मनुष्य और तिर्यंच गण अंतर्मुहूर्त मात्र में ही इन सभी सीढ़ियों को पार कर समवसरण में पहुँच जाते हैं।

३. विन्यास—समवसरण में चार कोट, पांच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं। इस क्रम से समवसरण में सारी रचनायें रहती हैं। इन सबका वर्णन क्रम से आ जावेगा।

४ वीथी—प्रत्येक समवसरण में प्रारम्भ से लेकर प्रथम पीठ (कटनी) पर्यंत, सीढ़ियों की लम्बाई के बराबर विस्तार वाली चार वीथियाँ होती हैं। यहाँ 'वीथी' से जाने का मार्ग (सड़क) समझना चाहिये। इन वीथियों के पार्श्व भाग में स्फटिकपाषाण से बनी हुई वेदियाँ होती हैं। ये बाउंड्रीवाल के समान हैं। जो आठ भूमियाँ कही जायेंगी उन आठों भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित बहुत से तोरणद्वार होते हैं। जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों का संचार बना रहता है।

५. धूलिशाल—सबके बाहर विशाल एवं समान गोल, मानुषोत्तर पर्वत के आकार-वाला धूलिशाल नाम का कोट होता है यह पंचवर्णी रत्नों से निर्मित होता है इसलिये

इसका धूलिशाल नाम सार्थक है। इस कोट में मार्ग अट्टालिकायें और पताकायें रहती है। चार गोपुर द्वार (मुख्य फाटक) होते हैं। यह तीनों लोकों को विस्मित करने वाला बहुत ही सुन्दर दिखता है। इस कोट के चारों गोपुर द्वारों में से पूर्वद्वार का नाम 'विजय' है, दक्षिणद्वार का 'वैजयंत है, पश्चिमद्वार को 'जयंत' और उत्तरद्वार को 'अपराजित' कहते हैं। ये चारों द्वार सुवर्ण से बने रहते हैं, तीन भूमियों (खनों) से सहित, देव और मनुष्य के जोड़ों से संयुक्त और तोरणों पर लटकती हुई मणिमालाओं से शोभायमान होते हैं। प्रत्येक द्वार के बाहर और मध्य भाग में, द्वार के पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि और धूपघट से युक्त विस्तीर्ण पुतलियाँ होती हैं। झारी, कलश, दर्पण, चामर, ध्वजा, पंखा, छत्र और सुप्रतिष्ठ (ठोना) ये ८ मंगलद्रव्य हैं। ये प्रत्येक १०८–१०८ होते हैं। काल, महाकाल, पाण्डु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न, ये नव निधियाँ प्रत्येक १०८ होती है। ये निधियाँ क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य—माला आदि, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और सम्पूर्ण रत्नों को देती हैं। वहाँ एक-एक पुतली के ऊपर गोशीर्ष मलयचन्दन और कालागरु आदि धूपों के गंध से व्याप्त एक-एक धूप घट होते हैं।

इन विजय आदि द्वार के प्रत्येक बाह्य भाग में सैकड़ों मकरतोरण और अभ्यंतर भाग में सैकड़ों रत्नमय तोरण होते हैं। इन द्वारों के बीच दोनों पार्श्व भागों में एक-एक नाट्यशाला होती है जिसमें देवांगनायें नृत्य करती रहती है। इस धूलिशाल के चारों गोपुर द्वारों पर ज्योतिष्कदेव द्वाररक्षक होते हैं जो कि हाथ में रत्नदण्ड को लिये रहते है। इन चारों दरवाजों के बाहर और अन्दर भाग में सीढ़ियाँ बनी रहती हैं जिनसे सुखपूर्वक संचार किया जाता है। प्रत्येक समवसरण के धूलिशाल कोट की ऊँचाई अपने तीर्थंकर के शरीर से चौगुनी होती है। इस कोट की ऊँचाई से तोरणों की ऊँचाई अधिक रहती है और इससे भी अधिक विजय आदि द्वारों की ऊँचाई रहती है।

६. चैत्यप्रासाद भूमि—धूलिशाल के अभ्यंतर भाग में 'चैत्यप्रासाद' नामक भूमि सकलक्षेत्र को घेरे हुये बनी रहती है। इसमें एक-एक जिन भवन के अन्तराल से ५-५ प्रासाद बने रहते हैं जो विविध प्रकार के वनखण्ड और बावड़ी आदि से रमणीय होते हैं। इन जिन भवन और प्रासादों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारह गुणी रहती है।

७. नृत्यशाला—प्रथम पृथ्वी में पृथक् पृथक् वीथियों के दोनों पार्श्व-भागों में उत्तम सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित दो-दो नाट्यशालायें होती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में ३२ रंग-

भूमियाँ और प्रत्येक रंगभूमि में ३२ भवनवासी देवियाँ नृत्य करती हुई नाना अर्थ से युक्त दिव्य गीतों द्वारा तीर्थंकरों के विजय के गीत गाती हैं और पुष्पाञ्जलि क्षेपण करती हैं। प्रत्येक नाट्यशाला में नाना प्रकार की सुगंधित धूप से दिग्मंडल को सुवासित करने वाले दो-दो धूपघट रहते हैं।

८. मानस्तम्भ—प्रथम पृथ्वी के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचों बीच समान गोल मानतस्म्भ भूमियाँ होती हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुर द्वारों से सुन्दर, कोट होते हैं। इनके भी मध्य भाग में विविध प्रकार के दिव्य वृक्षों से युक्त वनखण्ड होते हैं। इनके मध्य में पूर्वादि दिशाओं में क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर इन लोकपालों के रमणीय क्रीड़ानगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में चार गोपुरद्वार से युक्त कोट और इसके आगे वनवापिकायें होती हैं जिनमें नील कमल खिले रहते हैं। उनके बीच में लोकपालों के अपनी-अपनी दिशा तथा चार विदिशाओं में भी दिव्य क्रीड़ानगर होते हैं। उनके अभ्यंतर भाग में उत्तम विशाल द्वारों से युक्त कोट होते हैं और फिर इनके बीच में पीठ होते हैं। इनमें से पहला पीठ वैडूर्यमणिमय, उसके ऊपर दूसरा पीठ सुवर्णमय और उसके ऊपर तीसरा पीठ बहुत वर्ण के रत्नों से निर्मित होता है। ये तीन पीठ तीन कटनी रूप होते हैं। इन पीठों के ऊपर मानस्तम्भ होते हैं। इन मानस्तम्भों की ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी होती है। प्रत्येक मानस्तम्भ का मूल भाग वज्र से युक्त और मध्यम भाग स्फटिकमणि से निर्मित होता है। इन मानस्तम्भों के उपरिमभाग वैडूर्यमणिमय रहते हैं। ये मानस्तम्भ गोलाकार होते हैं। इनमें चमर, घंटा, किंकणी, रत्नहार और ध्वजायें सुशोभित रहती हैं। इनके शिखर पर प्रत्येक दिशा में आठ प्रतिहार्यों से युक्त रमणीय एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमायें होती हैं। दूर से ही मानस्तम्भों के देखने से मान से युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमान से रहित हो जाते हैं, इसीलिये इनका 'मानस्तम्भ' यह नाम सार्थक है।

सभी समवसरण में तीनों कोटों के बाहर चार दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में क्रम से पूर्वादि वीथी (गली) के आश्रित वापिकायें होती हैं। पूर्व दिशा के मानस्तम्भ के पूर्वादि भागों में क्रम से नंदोत्तरा, नंदा, नंदिमती और नंदिघोषा नामक चार वापिकायें होती है। दक्षिण मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादि भागों में विजया, वैजयंता, जयन्ता और अपराजिता नामक चार वापिकायें होती हैं। पश्चिम मानस्तम्भ के आश्रित पूर्वादि भागों में क्रम से अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीका ये चार वापिकायें होती हैं। उत्तर मानस्तम्भ के

आश्रित पूर्वादि भागों में क्रम से हृदयानन्दा, महानन्दा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा ये चार वापिकायें होती हैं। ये वापिकायें समचतुष्कोण, कमलादि से संयुक्त, टंकोत्कीर्ण, वेदिका, चार तोरण एवं रत्नमालाओं से रमणीय होती हैं। सब वापिकाओं के चारों तटों में से प्रत्येक तट पर जलक्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों से परिपूर्ण मणिमयी सीढ़ियाँ होती हैं। इन वापिकाओं में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव तथा मनुष्य क्रीड़ा किया करते हैं। प्रत्येक वापिकाओं के आश्रित, निर्मल जल से परिपूर्ण दो-दो कुण्ड होते हैं, जिनमें देव, मनुष्य और तिर्यंच अपने पैरों की धूलि धोया करते हैं।

९. प्रथम वेदी—इस समवसरण में उत्तम रत्नमय ध्वजा, तोरण और घंटाओं से युक्त प्रथम वेदिका होती है। इसमें गोपुर द्वार पुत्तलिका, १०८ मंगलद्रव्य एवं नव निधियाँ पूर्व के समान ही होती हैं। इन वेदियों के मूल और उपरिम भाग का विस्तार धूलिशाल कोट के मूलविस्तार के समान होता है।

१०. खातिका—इसके आगे स्वच्छ जल से परिपूर्ण और अपने जिनेन्द्रदेव की ऊँचाई के चतुर्थ भाग प्रमाण खातिका (खाई) होती है। इस खातिका में खिले हुये कुमुद, कुवलय और कमल अपनी सुगन्धि फैलाते रहते हैं, इनमें मणिमय सीढ़ियाँ बनी रहती हैं। एवं हंस, सारस आदि पक्षी सदा क्रीड़ा किया करते हैं।

११. द्वितीय वेदी—यह वेदिका भी अपनी पूर्व वेदी के सदृश है। इसका विस्तार प्रथम वेदिका से दूना माना गया है।

१२. लताभूमि—इसके आगे पुन्नाग, नाग, कुब्जक, शतपत्र और अतिमुक्त आदि से संयुक्त, क्रीड़ा पर्वतों से सुशोभित, फूले हुये कमलों से सहित जल भरी बावड़ियों से मनोहर ऐसी लताभूमि शोभायमान होती हैं।

१३ साल—इसके आगे दूसरा कोट है इसे ही साल कहते हैं। इसका सारा वर्णन धूलिसाल कोट के समान है। अन्तर इतना ही है कि यह विस्तार में उसका दूना रहता है रजतमयी है एवं यक्ष जाति के देव इसके चारों द्वारों पर खड़े रहते हैं।

१४. उपवनभूमि—द्वितीय कोट के आगे चौथी उपवनभूमि होती है। इसमें पूर्वादि दिशाओं के क्रम से अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पकवन और आम्रवन, ये चार वन शोभायमान होते हैं। यह भूमि विविध प्रकार के वन समूहों से मण्डित, विविध नदियों के

पुलिन और क्रीड़ा पर्वतों से तथा अनेक प्रकार की उत्तम वापिकाओं से रमणीय होती है। इस भूमि में अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र ये चार सुन्दर वृक्ष होते हैं इन्हें चैत्यवृक्ष कहते हैं। इनकी ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है। एक-एक चैत्य-वृक्ष के आश्रित आठप्रतिहार्यों से संयुक्त चार-चार मणिमय जिनप्रतिमायें होती हैं। इस उपवनभूमि की बावड़ियों के जल में निरीक्षण करने पर प्रत्येक जन अपने अतीत-अनागत सात भवों को देख लेते हैं।

एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित तीन कोटों से वेष्टित व तीन कटनियों के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं। इन मानस्तम्भों के चारों तरफ भी कमल आदि फूलों से युक्त स्वच्छ जल से भरित वापियाँ होती हैं। वहाँ कहीं पर रमणीय भवन, कहीं क्रीडनशाला और कहीं नृत्य करती हुई देवांगनाओं से युक्त नाट्यशालायें होती हैं। ये रमणीय भवन पंक्तिक्रम से इस भूमि में शोभायमान होते है। ये भवन भी कई खनों से निर्मित अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणे ऊँचे होते हैं। अपनी प्रथम भूमि की अपेक्षा इस उपवन भूमि का विस्तार दूना होता है।

१५. नृत्यशाला—सब वनों के आश्रित सब वीथियों (गलियों) के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो नाट्यशालायें होती हैं। इनमें से आदि की आठ नाट्यशालाओं में भवनवासिनी देवांगनायें और इससे आगे की आठ नाट्यशालाओं में कल्पवासिनी देवांगनाये नृत्य किया करती हैं। इन नाट्यशालाओं का सुन्दर वर्णन पूर्व के समान है।

१६. तृतीय वेदी—वह तीसरी वेदिका अपनी दूसरी वेदिका के समान है, अन्तर इतना ही है कि यहाँ के चारों द्वारों के रक्षक यक्षेन्द्र रहते हैं।

१७. ध्वजभूमि—वेदिका के आगे इस पंचम ध्वजभूमि में दिव्य ध्वजायें होती है। जिनमें सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र ये दश प्रकार के चिंह बने रहते हैं। चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन दश प्रकार की ध्वजाओं में से प्रत्येक १०८ रहती हैं। और इनमें से भी प्रत्येक ध्वजा अपनी १०८ क्षुद्रध्वजाओं से संयुक्त रहती हैं। इस प्रकार इस ध्वजभूमि में महाध्वजा १०×१०८×४=४३२०। क्षुद्रध्वजायें १०×१०८×१०८×४=४६६५६०। समस्त ध्वजायें ४३२०+४६६५६०=४७०८८० होती हैं। ये समस्त ध्वजायें रत्नों से खचित सुवर्णमय स्तम्भों में लगी रहती हैं। इन ध्वजस्तम्भों की ऊँचाई अपने तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुणी रहती है।

१८. साल—इस ध्वजभूमि के आगे चांदी के समान वर्णवाला तीसरा कोट अपने धूलिशाल कोट के ही सदृश है। इस कोट का विस्तार द्वितीय कोट की अपेक्षा दूना है। और इसके द्वार रक्षक भवनवासी देव रहते हैं।

१९. कल्पभूमि—इस छठी भूमि का नाम कल्पभूमि है, यह दश प्रकार के कल्पवृक्षों से परिपूर्ण है। पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग, ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। इस भूमि में कहीं पर कमल, उत्पल से सुगंधित बावड़ियाँ हैं, कहीं पर रमणीय प्रासाद, कहीं पर क्रीडनशालायें और कहीं पर जिनेन्द्रदेव के विजयचरित्र के गीतों से युक्त प्रेक्षणशालायें होती हैं। ये सब भवन बहुत भूमियों (खनों) से सुशोभित, रत्नों से निर्मित पंक्तिक्रम से शोभायमान होते हैं। इस कल्पभूमि के भीतर पूर्वादि दिशाओं में नमेरू, मंदार, संतानक और पारिजात ये चार-चार महान् सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष तीन कोटों से युक्त और तीन मेखलाओं के ऊपर स्थित होते हैं। इनमें से प्रत्येक वृक्ष के मूलभाग में विचित्र पीठों से युक्त, रत्नमय चार-चार सिद्धों की प्रतिमायें होती हैं। ये वंदना करने मात्र से दुरंत संसार के भय को नष्ट कर देती है। एक-एक सिद्धार्थ वृक्ष के आश्रित, तीन कोटों से वेष्टित, पीठत्रय के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं। कल्पभूमि में स्थित सिद्धार्थ वृक्ष क्रीडनशालायें और प्रासाद जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारहगुणे ऊँचे होते हैं।

२०. नाट्यशाला—इस कल्पभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी (गली) के आश्रित, दिव्य रत्नों से निर्मित और अपने चैत्यवृक्षों के सदृश ऊँचाई वाली चार-चार नाट्यशालायें होती हैं। सब नाट्यशालायें पांच भूमियों (खनों) से विभूषित, बत्तीस रंगभूमियों से सहित और नृत्य करती हुई ज्योतिषी देवांगनाओं से रमणीय होती हैं।

२१. वेदी—इस नाट्यशाला के आगे प्रथम वेदी के सदृश ही चौथी वेदी होती है। यहाँ भवनवासी देव द्वारों की रक्षा करते हैं।

२२. भवनभूमि—इस वेदी के आगे भवनभूमि नाम से सातवीं भूमि होती है। इसमें रत्नों से रचित, फहराती हुई ध्वजा पताकाओं से सहित और उत्तम तोरण युक्त उन्नत द्वारों वाले भवन होते हैं। वे एक-एक भवन सुरयुगलों के गीत, नृत्य एवं बाजे के शब्दों से तथा जिनाभिषेकों से शोभायमान होते हैं। यहाँ पर भी उपवन, वापिका आदि सुन्दर शोभा पूर्व के समान रहती है।

२३. स्तूप—इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य जिन और सिद्धों की अनुपम प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं। इन स्तूपों पर छत्रों पर छत्र फिरते रहते हैं, ध्वजायें फहराती रहती हैं, ये दिव्यरत्नों से निर्मित रहते हैं और आठ मंगल द्रव्यों से सहित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊँचाई अपने चैत्यवृक्षों की ऊँचाई के समान होती है। भव्यजीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन और प्रदक्षिणा किया करते हैं।

२४. साल—स्तूपों के आगे आकाश स्फटिक के सदृश और मरकत मणिमय चार गोपुर द्वारों से रमणीय चौथा कोट होता है। यहाँ के द्वारों पर कल्पवासी देव उत्तम रत्नमय दण्डों को हाथ में लेकर खड़े रहते हैं। ये जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की परम भक्ति से द्वार-पाल का कार्य करते हैं।

२५. श्रीमण्डप भूमि—इस आठवीं भूमि का नाम 'श्रीमण्डप' है। यह अनुपम उत्तमरत्नों के खम्भों पर स्थित और मुक्ताजालादि से शोभायमान रहती है। इसमें निर्मल स्फटिकमणि से निर्मित सोलह दीवालों के बीच में बारह कोठे होते हैं। इन कोठों की ऊँचाई अपने जिनेन्द्र की ऊँचाई से बारहगुणी होती है।

२६. गणविन्यास—इन बारह कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिण क्रम से पृथक्-पृथक् ऋषि आदि बारहगण बैठते हैं। उनका क्रम यह है—प्रथम कोठे में संपूर्ण ऋद्धियों के धारक गणधर देव और सर्वदिगंबर मुनिगण बैठते हैं। स्फटिकमणि की दीवाल से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे कोठे में अतिशय नम्र आर्यिकायें तथा श्राविकायें बैठती हैं। चतुर्थ कोठे में ज्योतिर्वासी देवियाँ, पांचवें में व्यंतर देवियाँ, छठे में भवनवासी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यंतरदेव, नवमें में सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषीदेव, दशवें में कल्पवासीदेव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती, मण्डलीक राजा एवं अन्य मनुष्य तथा बारहवें में परस्पर वैरभाव को छोड़कर सिंह, व्याघ्र, नकुल, हरिण आदि तिर्यंचगण बैठते हैं।

२७. वेदी—इसके अनंतर निर्मल स्फटिक पाषाण से बनी हुई पाँचवीं वेदिका होती है। जिसका सर्व वर्णन प्रथम वेदी के सदृश ही है।

२८. प्रथम पीठ—इस पाँचवीं वेदी के आगे वैडूर्यमणि से निर्मित प्रथम पीठ होती है। इन पीठों की ऊँचाई भी अपने मानस्तम्भ के पीठ के सदृश है। इस प्रथमपीठ के ऊपर

बारह कोठों के प्रत्येक कोठे में से प्रत्येक कोठे के प्रवेश द्वारों में और समस्त (चार) वीथियों के सन्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ होती हैं। चूड़ी के सदृश गोल नाना प्रकार के पूजा द्रव्य और मंगल द्रव्यों से सहित इस पीठ पर चारों दिशाओं में अपने शिर पर धर्मचक्र को रखे हुये यक्षेंद्र स्थित रहते हैं। वे गणधर देव आदि बारहगण इस पीठ (कटनी) पर चढ़कर और प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्रदेव के सम्मुख हुये पूजा करते हैं। सैकड़ों स्तुतियों द्वारा गुणकीर्तन करके असंख्यात गुणश्रेणीरूप से अपने कर्मों की निर्जरा करते हुये प्रसन्नचित्त होकर अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं।

२६. द्वितीय पीठ—प्रथम पीठ (कटनी) के ऊपर दूसरा पीठ होता है। यह पीठ भी नानारत्नों से खचित भूमि युक्त होता है। इस सुवर्णमय पीठ पर चढ़ने के लिये चारों दिशाओं में पांच वर्ण के रत्नों से निर्मित सीढ़ियाँ होती हैं। इस पीठ के ऊपर मणिमय स्तम्भों पर लटकती हुई ध्वजायें होती हैं, जिनमें सिंह, बैल, कमल, चक्र, माला, गरुड़, वस्त्र और हाथी ऐसे आठ प्रकार के चिन्ह बने रहते हैं। इसी पीठ पर धूपघट, मंगल द्रव्य, पूजनद्रव्य और नवनिधियाँ रहती हैं जिनका वर्णन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

३०. तृतीय पीठ—द्वितीय पीठ के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से खचित तीसरा पीठ (कटनी) होता है। सूर्यमण्डल के समान गोल इस पीठ के चारों ओर रत्नमय और सुखकर स्पर्शवाली आठ-आठ सीढ़ियाँ होती हैं।

३१. गंधकुटी—इस तृतीय पीठ के ऊपर एक गंधकुटी होती है। यह चामर किंकणी, वन्दनमाला और हार आदि से रमणीय, गोशीर, मलय चंदन कालागरु आदि धूपों के गंध से व्याप्त, प्रज्वलित रत्नों के दीपकों से सहित तथा फहराती हुई विचित्र ध्वज पंक्तियों से संयुक्त होती है। वृषभदेव के समय गंधकुटी की ऊँचाई ६०० धनुष थी। आगे घटते-घटते वीरनाथ के समय ७५ धनुष प्रमाण रह गई थी। गंधकुटी के मध्य में पादपीठ सहित, उत्तम स्फटिक मणि से निर्मित घंटाओं के समूहादि से रमणीय सिंहासन होता है। रत्नों से खचित उस सिंहासन की ऊँचाई तीर्थंकर की ऊँचाई के ही योग्य हुआ करती है।

इस प्रकार यहाँ ३१ अधिकारों द्वारा समवसरण का वर्णन किया गया है। लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिये सूर्य के समान भगवान् अर्हंतदेव उस सिंहासन के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।

३४. अतिशय

तीर्थंकर के जन्म से लेकर अन्त तक ३४ अतिशय होते हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है। जन्म के १० अतिशय, घातिकर्म क्षय से ११ अतिशय और देवों के द्वारा किये गये १३ अतिशय, ऐसे कुल मिलाकर ३४ अतिशय होते हैं।

पसीना का न होना, शरीर में मल मूत्र का न होना, दूध के समान सफेद रुधिर का होना, वज्रर्षभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अत्यन्त सुन्दर शरीर, नवचंपक की उत्तम गंध के समान सुगन्धित शरीर, १००८ उत्तम लक्षणों का होना, अनंत-बल-वीर्य, हित-मित एवं मधुर भाषण, प्रत्येक तीर्थंकर के जन्मकाल से ही ये स्वाभाविक दश अतिशय होते हैं।

अपने पास से चारों दिशाओं में १०० योजन तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, सबकी ओर मुख करके स्थित होना, छाया का न होना, पलकों का न झपकना, सर्व विद्याओं की ईश्वरता, नख और केशों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर अनक्षरात्मक भाषायें हैं उनमें तालु, दांत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान् जिनेन्द्रदेव की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यंत जाती है। इससे अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्यजीवों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुये ये महान् आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय तीर्थंकर को केवलज्ञान के होने पर प्रगट होते हैं।

तीर्थंकर के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्ते, फूल और फलों की समृद्धि से युक्त हो जाता है। कंटक और रेती को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है। जीव पूर्व बैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं। उतनी भूमि दर्पण तल

1. यह गणना तिलोयपण्णत्ति के आधार से है। अन्य ग्रन्थों में जन्म के १०, केवल ज्ञान के १० और देवकृत १४ ऐसे ३४ गिनाये हैं।

के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है। सौधर्मइन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करता है। देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि खेत को रचते हैं। सब जीवों को नित्य आनंद उत्पन्न होता है। वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है। कुये और तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं। आकाश धुंआ और उल्कापात आदि से रहित होकर निर्मल हो जाता है। संपूर्ण जीवों को रोगादि की बाधायें नहीं होती हैं। यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे दिव्य धर्म चक्रों को देखकर जनों को आश्चर्य होता है। तीर्थंकर की चारों दिशाओं में (विदिशाओं सहित) छप्पन सुवर्ण कमल, एक पाद पीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजनद्रव्य होते हैं। इस प्रकार ये चौंतीस अतिशय कहे गये हैं।

आठ महाप्रातिहार्य—ऋषभ आदि तीर्थंकरों के जिन वृक्षों के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वे ही अशोक वृक्ष कहलाते हैं। ये जिनेन्द्रदेव के शरीर की ऊँचाई से बारह गुणे अधिक ऊँचे होते हैं। ये इतने सुन्दर होते हैं कि इनको देखकर इन्द्र का चित्त भी अपने नन्दन वनों में नहीं रमता है। तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर बिना स्पर्श किये ही चंद्रमण्डल के सदृश, मुक्ता के समूह से युक्त तीन छत्र शोभित होते हैं। निर्मल स्फटिक पाषाण से निर्मित और उत्कृष्ट रत्नों से खचित सिंहासन होता है। गाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथों को जोड़े हुये, विकसित मुख कमल से संयुक्त, बारह गण के मुनिगण आदि भव्य जीव भगवान् को घेर कर स्थित रहते हैं। मोह से रहित होकर जिनप्रभु के शरण में आवो, आवो, ऐसा कहते हुये ही मानों देवों का दुंदुभी बाजा बजता रहता है। भगवान् के चरणों के मूल में देवों के द्वारा की गई पुष्पवृष्टि होती रहती है। करोड़ों सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभामण्डल अपने दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण लोगों को सात भवों को दिखला देता है। कुंदपुष्प के समान श्वेत चौंसठ चंवर देवों के द्वारा दुराये जाते है। ये आठ महाप्रातिहार्य कहलाते हैं।

इन चौंतीस अतिशय और आठ महाप्रातिहार्य से संयुक्त मोक्षमार्ग के नेता और तीनों लोकों के स्वामी ऐसे अर्हंतदेव की मैं वंदना करता हूँ।

समवसरण में कितने जीव रहते है ?—प्रत्येक समवसरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् असंख्यात जीव जिनेन्द्रदेव की वंदना में प्रवृत्त हुये स्थित रहते हैं। कोठों के क्षेत्र से यद्यपि जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात गुणा है, फिर भी वे सब भव्यजीव

जिनदेव के माहात्म्य से एक दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। वहाँ पर बालक से लेकर वृद्ध तक सभी लोग प्रवेश करने में अथवा निकलने में अंतर्मूहूर्त काल के भीतर (४८ मिनट के भीतर) संख्यात योजन चले जाते हैं। इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते; तथा अनध्यवसाय, संदेह और विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन भगवान् के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, काम बाधा तथा भूख और प्यास की बाधायें भी नहीं होती हैं।

यक्ष-यक्षिणी—गोवदन, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुम्बुरव, मातंग, विजय, अजित, ब्रह्म, ब्रह्मेश्वर, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, कुबेर, वरुण, भृकुटि, गोमेघ, पार्श्व, मातंग (धरणेंद्र) और गुह्यक चौबीस तीर्थंकरों के ये चौबीस यक्ष हैं। अपने अपने तीर्थंकर के यक्ष अपने अपने जिनेंद्रदेव के पास में स्थित रहते हैं।

चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, गौरी, गांधारी, वैरोटी, सोलसा, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी, कूष्माण्डी, पद्मा (पद्मावती) और सिद्धायिनी चौबीस तीर्थंकरों की क्रम से ये चौबीस यक्षिणी हैं। अपने-अपने तीर्थंकर के समीप में एक-एक यक्षिणी रहा करती हैं।

दिव्यध्वनि का माहात्म्य—जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार खिरती हुई जिन भगवान की वाणी को अपने कर्त्तव्य के बारे में सुनकर वे बारह गणों के भिन्न-भिन्न जीव नित्य ही अनन्तगुणश्रेणीरूप से विशुद्ध परिणामों को धारण करते हुये अपने असंख्यात-गुणश्रेणीरूप कर्मों को नष्ट कर देते हैं। वहाँ पर रहते हुये वे भव्य जीव जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों में परमआस्थावान होते हुये परम भक्ति में आसक्त होकर अतीत वर्तमान और भावी काल को भी नहीं जानते हैं। अर्थात् बहुत सा काल व्यतीत कर देते हैं। इस प्रकार से तीर्थंकर को जब आर्हंत्य पद नामक परमस्थान प्राप्त होता है तब समवसरण की विभूति आदि महा अतिशय प्रगट होता है।

आर्हंत्य परमस्थान में यह समवसरण आदि विभूति में यह समवसरण आदि विभूति तो बहिरंग वैभव है। इसके साथ चार घातिया कर्मों के नाश होने से चार अनंत गुण प्रगट

1. तेईसवें तीर्थंकर के यक्ष का नाम धरणेंद्र और चौबीसवें का नाम मातंग, अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

हो जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनन्तदर्शन, मोहनीय के नाश से अनन्तसुख और अन्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य प्रगट हो जाता है। ये चार गुण ही अनन्तचतुष्टय कहे जाते हैं।

भगवान् की सभा में द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता, मनःपर्ययज्ञान पर्यंत चार ज्ञान के धारी और चौंसठ ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव रहते हैं जो भगवान् की दिव्यध्वनि को श्रवण कर जन-जन में उसका विस्तार करते हैं। गणधर के अभाव में तीर्थंकर की दिव्यदेशना नहीं होती है ऐसा नियम है। भगवान् की बारह सभा में मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका, यह चतुर्विध संघ रहता है। असंख्यातों देव-देवियाँ रहते हैं और संख्यातों तिर्यंच रहते हैं। ये सभी भगवान् के दिव्य उपदेश को सुनकर सम्यक्त्व को और अपने योग्य व्रतों को ग्रहण कर अपनी आत्मा को मोक्ष मार्गी बना लेते हैं।

इस प्रकार से संक्षेप में आर्हंत्य नामक छठा परमस्थान कहा गया है।

(७) निर्वाणपरमस्थान—

संसार के बंधन से मुक्त हुये परमात्मा की जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृत्ति कहते हैं इसका दूसरा नाम परंनिर्वाण भी है। समस्त कर्मरूपीमल के नष्ट हो जाने से जो अन्तरात्मा की शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं यह सिद्धि 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' के अनुसार अपने आत्मतत्व की प्राप्तिरूप है अभावरूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणों के नाशरूप ही है। इस निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेना ही परिनिर्वाण नाम का सातवां परमस्थान माना गया है।

श्रीकुंदकुंददेव ने निर्वाण का लक्षण बहुत ही सरल भाषा में कह दिया है—

पुनः केवली भगवान् के आयुकर्म का क्षय हो जाने से शेष बची संपूर्ण प्रकृतियों का विनाश हो जाता है, पश्चात् वे एक समयमात्र में लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाते हैं। वहाँ पर वे जन्म जरामरण से रहित, आठ कर्म से रहित, परम, शुद्ध, अनंतज्ञान, दर्शन, सौख्य, वीर्य इन चार स्वभावरूप, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अनिंद्रिय, अनुपम, पुण्यपाप से निर्मुक्त, नित्य, अचल, अनालम्ब और पुनरागमन से रहित हो जाते हैं। जहाँ पर न दुःख है, न सुख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म है वहीं पर

निर्वाण होता है अर्थात् उसी अवस्था का नाम निर्वाण है। जहाँ पर न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृष्णा है और न क्षुधा है वहीं पर निर्वाण होता है। जहाँ पर न कर्म है, न नोकर्म है, न चिंता है न आर्त-रौद्रध्यान और न धर्मशुक्ल ध्यान ही है वहीं पर निर्वाण है अर्थात् उसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं।

प्रश्न होता है कि फिर वहाँ पर क्या है ? सो ही कहते हैं—

वहाँ पर निर्वाण में केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, केवलसौख्य है, केवलवीर्य है, अमूर्तत्व है, अस्तित्व है और सप्रदेशत्व है। अर्थात् उन सिद्धों में केवल-परिपूर्णज्ञान दर्शन सुख और वीर्य ये चार गुण प्रगट हो चुके हैं वे अमूर्तिक होते हुये भी अपनी सत्ता से विद्यमान हैं और अपने असंख्यात प्रदेशों से सहित पुरुषाकार होने से सप्रदेशी हैं। अब आगे कहते हैं कि—

निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं ऐसा कहा गया है। तथा कर्म से विमुक्त हुआ आत्मा लोक के अग्रभाग पर्यंत चला जाता है। पुनरपि प्रश्न होता है कि लोक के बाहर अलोकाकाश में क्यों नहीं चले जाते हैं ? उस पर श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं—

'जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेह जाव धम्मत्थी'
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति' ॥१८४॥[1]

"जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जीवों और पुद्गलों का गमन होता है। क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में उस लोकाकाश से आगे नहीं जा सकते हैं ऐसा तुम जानो।"

इस प्रकार से निर्वाण परमस्थान का स्वरूप कहा गया है। वास्तव में अनादिकाल से इस संसार में प्रत्येक जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध लगा हुआ है जैसे कि खान से निकला हुआ सोना प्रारम्भ से किट्ट कालिमा से युक्त ही रहता है पुनः योग्य सामग्री का मिश्रण करके जब उसे अग्नि में शुद्ध किया जाता है तब वह किट्ट कालिमा से रहित हो जाता है। उसी प्रकार से इस जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का संबंध चला आ रहा है इसे द्रव्य कर्म कहते हैं। उसी के निमित्त से आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि विभाव परिणाम उत्पन्न होते हैं इन्हें भावकर्म कहते हैं। इन कर्मों के निमित्त से ही यह जीव संसार में-चतुर्गति में परिभ्रमण करता हुआ जन्ममरण के दुःख उठा रहा है। जब यह जीव काललब्धि आदि के

१. नियमसार।

निमित्त से निकट संसारी हो जाता है। तब यह सज्जाति नामक प्रथम परमस्थान को प्राप्त कर मोक्ष के लिये उद्यमशील हो जाता है। तब वह सद्गृहस्थ नामक द्वितीय परमस्थान को प्राप्त कर लेता है। इसके अनंतर पारिव्राज्य नामक तृतीय परमस्थान प्राप्त करने को उत्सुक होता है। यहाँ इतनी बात अवश्य ध्यान रखने की है कि सज्जाति परमस्थान के बिना सद्गृहस्थ और पारिव्राज्य स्थान असंभव है अतः यह सज्जाति निर्वाण नामक सप्तम परमस्थान के लिये महत्वपूर्ण है। इस पारिव्राज्य तृतीय स्थान के बाद सुरेन्द्रता नामक चतुर्थ परमस्थान प्राप्त होता है। अनंतर साम्राज्य नामक पाँचवां स्थान उपलब्ध होता है। इसके बाद आर्हन्त्य नामक छठे परमस्थान को प्राप्त कर अंत में निर्वाण नामक सप्तम परमस्थान का स्वामी हो जाता है। जितने भी सिद्ध हुये हैं, होते हैं और होंगे उन सबने प्रथम स्थान सज्जाति, तृतीय स्थान पारिव्राज्य और छठे स्थान आर्हन्त्य को अवश्य ही प्राप्त किया है, करते हैं और करेंगे क्योंकि इन तीन स्थान के बिना निर्वाण स्थान की प्राप्ति सर्वथा असंभव ही है। हाँ किन्हीं ने सातों को प्राप्त किया होगा व किन्हीं ने पाँच या छह को प्राप्त किया होगा या करेंगे। सप्त परमस्थान को प्राप्त करने वाले भगवान् वृषभदेव, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, पार्श्वनाथ महावीर स्वामी आदि विरले ही महापुरुष होते हैं।

इन सप्त परम स्थानों को पढ़कर प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सज्जाति के महत्व को समझे और सप्त परमस्थान प्राप्त करने की सदा भावना भाता रहे।

सुदं मे आउस्संतो

"पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो ।"

हे आयुष्मन्तों भव्यों ! मैंने प्रथम ही सुना है ।

क्या सुना है ?

"गिहत्थधम्मं" गृहस्थ धर्म सुना है । किनसे सुना है ?

"भयवदा महदिमहावीरेण" भगवान् महति महावीर के श्रीमुख से सुना है । वे भगवान महावीर कैसे हैं ?

"समणेण महाकस्सवेण सवण्हाणेण सव्वलोयदरसिणा ।" जो श्रमण हैं, महाकश्यप गोत्र में जन्में हैं, सर्वज्ञानी हैं और सर्वदर्शी हैं ऐसे भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हमने सुना है ।

किसके लिये उपदेश दिया है ? "सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्डीयाणं कारणेण"

श्रावक और श्राविकाओं के लिये तथा क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिए उपदेश दिया है ।

क्या उपदेश दिया है ? "पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसिदाणि ।" पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है ।

श्री गौतम स्वामी जो भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हुये हैं । उन श्रीगौतम स्वामी के द्वारा बनाये गये सूत्र रूप प्रतिक्रमण पाठ आज उपलब्ध हैं जिन्हें मुनि, आर्यिकायें और क्षुल्लक-क्षुल्लिकायें तथा व्रती श्रावक वर्ग प्रतिदिन पढ़ते हैं । ऐसे यतियों का और श्रावकों का दैवसिक—रात्रिक प्रतिक्रमण पाठ तथा पाक्षिक प्रतिक्रमण नाम से प्रसिद्ध पाक्षिक प्रतिक्रमण मौजूद है । जिसमें प्राकृत के जितने भी दण्डक पाठ व सूत्रपाठ हैं वे सब श्रीगौतमस्वामी द्वारा रचित है । यह बात टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने कही है तथा अन्य भी आचार्यों ने इन प्रतिक्रमण दण्डक को श्रीगौतम स्वामी रचित

ही माना है। वे गौतम स्वामी उस पाक्षिक यतिप्रतिक्रमण में उपर्युक्त पंक्तियों को कह रहे हैं कि—

"हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है महाकश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, श्रमण भगवान् महावीर ने श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इनके लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।"

यहाँ पर ये पंक्तियां बहुत ही महत्व की हैं क्योंकि श्रीगौतमस्वामी मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञान से सहित थे। बुद्धि, ऋद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित थे। जिन्होंने कुछ दिन कम तीस वर्ष तक बराबर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि को सुना था तथा जिन्होंने स्वयं ही ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से ग्रन्थ रचना की थी। ऐसे महान् गणधर पूर्ण प्रामाणिक श्री गौतम स्वामी गौरवपूर्ण शब्दों में स्वयं कह रहे है कि "मैंने सुना है" तथा अतीव कोमल और प्रिय शब्दों में भक्तों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि "हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है।" इन शब्दों से श्री गणधर देव गृहस्थ धर्म को भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्ध कर रहे हैं, जो कि बारह व्रत रूप है। इन बारह व्रतों में स्वयं गौतम स्वामी के शब्दों में ही आप उनके नाम देखिये—

"तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस परदारगमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।"

पाँच अणुव्रत—

उन बारह व्रतों में से पहले पांच अणुव्रत हैं। पहले अणुव्रत में स्थूल रूप से प्राणी हिंसा से विरति है। दूसरे अणुव्रत में स्थूल रूप से असत्य से विरति है। तीसरे अणुव्रत में स्थूल रूप से बिना दिये हुये परद्रव्य से विरति है। चौथे अणुव्रत में स्वदार संतोष है अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष है और परस्त्री से विरति है इसीलिये यह स्थूल रूप से व्रत है अथवा किसी-किसी की सम्पूर्ण स्त्री मात्र से ही विरति है। पांचवें अणुव्रत में अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया गया है। इसलिये इसमें भी

परिग्रह का पूर्ण त्याग न होने से स्थूल रूप से विरति है। इसीलिये ये पांच अणुव्रत कहलाते हैं।

इनका विशेष विवरण इस प्रकार है कि पाप पाँच होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और इनका पूर्णतया त्याग कर देना महाव्रत है। यहाँ पर श्री गौतम स्वामी ने बहुत ही संक्षेप में अहिंसा अणुव्रत का लक्षण कर दिया है कि "स्थूल रूप से प्राणियों की हिंसा का त्याग करना। श्रीउमास्वामी आचार्य ने "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा" इस सूत्र में ऐसा कहा है कि प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करना हिंसा है और घात न करना अहिंसा है। यह लक्षण एक देश से अणुव्रत में और पूर्ण रूप से महाव्रत में घटित हो जाता है।

श्री समंतभद्र स्वामी ने स्थूल का भाव खोलते हुये अणव्रत का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में किया है, जिसका हिन्दी पद्य इस प्रकार है—

अहिंसा अणुव्रत का लक्षण—

मन वचन काय को कृत कारित, अनुमति से गुणते नव होते।
नव कोटी से संकल्प सहित, त्रस का जो घात नहीं करते॥
स्थूलरूप त्रस हिंसा से, वे विरत हुये अणुव्रत धरते।
श्री गणधर देव उन्हीं के तो, श्रावक का पहला व्रत कहते॥

मन, वचन, काय, को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद हो जाते है, जो इन नव कोटि से संकल्पपूर्वक–अभिप्रायपूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करते है वे त्रस हिंसा से विरत होने से स्थूल रूप से इस अहिंसाव्रत का पालन करते हैं। चूंकि उनके अभी पाँच प्रकार के स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं है इसीलिये ये अणुव्रती कहलाते हैं तथा जो त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा का त्याग कर देते हैं। उनका यही व्रत महाव्रत बन जाता है। ऐसे ही अन्य चार अणुव्रतों के विषय में श्रीसमंतभद्र स्वामी के अभिप्रायानुसार देखिये।

---

१. सकल्पात्कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥

सत्याणुव्रत का लक्षण—

स्थूल झूठ नहिं आप स्वयं, बोले नहिं पर से बुलवावे।
ऐसा भी सत्य न बोले जो, पर को विपदाकृत हो जावे ।।
वह सत्यअणुव्रत को पाले, ऐसा गणधर मुनि कहते हैं।
इस सत्यव्रतिक को सभी लोग, विश्वासपात्र ही कहते हैं ।।

अचौर्य अणुव्रत का लक्षण—

परकीय वस्तु जो रखी हुई, या गिरी पड़ी या भूली हो।
बिन दिये उसे नहिं खुद लेता, नहिं अन्य किसी को देता जो ।।
वह ही अचौर्य अणुव्रत पाले, वह सब जग का विश्वासी हो।
परधन के त्यागरूप व्रत से, वह नवनिधियों का स्वामी हो ।।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत का लक्षण—

जो पापभीरु हो पर महिला से, कामभोग नहिं स्वयं करें।
पर से दुश्चरित न करवावें, निजस्त्री में संतोष धरें ।।
वे ही कुशील त्यागी नर हैं, वे शील धुरन्धर व्रत धारें।
महिलायें भी परपुरुष त्याग, करके दो कुल यश विस्तारें ।।

परिग्रह परिमाण व्रत का लक्षण—

जो क्षेत्र वास्तु हीरण्य स्वर्ण, धन-धान्य दास-दासी होते।
औ कुप्य भाण्ड ये दश परिग्रह, इनका जो परीमाण करते ।।
फिर उससे अधिक नहीं चाहें, परिग्रह परिमाण व्रती वे हैं।
वे घर में रहकर संतोषी, अतएव सुखी भी वे ही हैं ।।

प्रत्येक गृहस्थ को इन पांच अणुव्रतों को ग्रहण करना चाहिये। इन पाँचों अणुव्रतों के पांच-पांच अतिचार माने गये हैं। अणुव्रती श्रावक का कर्त्तव्य है कि उन अतिचारों का भी त्याग कर देवे। जो गृहस्थ इन अणुव्रतों को धारण करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी सदा सुखी और संतोषी रहता है। राजनीति के नियमों का उल्लंघन न होने से

उसके व्यापार, उद्योग आदि कार्यों में भी पूर्ण सफलता मिलती है। इस भव में यश और सुख को प्राप्त कर वह परलोक में भी स्वर्गादि के सुखों का अनुभव करता है। सिद्धांत ग्रन्थों का यह नियम है कि अणुव्रती नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में नहीं जाता है। नियम से देवगति में ही जन्म लेता है। कहा भी है—

"अणुव्वदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।"

जिसके देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बंध हो गया है वह मनुष्य अणुव्रत या महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है।

तीन गुणव्रत—

बारह व्रतों के अंतर्गत तीन गुणव्रतों का वर्णन करते हुये श्री गौतमस्वामी कहते हैं—

"तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाणं, बिदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदण्डादो वेरमणं, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।"

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये तीन गुणव्रत हैं। उनमें से पहले गुणव्रत में दिशा-विदिशाओं का प्रत्याख्यान (नियम) किया जाता है। दूसरे गुणव्रत में विविध प्रकार के अनर्थ-दण्ड से विरति होती है। तीसरे गुणव्रत में भोग-उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान-परिमाण किया जाता है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षाव्रत—

पुनः आगे चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं—

"तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामायियं, बिदिए पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि।"

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये चार शिक्षाव्रत हैं। उनमें से प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है, दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है, तीसरा अतिथिसंविभाग व्रत है और चौथा अंत में सल्लेखना मरण नाम का शिक्षाव्रत है, इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्रीकुंदकुंददेव ने भी अपने चारित्रपाहुड़ ग्रन्थ में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के ये ही नाम कहे हैं। श्रीउमास्वामी आचार्य और श्री समंतभद्र स्वामी ने इन सात व्रतों के क्रम में कुछ अंतर रखा है। यथा—"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥"

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्री समंतभद्र स्वामी के शब्दों में अन्तर देखिये—

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, और भोगोपभोग परिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। देशावकाशिकव्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं।

श्री उमास्वामी आचार्य और श्री समंतभद्र स्वामी ने इन बारह व्रतों का वर्णन करने के बाद अंत में सल्लेखना का वर्णन किया है। किन्तु श्री गौतम स्वामी ने दिग्व्रत-देशव्रत को एक में ही शामिल कर अतिथिसंविभाग को तृतीय शिक्षाव्रत में लेकर सल्लेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में ही ले लिया है।

विस्तृत रूप में गुणव्रतों का वर्णन करते हुये श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

जो पाँच अणुव्रत रूपी मूलगुणों की वृद्धि करने वाले हैं और उन व्रतों को दृढ़ करने वाले हैं उन्हें ही गुणव्रत कहते हैं : दिग्व्रत का लक्षण करते हुये जो कहते हैं। उसका पद्यानुवाद—

दश दिश की मर्यादा करके, जीवन पर्यंत नियम करले।
इसके बाहर नहिं जाऊँगा, ऐसा निश्चित जो प्रण कर ले ।।
वह सूक्ष्म पाप से भी बचता, इस मर्यादा के बाहर में।
जो जन इस दिग्व्रत का धारी, वह शांतिलाभ करता जग में ।।

दशों दिशाओं की सीमा करके जीवन भर उसके बाहर नहीं जाना। 'मैं जीवन भर इस मर्यादा के बाहर नहीं जाऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर लेना दिग्व्रत है। यह दिग्व्रती श्रावक मर्यादा के बाहर में सूक्ष्म पाप से भी बच जाता है अतः घर में रहते हुये भी शांति-लाभ करता है। समुद्र, नदी, वन, पर्वत, शहर या ग्राम आदि स्थानों द्वारा योजन या कोश प्रमाण से मर्यादा कर लेना। इस प्रकार चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं और

ऊपर-नीचे सुरंग आदि में कुछ सीमा निर्धारित कर लेना ही दिग्व्रत है। दिग्व्रती श्रावक के इस मर्यादा के बाहर अणुमात्र भी पाप नहीं लगता है अतः उस सीमा के बाहर उसके अणुव्रत महाव्रत रूप हो जाते हैं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय के मंदरूप हो जाने से उस जीव के चारित्रमोहरूप परिणाम मंद-मंद हो जाते हैं। यद्यपि उस दिग्व्रती श्रावक के ये प्रत्याख्यानावरण कषायें विद्यमान हैं, इनका अस्तित्व मौजूद है फिर भी मर्यादा के बाहर पाप का लेश न होने से उसके अणुव्रत महाव्रत सदृश हो जाते हैं। यह कथन उपचार से माना गया है।

जो हिंसा आदि पाँचों पापों का पूर्ण रूप से त्याग कर देते हैं उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय के नहीं होने से मात्र संज्वलन कषायें विद्यमान हैं अतः उन महाव्रती को छठा-सातवां गुणस्थान माना जाता है। उनके संयम का सद्भाव है किंतु श्रावक के संयमासंयम का ही सद्भाव होने से उसका पाँचवां गुणस्थान ही रहता है, यह सिद्धांत का कथन है।

देशव्रत या देशावकाशिक व्रत में कुछ काल के लिये दिशा विदिशाओं की मर्यादा की जाती है अर्थात् दिग्व्रत में जीवन भर के लिये मर्यादा को किया जाता है किन्तु देशव्रत में कुछ दिन, महीना, वर्ष आदि के नियम से मर्यादा की जाती है। यहाँ पर श्री गौतमस्वामी ने देशव्रत को पृथक् नहीं लिया है अतः इनके इस प्रथम गुणव्रत में जीवन भर या कुछ-कुछ काल की मर्यादाये भी ली जा सकेंगी।

द्वितीय गुणव्रत अनर्थदण्ड से विरति रूप है—

श्री समंतभद्रस्वामी के अभिप्रायानुसार—

जो अनर्थ अर्थात् बिना प्रयोजन ही दण्ड अर्थात् जीवों की हिंसा के कारण हों, उनसे विरति करना ही अनर्थदण्ड विरति नाम का व्रत है। इसके ५ भेद हैं—

पापोपदेश औ हिंसा के, उपकरण दान अपध्यान तथा।
चौथा है दुःश्रुति नाम लहे, पंचम प्रमादचर्या विरथा।।
इस विध से पाँच अनर्थ दण्ड, जो सदा पाप आस्रव करते।
त्रययोगों के दण्डित कर्ता, मुनिगण इस विध से उच्चरते।।

पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ये पांच अनर्थदण्ड हैं। इनसे सदा पाप का ही आस्रव होता रहता है।

१. पापोपदेश अनर्थदण्ड के कई भेद है—तिर्यक्‍वणिज्या–तिर्यंचों के व्यापार का उपदेश देना, क्लेशवणिज्या—दास-दासी आदि के क्लेशकारी उपदेश देना, हिंसोपदेश—हिंसा के कारणों का उपदेश देना, आरंभोपदेश—बाग लगाने, अग्नि जलाने आदि आरंभ कार्यों का उपदेश देना, प्रलंभोपदेश—ठग विद्या, इन्द्रजाल आदि कार्यों का उपदेश देना। ये सब पापोपदेश अनर्थदण्ड हैं। इन सभी पापोपदेश से विरक्त होना, इनका त्याग कर देना, यह पहला अनर्थदण्ड त्यागव्रत है।

२ हिंसादान—हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, शस्त्र, सींगी, विष, सांकल आदि वस्तुओं का देना हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है।

३. अपध्यान—पर के स्त्री, पुत्र आदि मर जाये, उनका अनिष्ट हो जाये, इनको कोई मार दे, काट दे, बांध दे, इनकी हार हो जाये, इत्यादि प्रकार से राग या द्वेष की भावना से अन्य के बारे में ऐसा चितवन करते रहना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

४. दुःश्रुति—आरंभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मद, काम-भोग और लोभ आदि से मन को मलिन करने वाले ऐसे शास्त्रों का या पुस्तकों का सुनना या पढ़ना अथवा पढ़ाना यह सब दुःश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

५. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का बिना कारण ही आरम्भ करना अर्थात् बिना प्रयोजन ही भूमि खोदना, जल गिराना, अग्नि जलाना, हवा करना, व्यर्थ ही वनस्पति, अंकुर, वृक्ष आदि का छेदन-भेदन करना, व्यर्थ ही इधर-उधर घूमना या अन्य को घुमाना ये सब प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड है।

इन सब अनर्थदण्डों का त्याग कर देना ही अनर्थदण्ड विरति नाम का दूसरा गुणव्रत है।

आगे तीसरे भोगोपभोग परिमाण व्रत को कहते हैं।

तीसरा गुणव्रत भोगोपभोगपरिसंख्यान नाम का है, जिसका अर्थ भोग और उपभोग संबंधी वस्तुओं की मर्यादा करना। उसका विवरण स्वामी समंतभद्र के अनुसार देखिये—

परिग्रह परिमाण अणुव्रत में, जीवन भर नियम किया जो भी।
उसके अन्दर पंचेन्द्रिय के, विषयों का नियम करो फिर भी॥
यह रागासक्ति घटाने के, हेतू व्रत ग्रहण किया जाता।
अतएव प्रयोजन है जितना, उतने को रख सब छुट जाता।

पाँचवें परिग्रहण परिमाण नामक अणुव्रत में जीवन भर के लिये जो सीमा कर ली गई है। राग की आसक्ति को घटाने के लिये उसी के भीतर पंचेंद्रियों के विषयभूत पदार्थों का नियम करते रहना भोगोपभोग परिमाण व्रत कहलाता है। इस व्रत के ग्रहण करने के प्रयोजन से अतिरिक्त वस्तुओं का त्याग हो जाता है।

यहाँ पहले भोग और उपभोग इन दोनों शब्दों का अर्थ कहते हैं—

जो भोगे जाकर छुट जाते, वे भोग शब्द से कहलाते।
ये भोजन गंध माल्य आदी, जो पुनः भोग में नहिं आते॥

जिस वस्तु का नर भोग करे, अरु पुनः भोगने में आवे।
ऐसे वस्त्राभूषण आदी, उपभोग नाम जग में पावे॥

जो पदार्थ एक बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग शब्द से कहा जाता है। ये भोजन, गंध, माला आदि पदार्थ है क्योंकि पुनः इनका उपभोग नहीं हो सकता है। इनसे अतिरिक्त जो वस्तुयें पुनः-पुनः भोगने में आती हैं ऐसे वस्त्र, आभूषण, आसन आदि उपभोग नाम से जाने जाते है।

इस व्रत का वर्णन करते हुये आचार्य महोदय कहते है कि कुछ पदार्थ सर्वथा ही त्याग करने योग्य हैं—

त्रस जीव घात के त्याग हेतु, मधु मांस त्याग निश्चित करिये।
त्रसहिंसा तथा प्रमाद त्याग, हेतुक मदिरा भी परिहरिये॥

जिसने जिन चरण शरण ली है, वह श्रावक जिन आज्ञा पालें।
तीनों मकार ये भव-भव में, दुखदायी जीवन भर टाले॥

जिनके खाने में फल थोड़ा, स्थावर हिंसा बहुत बड़ी।
ऐसे मूली आलू आदिक, सब कंदमूल अदरख गीली।

मक्खन औ निम्बपुष्प केतकि, के पुष्प आदि को तज दीजे।
इनके भक्षण से पाप अधिक, इसलिये व्रतिक जन मत लीजे॥

त्रसहिंसा से बचने के लिये शहद, अण्डे, मछली, मांस आदि तथा शराब इनका जीवन भर के लिये त्याग कर देना चाहिये। ये मद्य-मांस और मधु त्रसहिंसा के स्थान हैं

प्रमाद को बढ़ाने वाले हैं और प्रकृति को क्रूर तामस बनाने वाले हैं। इसलिये जिसने जिनेन्द्रदेव के चरणों की शरण ले ली है ऐसा श्रावक इन तीनों मकारों का जीवनभर के लिये त्याग कर देता है। इनसे अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जिनमें त्रसजीवों की हिंसा तो नहीं है किन्तु स्थावर हिंसा अत्यधिक होती है। उन्हीं के बारे में जैनाचार्यों का ऐसा कहना है कि जिनके खाने में लाभ तो बहुत कम है स्वाद भी एक क्षण के लिये है किन्तु स्थावर हिंसा बहुत ही अधिक है ऐसे पदार्थ कंदमूल आदि हैं। मूली, आलू, अरवी, गाजर आदि। तथा गीली अदरख का निषेध करने से सूखी हुई सोंठ खाने का त्याग नहीं माना जाता है। उसी प्रकार से और भी वस्तुयें है जैसे मक्खन अर्थात् दही को बिलोकर निकाला गया मक्खन ४८ मिनट के बाद अभक्ष्य हो जाता है उसके अन्दर ही उसे तपाकर घी निकाल लेना चाहिये। अन्यथा उसमें अनंत संमूर्छन जीवों का उत्पाद माना जाता है। ऐसे ही नीम के फूल, केवड़ा के फूल आदि भी अभक्ष्य हैं इनमें भी बहुत से अनंत-कायिक जीव रहते हैं। इनके भक्षण करने से पाप ही पाप लगता है, लाभ और स्वाद कितना मात्र है ? अतएव व्रतिक श्रावकों को तो इन्हें सर्वथा ही छोड़ देना चाहिये।

इनसे अतिरिक्त कुछ अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थ हैं उनका भी त्याग आवश्यक है। जो पदार्थ भक्ष्य तो हैं किन्तु स्वास्थ्य के लिये अहितकर हैं, अपथ्य हैं ऐसे पदार्थ ही ही अनिष्ट कहलाते है। तथा जो पदार्थ भले पुरुषों के सेवन योग्य नहीं हैं वे ,अनुपसेव्य कहलाते है जैसे मूत्र आदि। इस प्रकार इन अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थों का त्याग करना भी आवश्यक है।

इस भोगोपभोग परिसंख्यान के विषय में श्री समंतभद्रस्वामी ने त्याग के दो प्रकार माने हैं—नियम और यम। मर्यादित काल तक किसी वस्तु का त्याग करना नियम कहलाता है और यावज्जीवन किया गया त्याग यम कहलाता है।

भोजन, वाहन, शय्या, आसन, स्नान, गंध, माला, तांबूल, वस्त्र, आभूषण, कामभोग, संगीतश्रवण, गीत और नाटक आदि सभी भोगोपभोग सामग्री हैं। इनमें से सभी का या किसी एक, दो आदि विषयों का कुछ दिन की मर्यादा से नियम करना। जैसे कि आज दो बार ही भोजन करूंगा, दो दिन वाहन से यात्रा नहीं करूंगा, दो चार दिन पलंग पर नहीं सोऊंगा, इत्यादि प्रकार से इनमें से किसी का कुछ समय या दिन आदि के लिये त्याग कर देना नियम है। यह नियम विषयों की लालसा को कम करने के लिये ही किया

जाता है। तथा भक्ष्य होते हुए भी किसी वस्तु का जीवन भर के लिये त्याग कर देना यम है जैसे नमक का जीवन भर के लिये त्याग कर देना आदि।

जिन खाद्य पदार्थों पर फफूंदी लग जाती है वे भी अभक्ष्य हो जाते हैं जैसे कच्चे आम की लौंजी, भीगा हुआ गीला कत्था, आम के रस का अमावट, बासी साग-सब्जी आदि। उसी प्रकार से बड़ी, पापड़, मुंगौड़ी आदि भी चौबीस घण्टे के बाद अभक्ष्य माने गये हैं चूंकि इनमें संमूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते है। ऐसे ही वर्षा ऋतु में पत्ती के साग भी नहीं लेना चाहिये। कच्चा दूध यदि अड़तालीस मिनट तक तपा लिया जाता है तो ठीक अन्यथा ४८ मिनट के बाद में वह अभक्ष्य हो जाता है। छना हुआ पानी ४८ मिनट तक ग्राह्य है पुनः अनछने के समान है। यदि छानकर उसमें लवंग, इलायची या कपूर डाल देते हैं तो वह छह घण्टे तक प्रासुक रहता है तथा गरम किया हुआ जल चौबीस घण्टे तक प्रासुक माना गया है।

ऐसे ही वर्षा ऋतु में कुटे हुये हल्दी आदि मसालों में भी छोटी-छोटी लटे पड़ जाती हैं अतः इन कुटे हुये मसालों को दो तीन दिन ही काम में लेना चाहिये। व्रतिक श्रावकों का तो यह सब कर्तव्य है ही, भाद्रपद में शुद्ध खान पान करने वाले पुरुषों को और महिलाओं को भी इन उपर्युक्त बातों की जानकारी रखते हुये शुद्ध, सात्विक, प्रासुक भोजन-पान करना चाहिये।

सामायिकविधि विशेष—

"चत्तारि सिक्खावदाणि तत्थ पढमे सामाइयं।"

चार शिक्षाव्रत हैं उनमें सर्वप्रथम सामायिक शिक्षा व्रत है। इस व्रत का लक्षण स्वयं श्री गौतमस्वामी कहते हैं—

जिणवयण धम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्च पि
ज वदणं तियाण कीरइ सामाइय तं खु॥

जिनवचन, जिनधर्म, जिनचैत्य, पंचपरमेष्ठी और जिनमंदिर इनकी नित्य ही तीनों संध्याओं में वंदना करना इसी का नाम सामायिक है। अर्थात् अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनमंदिर इन्हें नव देवता कहते हैं। प्रतिदिन तीनों कालों में इनकी वंदना करना ही सामायिक है।

श्रीगौतमस्वामी द्वारा जो चैत्य भक्ति है उसको सामायिक में पढ़ने का विधान है। उसमें मुख्य रूप से जिनचैत्य अर्थात् जिनप्रतिमा और जिनमंदिरों की वंदना है ही है साथ ही उसमें पंचपरमेष्ठी तथा जिनधर्म और जिनवचन की भी वंदना आ जाती है। इसके अतिरिक्त सामायिक में कृतिकर्म पूर्वक चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति इन दो भक्तियों के पढ़ने का विधान है। यह सामायिक विधि देववंदना नाम से क्रियाकलाप "यतिक्रियामंजरी" और "सामायिक" आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुकी है। विधिवत् उस देववंदना को करना ही सामायिक है। इस विधिवत् सामायिक के दो कृतिकर्म माने गये हैं जो कि मुनियों के लिये भी मूलाचार और अनगार धर्मामृत में अनिवार्य रूप से कहे गये है। यथा—

"त्रिसंध्यं वदने युंज्यात् चैत्यपंचगुरुस्तुती"

तीनों संध्या कालों में देववंदना (सामायिक) करते समय चैत्य भक्ति और पंचगुरु भक्ति इन दोनों भक्तियों का पाठ करना चाहिये।

देव वंदना प्रयोग विधि—

त्रिकाल देववंदना—सामायिक करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्तियों का विधिवत् प्रयोग किया जाता है। पुनः सर्वदोष विशुद्धि के लिए समाधि भक्ति पढ़ी जाती है।

स्वाधीनता, त्रिःपरीति, त्रयोनिषद्या, त्रिवार कायोत्सर्ग, द्वादशआवर्त और चार शिरोनति इस प्रकार कृतिकर्मरूप वंदना के छह कृति अथवा अंग हैं।

सिद्धान्त ग्रन्थ में भी कहा है—

"आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं वारसावत्तं चेदि।"

१. वंदना करने वाले की स्वाधीनता २. तीन प्रदक्षिणा ३. तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग ४. तीन निषद्या-ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनंतर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी विज्ञापन करना, चैत्यभक्ति के अंत में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरुभक्ति संबंध क्रिया विज्ञापन करना, पंचमहागुरुभक्ति के अंत में बैठकर

आलोचना करना ५. चार शिरोनति और ६. बारह आवर्त । यही सब आगे किया जाता है ।

जिन, सिद्ध, आचार्य और बहुश्रुत की वंदना करने में जो क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं । उस कृतिकर्म के आत्माधीनता, तीन बार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है ।

पराधीन जीव हमेशा ही दीन बना रहता है अतः चैत्यवंदना आदि कार्यों में स्वाधीनता अवश्य चाहिए । "श्रुतज्ञानरूपी" चक्षु से अपनी आत्मा में चिच्चैतन्यस्वरूप भगवान् आत्मा को देखते हुए जिनालय में जाकर द्रव्यादि की शुद्धि से शुद्ध हुए साधु "निःसही निःसही निःसही" इस प्रकार उच्चारण करते हुए मंदिर के भीतर प्रवेश करके जिनप्रतिमा के मुख चंद्र का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भगवान् को तीन बार नमस्कार करते हैं । पुनः चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देते हैं । इसके बाद "अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य" अथवा "दृष्टिं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि" स्तोत्र को पढ़कर वंदना मुद्रा के द्वारा "पडिक्कमामिभंते ! इरियावहियाए" इत्यादि ईर्यापथशुद्धि पाठ बोलते हैं पुनः कायोत्सर्ग करके पंचांग नमस्कार करके "ईर्यापथे प्रचलिताद्य मया प्रमादा"—इत्यादि आलोचना करके यदि धर्माचार्य हैं तो उनके निकट अन्यथा भगवान् के समक्ष पंचांग नमस्कार करके कर्तव्य कर्म को स्वीकार करते हैं अर्थात् "नमोऽस्तु भगवन् ! देववंदनां करिष्यामि"—जय हे भगवन् ! नमस्कार हो अब मै देववंदना करूँगा । इस प्रकार कर्तव्य की प्रतिज्ञा करके पर्यंकासन से बैठकर "सिद्धं सम्पूर्ण भव्यार्थं" इत्यादि से प्रारम्भ कर "खम्मामि सव्वजीवाणं" इत्यादि सूत्रपाठों द्वारा साम्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं पुनः वंदना क्रिया का विज्ञापन करते हैं अर्थात् "पौर्वाह्णिकदेववंदनायां पूर्वा—–चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसा बोलकर विज्ञापना करके खड़े होकर भूमिस्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करते हैं । पश्चात् चार अंगुल प्रमाण पैरों में अन्तर रखकर खड़े होकर मुक्ताशुक्तिमुद्रा बनाकर तीन आवर्त और शिरोनति करके "णमो अरिहंताणं" इत्यादि सामायिकदंडक का पाठ करके तीन आवर्त और एक शिरोनति करके जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग (६ बार णमोकार मंत्र का जाप्य २७ उच्छ्वास में) करते हैं । पुनः पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर पूर्ववत् मुक्ताशुक्ति मुद्रा से तीन आवर्त एक शिरोनति करके "थोस्सामि हं जिणवरे" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति करते हैं । पश्चात्

वंदना मुद्रा बनाकर "जयतु भगवान् हेमांभोज:" इत्यादि चैत्यभक्ति बोलते हुए जिनेन्द्र भगवान् की तीन प्रदक्षिणा दे लेते हैं। पुनः बैठकर "इच्छामि भंते! चेइयभत्ति ...." आदि चैत्यभक्ति की आलोचना करते हैं। अनन्तर "पौर्वाह्लिक देववंदनायां पंचमहागुरु-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी विज्ञापना करके उठकर पंचांग नमस्कार करके पूर्ववत् सामायिक दंडक कायोत्सर्ग थोस्सामिस्तव पढ़कर वंदना मुद्रा से "प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः। शास्त्राभ्यासो" इत्यादि लघुसामाधिभक्ति पढ़कर बैठकर "इच्छामि भंते! समाहि-भत्तिं" इत्यादि आलोचना करते हैं। अनन्तर यथावकाश आत्मध्यान करते हैं।

पुनः सभी साधु मिलकर लघुसिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य की वंदना करते हैं। कहा भी है। प्रातःकाल देववंदना रूप प्राभातिक अनुष्ठान के अनन्तर साधुजन विधिवत् आचार्य आदि की वंदना करते हैं। मध्यान्ह काल में देववंदना के बाद करते हैं और सायंकाल में प्रतिक्रमण के बाद करते हैं। यह त्रिकाल गुरुवंदना है।

श्री समंतभद्रस्वामी ने सामायिक प्रतिमा का लक्षण करते हुए कहा है—

चतुरावर्तत्रितयश्चतु.प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषधस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसध्यमभिवन्दी॥

यथाजात मुद्राधारी अर्थात् सामायिक करते समय दिगम्बर मुद्रा धारण कर बार बार तीन-तीन आवर्त ऐसे बाहर आवर्त, चार प्रणाम अर्थात् चार शिरोनति, दो आसन अर्थात् दो बार साष्टांग नमस्कार करते हुये मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक तीनों संध्याओं में सामायिक करे। इसकी टीका में श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने यही स्पष्ट किया है कि प्रत्येक भक्ति पाठ के कायोत्सर्ग में यह बारह आवर्त, चार शिरोनति तथा दो नमस्कार किये जाते हैं। जैसा कि पहले "देववंदना प्रयोग विधि" में बतलाया गया है।

श्रावक या मुनि दोनों के लिये देववंदना (सामायिक) में चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति का तो विधान है ही है। वैसे श्रावकों के लिये सामायिक देवपूजा से सम्बन्धित मानी गई है। उसमें चार भक्ति का विधान है सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति और शांति भक्ति। प्रत्येक क्रिया के अन्त में समाधि भक्ति तो करनी ही पड़ती है जिसका उल्लेख भक्तियों की गणना में नहीं किया जाता है। यथा—

"अहिंसेयवंदना सिद्धचेदियपंचगुरुसतिभत्तीहिं"।[1]

1. अनगार धर्मामृत अध्याय 9।

अभिषेक वंदना सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांति भक्ति पूर्वक करना चाहिये।
भावसंग्रह में भी लिखा हुआ है—

सामायिक प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति।
श्रावको हि जिनेंद्रस्य जिनपूजापुरस्सरम्॥

प्रतिदिन तीनों कालों में श्रावक जिनेंद्रदेव की पूजा पूर्वक सामायिक करे।
इसी बात को श्री पूज्यपाद आचार्य ने भी कहा है—

"कृत्वाहं सिद्धभक्तिं बुध्रनुतसकलीसत्क्रियां चादरेण।
निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिरपि ....
चैत्यभक्त्यादिभिश्च।
स्तुत्वा श्रीशांतिमत्रं ....॥"

जिनेन्द्र भगवान् के मंदिर में प्रवेश कर प्रदक्षिणा आदि करके ईर्यापथ शुद्धि पढ़कर शुद्धि करना पुनः सिद्धभक्ति पढ़कर सकली करण आदि पुराकर्म करके जिनेंद्रदेव की प्रतिमा का विधिवत् अभिषेक करके अष्ट द्रव्य से पूजा करना अनंतर जाप्य आदि करके चैत्य भक्ति, पंचगुरु और शांति भक्ति करके और भी विधि करके विसर्जन करना यही पूजा विधि है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि विधिवत् अभिषेक पूर्वक देवपूजा करते हुये सामायिक विधि संपन्न करनी चाहिये। यदि नहीं हो सकती है तो चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति पढ़कर सामायिक करनी चाहिये।

सामायिक के समय स्थान आदि कैसे हों? तथा उस समय क्या चिंतवन करना, सो श्री समन्तभद्र स्वामी के अभिप्रायानुसार देखिये—

सामायिक हेतु समय निश्चित, करके पांचों ही पापों का।
मन वचन काय कृत कारित औ, अनुमति से त्याग करें सबका॥
बस उसी काल मे सामायिक, शिक्षाव्रत होता श्रावक को।
श्री गणधर आदि महामुनिगण, प्रतिपादन करते हैं भवि को॥

सामायिक के लिये समय निश्चित करके पांचों ही पापों का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देने से उसी काल में श्रावक के सामायिक शिक्षाव्रत होता है। ऐसा श्री गणधर देव कहते हैं।

सामायिक के समय योग्य स्थान कौन-कौन हैं ?

व्याक्षेप रहित एकान्त शुद्ध, स्थानों में या जगल में।
घर में या चैत्यालय मे भी, या पर्वत गुफा मसानों में ।।
मन को प्रसन्न करके नित ही, सामायिक विधि करनी चाहिए।
श्री चैत्य पचगुरु भक्ति पाठ, कृतिकर्म विधि करनी चाहिए ।।६६।।

आकुलता उत्पादक रहित, शुद्ध एकान्त स्थान में या वन में, घर में, चैत्यालय में या पर्वत पर, गुफा में, श्मशान में जहाँ कहीं भी चित्त को प्रसन्न करके नित्य ही सामायिक करना चाहिये। इसमें चैत्य-पंचगुरु भक्ति पाठ सहित कृतिकर्म विधिपूर्वक क्रिया करनी चाहिये।

यदि श्रावक अव्रती है तो भी उसे व्रत के दिन सामायिक अवश्य करना चाहिये, सो ही कहते है—

सब काय वचन की चेष्टा औ, मन का कालुष्य दूर करके।
सकल्प विकल्प अनेकों विध, जैसे हो उन्हें रोक करके ।।
उपवास दिवस या एकाशन, मे निश्चित सामायिक करिये।
व्रत के दिन में सामायिक कर, नानाविधि पाप दोष हरिये ।।१००।।

वचन और काय की क्रिया तथा मन की कलुषता को दूर करके, सभी संकल्प विकल्पों को भी रोक करके उपवास के दिन अथवा एकाशन के दिन सामायिक अवश्य करना चाहिये।

वैसे प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन सामायिक करना उचित है—

प्रतिदिन आलस्य छोड़ करके, एकाग्रचित्त भी हो करके।
शास्त्रोक्तविधि के अनुसार सामायिक करिये रुचि धरके ।।
पांचों व्रत की पूर्ति हेतु, यह सामायिक व्रत माना है।
जो इस व्रत को पालन करते, उनने निज को पहचाना है ।।१०१।।

श्रावक का कर्तव्य है प्रतिदिन भी आलस्य छोड़कर एकाग्रचित्त होकर शास्त्रकथित विधि के अनुसार रुचि से सामायिक करे। यह सामायिक व्रत पांचों महाव्रतों को पूर्ण करने में हेतु है। जो व्रत का पालन करते हैं वे अपनी आत्मा को पहचान लेते हैं।

सामायिक के समय श्रावक मुनि तुल्य हो जाता है—

सामायिक के शुभ अवसर में, जो श्रावक उभय वस्त्र रखते।
आरम्भ परिग्रह शेष सभी, तज करके सामायिक करते॥
जैसे मुनि के उपसर्ग काल में, वस्त्र पड़ा उस तरह कहो।
यद्यपि वह है गृहस्थ तो भी, मुनिरूप हुआ उस समय अहो॥१०२॥

जो श्रावक सामायिक के समय दो वस्त्र (धोती दुपट्टा) मात्र रख कर शेष परिग्रह और सर्व आरम्भ को छोड़कर सामायिक करते हैं, वे "जैसे मुनि के ऊपर उपसर्ग करते हुए कोई वस्त्र डाल दे" उनके समान है। यद्यपि वे गृहस्थ है तो भी उस समय वे मुनि के समान हैं, ऐसा कहा है। यह तभी संभव है जबकि वह एकाग्रचित्त होकर सामायिक कर रहा है। वैसे यह औपचारिक कथन है क्योंकि उस श्रावक का गुणस्थान पांचवां ही रहेगा छठा नहीं हो सकता है।

श्रावक को भी सामायिक के समय परिषह और उपसर्ग सहन करनाच ाहिये—

श्रावक जिस समय मौन धर के, निश्चल सामायिक क्रिया करे।
उस समय शीत उष्णादि दश, मशकादि परीषह सहन करे॥
सुर नर तिर्यंचों द्वारा कृत, उपसर्ग भले ही आ जावे।
मन वचन काय को वश मे कर, सब सहन करें निज सुख पावे॥१०३॥

श्रावक जब मौन होकर निश्चल शरीर करके सामायिक करते हैं, उस समय उन्हें शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि की परीषह भी सहन करना चाहिये। यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा किये गये उपसर्ग आ जावें तो उन्हें भी सहन करना चाहिये और मन वचन काय को वश में रखना चाहिये।

सामायिक के समय क्या चिंतन करना सो बताते हैं—

यह जग अशरण औ अशुभरूप, क्षणभंगुर और दुःखमय ही ।
यह पर है आत्मरूप नहिं है, इसमें मै रहता हूँ नित ही ।।
विपरीत शरण शुभमय, मैं नित्य सौख्य स्वात्मीयरूप ।
सामायिक में ऐसा ध्यावो, क्योंकि यह आत्मा शुद्धरूप ।।१०४।।

यह संसार शरण रहित होने से अशरण है, अशुभ है, क्षण भंगुर है और दुःखरूप है, पर है, आत्मरूप नहीं है । मैं ऐसे संसार में निवास कर रहा हूँ । मोक्ष इससे विपरीत है, शरण भूत है, शुभ है, शाश्वत है, सुखरूप है और स्वात्मरूप है । सामायिक के समय ऐसा चिंतवन करना चाहिये क्योंकि शुद्धनय से यह आत्मा शुद्ध स्वरूप है ।

इस प्रकार से सामायिक शिक्षाव्रत का उपदेश दिया है । प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन प्रातः एक बार अथवा प्रातः और सायं ऐसे दो बार या मध्यान्ह में भी करने से तीन बार सामायिक करना चाहिये । दो प्रतिमाधारी के लिये दो बार सामायिक अनिवार्य है मध्यान्ह में करे या न करे, चल सकता है । किन्तु तृतीय सामायिक प्रतिमाधारी को त्रिकाल सामायिक करना ही चाहिये ।

प्रोषधोपवास व्रत—

सामायिक शिक्षाव्रत के बाद "विदिए पोसहोवासयं" इस प्रकार से द्वितीय शिक्षाव्रत का नाम प्रोषधोपवास है । श्री गौतमस्वामी स्वयं श्रावक प्रतिक्रमण में चतुर्थ-प्रतिमा[1] का वर्णन करते समय कहते हैं—

"उत्तममज्झजहण्ण तिविह पोसहविहाणमुछिट्ठ ।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्व ।।"

प्रोषधविधान के तीन प्रकार माने गये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य । प्रत्येक मास के चारों पर्वों में अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें करना चाहिये ।

श्री समंतभद्रस्वामी भी प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का लक्षण करते हुये कहते हैं, उसका हिन्दी पद्यानुवाद देखिये—

1. यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का द्वितीय भेद है और ग्यारह प्रतिमाओं में चतुर्थ प्रतिमारूप है ।

अष्टमी चतुर्दशि पर्वों में, अपने अंतर की इच्छा से।
चारों प्रकार आहार त्याग, कर देना जिनवचशिक्षा से॥
यह है प्रोषध उपवास नाम, शिक्षाव्रत तप को सिखलावे।
जो इसका पालन करते हैं, वे तनु से निर्मम बन जावें॥१०६॥

प्रत्येक माह की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी को अपनी इच्छा से आगम के अनुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत है। यह शिक्षाव्रत इसलिये हैं कि तप करने की शिक्षा देता है। इस व्रत के धारी शरीर से निर्मम हो जाते हैं।

उपवास के दिन त्याज्य कार्य—

जिस दिन उपवास करो उस दिन, पांचों पापों का त्याग करो,
आरंभ गंध माला आदिक, सब अलंकार का त्याग करो।
स्नान और अंजन मंजन, नस्यादि क्रियाओं को तजिये,
तन से ममत्व परिहार हेतु, वैराग्यभाव को आचरिये॥१०७॥

जिस दिन उपवास हो उस दिन पांचों पापों का त्याग करके आरंभ, गंध, माला, अलंकार, स्नान, अंजन, मंजन, नस्य आदि क्रियाओं का त्याग कर देना चाहिये। उस दिन शरीर से ममत्व दूर करने हेतु वैराग्यभाव को धारण करना चाहिये।

भावार्थ—**उपवास के दिन स्नान आदि त्याग करने का विधान उनके लिये है कि जो जिनमंदिर या एकांत स्थान आदि पर रहकर २-३ दिन तक लगातार स्वाध्याय ध्यान आदि ही किया करते है परन्तु जो घर में रहकर गृहस्थाश्रम के कार्यों का त्याग नहीं कर सकते उनका कर्तव्य है कि वे व्रत के दिन दान-पूजन अवश्य करें तथा दान-पूजन आदि के लिये स्नान करना आवश्यक है यह बात ध्यान रखना चाहिये।**

उपवास के दिन करने योग्य कार्य—

उपवास दिवस आलस्य रहित, होकर शास्त्रों का पठन करे।
उत्कण्ठित हो धर्मामृत को, निजकर्णों से भी पान करे॥
पर को भी धर्म सुधारस का, उस दिन वह पान करा देवे।
बस ज्ञान ध्यान मे तत्पर हो, उपवास सफल निज कर लेवे॥१०८॥

उपवास दिवस आलस्य रहित होकर शास्त्रों का स्वाध्याय करे । अति उत्कंठा से धर्मरूपी अमृत को स्वयं पीवे अर्थात् धर्म का श्रवण करे और अन्यों को भी धर्म श्रवण करावे । इस प्रकार वह श्रावक ज्ञान और ध्यान में तत्पर होता हुआ अपने उपवास को सफल कर लेवे ।

प्रोषध और उपवास का लक्षण—

जब अशन खाद्य औ लेह्य पेय, चउविध अहार का त्याग करे ।
उपवास यही औ एक बार, भोजन प्रोषध यह नाम धरे ।।
तेरस-पूनो एकाशन कर, चौदस का जब उपवास करे ।
तब होता प्रोषधोपवासी, ऐसी विधि अष्टमि को भि करे ।।१०६।।

अशन, खाद्य, लेह्य और पेय आहार के ये चार भेद हैं । इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है । और दिन में एक बार शुद्ध भोजन करना 'प्रोषध' है । विशेष यह है कि—तेरस को एकाशन करके चौदश को उपवास करना, पुनः पूनों को एकाशन करना यह प्रोषधोपवास कहलाता है । ऐसे ही सप्तमी को एकाशन, अष्टमी को उपवास पुनः नवमी को एकाशन करना यह प्रोषधोपवास का लक्षण है । इन व्रतों में एकाशन के दिन दूसरी बार जल ग्रहण करना भी वर्जित है । चूंकि सबसे जघन्य विधि एक बार भोजन है ।

यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा देता है अतएव इसका शिक्षाव्रत नाम सार्थक है । मुनि तो सदा ही एक भक्त-दिन में एक बार भोजन करते हैं अतः जो गृहस्थ इस प्रकार से प्रोषधव्रत किया करते हैं उन्हें एकाशन का अभ्यास हो जाने से मुनिपद में एक बार आहार लेने से कष्ट नहीं महसूस होता है और न उन्हें भूख प्यास की बाधा ही सताती है । वैसे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रत्येक महीने में कम से कम चार बार उपवास या एकाशन उचित ही है । इससे पाचन शक्ति अच्छी रहती है, अपच, वातप्रकोप, कफ आदि दोष भी शांत हो जाते हैं । इसलिये प्रत्येक गृहस्थ के लिये चाहे महिला हो या पुरुष, नवयुवक हो या नवयुवती, बालक हो या बालिकायें उन सबके लिये भी यह शिक्षाव्रत उपयोगी है । उपवास और एकाशन का अभ्यास जीवन में बहुत ही आवश्यक है । प्रसंगोपात्त धर्म की रक्षा के लिये उपवास का अवसर आ जावे तो

कायरता नहीं होती है। सती सीता ने रावण के यहाँ नियम कर लिया कि 'जब तक मैं श्री रामचन्द्र का समाचार नहीं सुनूंगी तब तक के लिये मेरे चतुराहार का त्याग है।' ऐसे अवसर पर उनके ग्यारह उपवास हो गये उसके बाद हनुमान के द्वारा रामचन्द्र का समाचार विदित होने पर सीता ने अन्न जल ग्रहण किया था। यदि उन्होंने बचपन में या जीवन में कभी भी उपवास न किया होता तो इतना बड़ा धैर्य कैसे कर पातीं इसी प्रकार से सल्लेखना की सिद्धि के लिये भी जीवन में उपवास आदि का अभ्यास बहुत ही आवश्यक है।

कहने का अभिप्राय यही है कि यदि आप लोग महीने में चार व्रत नहीं कर सकते तो कम से कम इस द्वितीय शिक्षाव्रत के अभ्यास के लिये ही पहले महीने में एक उपवास करने का नियम अवश्य बना लो। इन चार पर्वों में से किसी पर्व में अथवा णमोकार मंत्र व्रत, जिनगुणसंपत्तिव्रत आदि कोई व्रत लेकर के ही कुछ न कुछ उपवास या एकाशन को करते रहो यह स्वास्थ्य, धन, सल्लेखना, परलोक और कर्मनिर्जरा के लिये बहुत ही गुणकारी है।

श्री गौतमस्वामी के शब्दों में 'तदिए अतिथि संविभागो' तीसरा शिक्षाव्रत अतिथि संविभाग नाम का है। श्री कुंदकुंद देव ने भी चारित्र पाहुड़ में अतिथि संविभाग को तीसरा शिक्षाव्रत ही कहा है। अन्यत्र ग्रन्थों में आचार्यों ने इसे चौथे शिक्षाव्रत में लिया है। श्री समंतभद्र स्वामी ने तो चौथे शिक्षाव्रत को 'वैयावृत्य' नाम दिया है और उसके लक्षण में मुनियों को चार विध दान देने का भी वर्णन किया है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने अतिथि संविभाग का लक्षण करते हुये कहा है—

'दाता के गुण युक्त गृहस्थ को दिगम्बर अतिथि के लिये स्व तथा पर के अनुग्रह हेतु विशेष द्रव्य-देने योग्य वस्तु का विधिपूर्वक भाग अवश्य ही करना चाहिये[1]।'

श्री समंतभद्रस्वामी भी वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत का लक्षण करते हुये कहते हैं[2]—

गुण निधी तपोधन मुनियों को, बस स्वपर धर्म की वृद्धि हेतु।
जो दान दिया जाता वह ही, है वैयावृत्य महाविशेष ॥
यश मंत्र प्रती उपकार आदि, से अनपेक्षित हो भक्ती से।
निज शक्ति विभव के अनुसार, उपकार करे गुरु भक्ती से ॥१११॥

1. श्लोक १६७ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।
2. मूल श्लोकों का पद्यानुवाद यहाँ दिया गया है।

गुणों के निधान और तपरूपी धन के धारक ऐसे मुनियों को स्वपर धर्म की वृद्धि हेतु जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्य है। यश मंत्र आदि प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना ही जो गृहत्यागी मुनियों का अपने वैभव व शक्ति के अनुसार उपकार किया जाना वह सब वैयावृत्य है।

पुनः कहते हैं—

मुनि के गुण मे अनुरागी बन, उनके दु.खों को दूर करे।
पद संवाहन मर्दन आदि, औ अन्य सभी उपचार करे॥
इस विधि से मुनी आर्यिकादी, संयमियो की वैयावृत्ती।
यह चौथा शिक्षाव्रत माना, इससे होती सुख सपत्ती॥११२॥

मुनियों के गुणों में अनुराग करते हुये उनके दुःखों को दूर करना, उनके पैर दबाना, तैल मालिश करना आदि यथायोग्य अन्य भी उपचार करना सब वैयावृत्य है। इस प्रकार से मुनि, आर्यिका आदि संयमी साधु-साध्वियों की वैयावृत्ति यह चौथा शिक्षाव्रत है इससे श्रावक को सुख और संपत्ति की प्राप्ति होती है।

अब दान देने की विधि बताते हैं—

पडगाहन उच्चस्थान पाद—प्रक्षालन पूजन नमस्कार।
मन वचन काय शुद्धी भोजन, शुद्धी ये नवधा भक्तिसार॥
जो सात गुणों से युत श्रावक, रुचि से नवधाभक्ती पूर्वक।
देते संयमियों को अहार, उसको ही दान कहे गणभृत्॥११३॥

पड़गाहन करना, उच्च आसन पर बिठाना, चरण प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की शुद्धि बोलना, इन नव प्रकार से नवधा भक्ति कहलाती है। श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान (विवेक), क्षमा निर्लोभता और सत्त्व ये सात गुण दाता के माने गये हैं। इन सात गुणों से युक्त श्रावक मुनियों को नवधा भक्ति पूर्वक जो आहार दान देते हैं उसी का नाम दान है। यहाँ पर श्री समंतभद्र स्वामी ने वैयावृत्य में आहार दान का लक्षण मुख्य रूप से लिया है।

पुनः इस दान का क्या फल है ? सो कहते हैं—

गृह कर्म रूप अग्नीज्वालन, आदिक 'सूना' जो पाँच कहे ।
उनके करने से पापों का, संचय होता दिन रात रहे ।।
गृहत्यागी अतिथि के आहार, से सर्व पाप धुल जाते हैं ।
जिस तरह रुधिर से मलिन वस्त्र, जल से धो स्वच्छ बनाते है ।।११४।।

अग्नि जलाना, जल भरना, कूटना, पीसना और बुहारी लगाना ये पांच कार्य 'सूना' शब्द से कहे जाते हैं चूंकि इनमें हिंसा अवश्यम्भावी है । प्रत्येक गृहस्थ को इन पाँच सूना को करना ही पड़ता है । और इससे दिन रात ही पाप कर्मों का संचय होता ही रहता है । वह सब पाप गृहत्यागी संयमी को आहार देने से नष्ट हो जाता है । जैसे रुधिर से गंदा हुआ वस्त्र जल से धुलकर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही गृहस्थ भी गृहस्थी के आरम्भ से संचित पाप कर्म को आहार दान से धो डालता है, इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है चूंकि यह श्री समंतभद्र स्वामी के वाक्य हैं ।

अब स्वामी जी स्वयं ही भक्ति पूजा आदि के पृथक्-पृथक् फल को बतलाते हुये कहते हैं—

सयमियों को करते प्रणाम, वे उच्चगोत्र को पाते हैं ।
जो देते दान भोग पाते, सेवा से पूजा पाते हैं ।।
भक्ती से सुदर रूप, मिले स्तुति प्रशसा से कीर्ती ।
गुरु की उपासना से इस विध, हो जाती सब सुख सपत्ती ।।११५।।

तपोनिधि मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र में जन्म होता है, उनको दान देने से भोग मिलते है, उनकी उपासना करने से पूजा होती है, उनकी भक्ति करने से सुंदर रूप मिलता है, और उनकी स्तुति करने से कीर्ति बढ़ती है । इस तरह गुरुओं की भक्ति, पूजा, उपासना आदि से सब सुख संपत्तियाँ प्राप्त हो जाती है ।

अल्पदान से भी महाफल होता है उसको उदाहरण देकर समझाते हैं—

अच्छी उपजाऊ भूमी में, वह बीज बड़ा सा वृक्ष बने ।
निज काल पाय भारी छाया, देता औ फल दे मिष्ट घने ।।
वैसे ही उत्तम पात्रो में, विधिवत् जो दान अल्प भी दे ।
वह समय पाय बहु फल देता, इच्छानुकूल सब वैभव दे ।।११६।।

बढ़िया उपजाऊ जमीन में बोया गया छोटा सा भी बड़ का बीज एक दिन बहुत बड़ा वृक्ष बन जाता है। समय पर बहुत से लोगों को बहुत बड़ी छाया देता है और मीठे-मीठे फल भी खिलाता है। वैसे ही जो विधिवत् उत्तम पात्रों में यदि थोड़ा सा भी आहार-दान देते हैं तो वह उनका दान समय के आने पर बहुत बड़ा फल देता है तथा इच्छा के अनुसार सभी प्रकार के वैभव प्रदान करता है।

इस प्रकार श्री समंतभद्रस्वामी ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावकों के व्रतों में वैयावृत्य का वर्णन करते हुये उसमें साधुओं को आहार दान देने की विधि और फल पर प्रकाश डाला है जो कि सम्यग्दृष्टि श्रावक के लिये अतीव उपयोगी है, कर्तव्य है। ऐसा समझना।

अतिथिसंविभाग या वैयावृत्य—

वैयावृत्य के भेदों का वर्णन करते हुए श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं—

आहारदान औषधीदान, उपकरणदान आवासदान।
वैयावृत्ती के चार भेद, से कहलाते ये चार दान॥
प्रासुक भोजन औषधियो, से श्रावकजन मुनि को स्वस्थ करे।
पिच्छी शास्त्रादिक दे उनको, वसती दे निज को धन्य करे॥११७॥

आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और वसतिकादान ये वैयावृत्य के चार भेद यहाँ माने गये हैं। श्रावक मुनि आदि साधुओं को प्रासुकभोजन और शुद्ध औषधि देकर उनको स्वस्थ रखने में सहयोगी बने। उन्हें पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र आदि संयम, शौच तथा ज्ञान के उपकरण देकर एवं ठहरने के लिये वसतिका आदि स्थान देकर अपने जीवन को धन्य कर लेवे।

श्री पूज्यपादस्वामी भी 'सर्वार्थसिद्धि 'नामक ग्रन्थ में अतिथिसंविभागव्रत का लक्षण इसी प्रकार से कर रहे हैं—

'अतिथि के लिये जो सम्यक् प्रकार से विभाग किया जाता है। वह अतिथि संविभाग है। वह आहार, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय—आवास के भेद से चार प्रकार का है[1]।'

---

1. 'अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः—भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्।' सर्वार्थसिद्धि अ० ७, सू० २१।

श्रीसमंतभद्रस्वामी इन चार दानों में ख्यातिप्राप्त के नाम उल्लेख करते हुये कहते हैं—

श्रीषेण नृपति आहार दान, के फल से शांति जिनेश हुये।
दे औषधिदान वृषभसेना, तनु जल से पर दुख दूर किये॥
कौण्डेश शास्त्र देकर मुनि को, श्रुतज्ञान पूर्ण कर ख्यात हुआ।
शूकर मुनि को दे अभयदान, यश पूर्वक सुर पद प्राप्त किया॥१८॥

इन चारों की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—रत्नपुर के राजा श्रीषेण के सिंहनन्दिता और अनिंदिता नाम की दो रानियां थीं। इनके इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन ऐसे दो पुत्र थे।

किसी दिन राजा ने आदित्य गति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनियों को आहार दान देकर पंचाश्चर्यवृष्टि प्राप्त की तथा दान के प्रभाव से उत्तर कुरु भोगभूमि की आयु बाँध ली। कालांतर में अपने पुत्रों के आपसी झगड़े में राजा ने दुःखी होकर विष पुष्प सूंघकर अपना अपघात मरण कर लिया। फिर भी आहार दान के प्रभाव से वे उत्तम भोग भूमि में आर्य हो गये। ये ही श्रीषेण आगे चलकर सोलहवें तीर्थंकर और पाँचवे चक्रवर्ती ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान हुये हैं।

एक मुनिदत्त योगिराज के ऊपर एक नौकरानी ने कचरा डाल दिया। पुनः राजा के द्वारा उनकी विनय और सेवा की जाने पर नौकरानी नागश्री ने भी पश्चात्ताप करके उन मुनिराज के शरीर में घाव आदि पर औषधि लगाकर भरपूर सेवा की। अन्त में मर कर वह एक सेठ की पुत्री वृषभसेना हुई। इसके स्नान किये जल से सभी के बड़े से बड़े कुष्ट रोग आदि नष्ट हो जाते थे यह पूर्वजन्म में किये गये औषधि दान का ही प्रभाव था। इस पुण्य से यह राजा की पट्टरानी हो गई और शील के माहात्म्य से देवों द्वारा भी पूजा को प्राप्त हुई है।

कुरुमरी गाँव के एक ग्वाले ने वृक्ष की कोटर में एक जैन ग्रन्थ देखा उसे घर लाकर उसकी पूजा करता रहा अनंतर उस ग्रन्थ को एक मुनिराज को दान कर दिया। मर कर वह एक चौधरी का पुत्र हुआ, उन्हीं मुनि से बोध प्राप्त कर मुनि हो गया।

कालांतर में वही जीव राजा कौंडेश होकर मुनि दीक्षा ग्रहण कर द्वादशांग का पारगामी हो गया है।

जंगल की गुफा में मुनिराज विराजमान थे। एक व्याघ्र उन्हें खाने को दौड़ा तो एक जंगली सुअर ने मुनि रक्षा के भाव से व्याघ्र से युद्ध शुरू कर दिया, गुफा के बाहर दोनों ही लहूलुहान होकर मर गये। भक्षण के भाव से व्याघ्र नरक गया और पूर्वजन्म में मुनि को धर्मशाला में ठहराने के संस्कार से तथा तत्काल में मुनि रक्षा के भाव से सूकर मर कर स्वर्ग में चला गया! इन कथाओं का विस्तार आराधना कथाकोश से पढ़ना चाहिये।

ये एक-एक दान भी जीवों की उन्नति के लिये कारण हैं और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले हैं पुनः जो श्रावक धन से सम्पन्न है उनका कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन मुनि, आर्यिकाओं को आहार आदि दान देकर अपने गृहस्थाश्रम को सफल कर लेवे। इन चारों दानों में भी आहारदान ऐसा महत्त्वशाली है कि जिसके देने पर देवगण भी पंचाश्चर्य वृष्टि करने लगते हैं ऐसा समझकर आहारदान देने में सदा ही आदर भाव रखना चाहिये।

श्री समंतभद्रस्वामी इसी वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत में अर्हंत देव की पूजा को कहते हैं—

देवाधिदेव अर्हंतों के, चरणों की पूजा करने से।
सपूर्ण दुःख स्वयमेव नशें, इच्छित फल आप स्वयं फलते॥
सब विषयवासना की इच्छा, को नष्ट करे अर्हत्पूजा।
आदर से नित करिये पूजा, नहिं इस सम अन्य कार्य दूजा॥११८॥

देवाधिदेव श्री अर्हंतदेव के चरणों की पूजा करने से संपूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं और मनवांछित फल स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। यह पूजा संपूर्ण विषय वासनाओं की इच्छाओं का भी शमन करने वाली है। इसलिये आदर पूर्वक नित्य ही जिनपूजा करनी चाहिये क्योंकि इसके सदृश अन्य कोई दूसरा उत्तम कार्य नहीं है।

जिनपूजन के माहात्म्य को बतलाते हुये कहते हैं—

मेंढक प्रमोद से मुदितमना, बस एक पुष्प को ले करके।
जिनवर की पूजा हेतु चला, जब राजगृही में भक्ती से॥
हाथी के पैर तले दबकर, तत्क्षण ही सुरपद को पाया।
अर्हंत चरण की पूजा का, माहात्म्य सभी को दिखलाया॥१२०॥

राजगृही में भगवान् महावीर के समवसरण के आने पर सभी जनों को दर्शन करने के लिये जाते देख एक मेढक भी जिनभक्ति से एक कमल की पांखुड़ी को मुख में दबा कर चल पड़ा। मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले दबकर मर गया। जिनपूजा की भावना से मरा हुआ वह मेढक का जीव तत्क्षण ही देव हो गया और राजा श्रेणिक के पहले ही समवसरण में पहुँचकर भगवान् महावीर का दर्शन करके उनकी भक्ति में नाचने लगा।

इस प्रकार से जब मेढक जिनपूजन की भावना मात्र से ही देवपद प्राप्त कर सकता है तब जो सदा ही भक्तिभाव से जिनेंद्रदेव के चरणों की पूजा करते है उन्हें क्या-क्या उत्तम फल नहीं मिलेंगे? अर्थात् सब कुछ अभ्युदय प्राप्त होंगे और परम्परा से निर्वाण पद भी मिलेगा, इसमें कोई संदेह नही है।

एक बार आचार्यश्री वीरसागर जी के सामने एक श्रावक ने प्रश्न किया कि हे गुरुदेव! श्रावक के बारहव्रतों में जिनपूजन का विधान तो नहीं है अतः व्रती श्रावक जिनपूजन नियम से करे ऐसा क्यों? इस पर आचार्यश्री ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रमाण सुनाया और कहा भाई! श्रावक के अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत में जिनपूजा करने का आदेश है अतः बारहव्रतों के अन्तर्गत जिनपूजा समाविष्ट है ऐसा निश्चित समझो।

किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में सामायिकव्रत में भी जिनपूजा का वर्णन किया गया है। भावसंग्रह ग्रन्थ में लिखा है—

'जिनपूजां विना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।'

अतः सामायिक शिक्षाव्रत में भी देवपूजा करने का विधान है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

सल्लेखना—

'चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेवाणि चत्तारि सिक्खावदाणि[1]।'

चौथे शिक्षाव्रत में अंत में सल्लेखना मरण करना कहा है। इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत है।

1. यति प्रतिक्रमण।

यहाँ पर श्री गौतमस्वामी ने शिक्षाव्रत में ही सल्लेखना मरण को लिया है। इसी प्रकार से श्री कुंदकुंददेव ने भी अपने चारित्रपाहुड़ ग्रन्थ में चौथे शिक्षाव्रत में ही सल्लेखना को लिया है।

इस सल्लेखना का लक्षण श्री पूज्यपादस्वामी ने इस प्रकार किया है—'सम्यक्काय-कषायलेखना सल्लेखना[1] ।'

भली प्रकार से काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना है।

सल्लेखना कब की जाती है ? और उसकी विधि क्या है ?

इस पर श्री समंतभद्रस्वामी ने अच्छा प्रकाश डाला है। यथा—

जिसका प्रतिकार न हो सकता, ऐसा उपसर्ग यदी आवे।
ऐसा अकाल पड़ जावे या, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे।।
अथवा हो रोग असाध्य कठिन, जिससे नहिं धर्म कि रक्षा है।
तब करिये सल्लेखना ग्रहण, जो धर्म हेतु तनु त्यजना है[2] ।।१२२।।

जिसको किसी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता ऐसा उपसर्ग यदि आ जावे, अथवा ऐसा अकाल पड़ जावे, या जर्जरित बुढ़ापा आ जावे, या कठिन असाध्य रोग हो जावे, ऐसे समय में धर्म की रक्षा के लिये जो शरीर का त्याग किया जाता है उसका नाम सल्लेखना है।

जीवन भर जो तप, व्रत और चारित्र आदि का पालन किया जाता है। उनको यदि अगले भव में अपने साथ ले जाना है तो मरण के काल में अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिये। जैसे किसी देश में कमाये धन की यदि कोई मनुष्य वहाँ से प्रस्थान करते समय याद न करे और किसी दूसरे को सौंप जावे, तो उसका वह धन प्रायः व्यर्थ ही जाता है, इसी प्रकार परलोक यात्रा के समय अर्थात् मरण के अन्त में यदि सल्लेखना न की जावे और परिणाम भ्रष्ट हो जावें, तो दुर्गति हो जाती है। इसलिये मरण के समय में सल्लेखना करना एक शिक्षाव्रत माना गया है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि अ० ७, सूत्र २२।
2. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहु. सल्लेखनामार्या. ।। १२२।।

सल्लेखना की विधि—

स्नेह वैर औ राग मोह, परिग्रह संपूर्ण छोड करके।
हो शुद्ध चित्त विधिवत् समाधि, से मरने की वाञ्छा करके ।।
प्रिय वचनो से तुम क्षमा करो, स्वजनों को औ परजन को भी।
सबसे भी क्षमा करा लेवो, जो कुछ अपराध हुये हो भी ।।१२४।।

समाधिमरण का इच्छुक श्रावक स्नेह, वैर, मोह और परिग्रह को छोड़ करके शुद्ध चित्त होते हुये प्रिय वचनों द्वारा अपने परिवार से व अन्य लोगों से भी क्षमा याचना करे तथा स्वयं भी सभी के अपराधों को क्षमा कर देवे।

सल्लेखना समय महाव्रत धारण कर उपदेश—

जो किया कराया अनुमोदा, ऐसे समस्त भी पापों की।
छल कपट रहित आलोचन विधि, करिये सबही निजदोषों की ।।
पुनरपि जीवनपर्यंत पांच, पापों का पूरण त्याग करो।
औ पंच महाव्रत धारण कर, निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त करो ।।१२५।।

अपने जीवन में जो पाप किये हैं, कराये हैं और उनकी अनुमोदना की है उन सभी पापों की मायाचार रहित सरल भावों से आलोचना करके जीवन भर के लिये पांचों पापों का पूर्णतया त्याग करके सल्लेखना के समय पाँच महाव्रत धारण कर मुनि बन जाना चाहिये। अभिप्राय यह है कि—श्रावक अपना अन्त समय समझ कर दिगम्बर मुनियों के संघ में जाकर आचार्य के समक्ष अपने जीवन भर किये हुये पापों की आलोचना करके गुरु के पादमूल में ही मुनिदीक्षा ले लेवे पुनः सल्लेखना करे, यह उत्तम विधि है। यदि कदाचित् संघ निकट में नहीं हैं और उतने ऊँचे भाव नहीं हैं अथवा मुनि बनने की शक्ति नहीं है तो घर में रहकर ही अथवा मंदिर आदि स्थानों पर जाकर अन्य धर्मात्मा श्रावकों की सहायता से जितना त्याग हो सके उतना कर लेना चाहिये।

सल्लेखना ग्रहण करके श्रावक को धर्मामृत का पान करना चाहिये—

स्नेह शोक भय अप्रीती, मन की कालुषता भी तज के।
निज बल उत्साह प्रगट करके, मन को प्रसन्न करिये श्रुति से ।।
यह जिन आगम ही अमृत है, जो अतिशय तृप्ती करता है।
पुष्टी तुष्टी करके पुनरपि, इस मृत्यु को भी हरता है ।।१२६।।

शोक, भय, स्नेह और अरति ये मन को कलुषित करने वाले हैं इनको छोड़कर तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके अमृत के समान जिनवाणी के श्रवण से अपने मन को प्रसन्न करना चाहिये। क्योंकि जिनवचन रूपी अमृत अतिशय तृप्ति, पुष्टि और तुष्टि देकर पुनः मृत्यु को भी नष्ट कर देता है।

भोजन के त्याग का क्रम—

अन्नादिक भोजन छोड़ प्रथम, दुग्धादिक पेय वस्तु पीना।
स्निग्ध पेय को छोड़ पुनः, बस छांछ, गर्मजल या पीना ।।
जब क्रम से त्याग किया जाता, तब आकुलता नहिं होती है।
नहि तन में पीड़ा कष्ट बढ़े, नहि व्याधि विषमता होती है ।।१२७।।

कांजी या छांछ गरमजल भी, तज करके यथा शक्ति पूर्वक।
उपवास करे भी जाप करे, बस महामंत्र की रुचि पूर्वक ।।
संपूर्ण यत्न कर णमोकार, मंत्रादिक को जपते जपते।
अंतिम क्षण में तन को छोड़े, प्रभु नाम मंत्र रटते रटते ।।१२८।।

जब श्रावक सल्लेखना ग्रहण कर लेता है तब शरीर को कृश करने के लिये क्रम-क्रम से भोजन आदि का त्याग करता जाता है। उसी क्रम को यहाँ बतलाया है। सबसे पहले अन्नादि रोटी, पूड़ी, भात, दाल आदि छोड़ देवे। और दूध, रस, ठंढई आदि पीने योग्य वस्तु रख लेवे। पुनः दूध आदि चिकने पदार्थ छोड़ देवे और दही की छांछ या गरमजल ग्रहण करता रहे। पुनः धीरे-धीरे इनको भी छोड़ देवे। यह सब त्याग, जैसे

शरीर में व्याधि न बढ़े और पीड़ा न होवे तथा मन में आकुलता न होकर शांति बनी रहे इसी तरह से करना चाहिये। अतः सल्लेखना के समय मुनिजन या अनुभवी, धर्मात्मा श्रावक का होना बहुत जरूरी है।

पुनः कांजी, तक्र या गरमजल को छोड़कर यथाशक्ति उपवास करना चाहिये। और संपूर्ण प्रयत्न से महामंत्र का जाप करते करते अन्तिम क्षण में शरीर को छोड़ते समय भी णमोकार मंत्र को पढ़ने या सुनने में उपयोग लगाये रहना चाहिये।

इस प्रकार सल्लेखना से मरण करने वाला श्रावक नियम से देवगति को प्राप्त करता है पुनः वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्य होकर पुनः श्रावक या मुनि बनकर देव-पद को प्राप्त कर लेता है। यह श्रावक अधिक से उधिक सात, आठ भव और कम से कम दो, तीन भव ग्रहण कर नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा श्री गौतमस्वामी का कथन है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है—

किसी का प्रश्न होता है कि अपने आप प्राणों का विसर्जन करने से आत्मघात हो जाता है? इस पर आचार्यों का समाधान यह है कि—

'प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है।' किंतु यहाँ प्रमाद का योग नहीं है। क्योंकि 'जो क्रोध आदि कषायों से ग्रसित होकर श्वास निरोध, जल, अग्नि, बिष, शस्त्र आदि से अपने प्राणों का घात करते है उनके निश्चित ही आत्मघात होता है[1]।'

जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभ के वश अथवा इष्ट वियोग के शोक से व्यथित या आगामी निदान के वश या किसी अपमान आदि से खिन्न होकर अग्नि में जलकर या कुंये आदि में डूबकर मर जाते है उन्हें आत्मघात का दोष लगता है। जैसे—पति के पीछे सती होना, हिमालय में गलना, काशी करवत लेनी आदि। किन्तु सन्यास पूर्वक मरण करने वालों को आत्मघात का दोष नहीं लगता।

---

1. यो हि कषायाविष्टः कुंभकजलधूमकेतुविशस्त्रैः।
   व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

किसी उपसर्ग, संकट या एक्सीडेंट आदि के प्रसंग पर जब शरीर के बचने में संदेह दिखता हो तब मर्यादा पूर्वक प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि "यदि मैं इस उपसर्ग या संकट से बचूंगा तो पुनः अन्न जल ग्रहण करूंगा अन्यथा जीवन भर के लिये चतुराहार का त्याग है।" ऐसी प्रतिज्ञा करने पर नियम सल्लेखना कहलाती है और जब शरीर के बचने की सर्वथा आशा न हो तब धर्माराधन पूर्वक विधिवत् उसे छोड़ देना यम सल्लेखना है।

जो जीव धर्म की रक्षा के लिये शरीर से निर्मम होकर उसको छोड़ देते हैं वे आत्मघाती नहीं हैं। प्रत्युत जो देश और राष्ट्र की रक्षा के लिये भी अपने प्राणों को छोड़ देते हैं उनका भी मरण वीरमरण कहलाता है। जैसे जो सन्यास विधि से मरण करता है, उनके परिवार वालों को सूतक (पातक) नहीं लगता है वैसे देश, राष्ट्र व मातृभूमि के लिये बलिदान हुये व्यक्तियों के परिवार जनों को भी पातक नहीं लगता है ऐसा शास्त्रों में कथन है। इस प्रकार सल्लेखना का महत्त्व अचिन्त्य है।

ये बारहव्रत धर्म हैं—

"पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरिसिणा सावयाणं सावियाणं खुड्ढयाणं खुड्ढियाणं कारणेण... बारहविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।"

हे आयुष्मन्तों भव्यों! प्रथम ही मैंने सुना है। यहाँ भरतक्षेत्र के आर्यखंड में महाकाश्यपगोत्री, सर्वज्ञज्ञानी, सर्वलोकदर्शी, श्रमण, भगवान् महति महावीर ने श्रावक-श्राविकाओं और क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के लिये पंच अणुव्रत आदि बारहविध गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

उसी के अंतर्गत.......

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठ्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ॥

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थ-धम्ममणुपालपालइत्ता ।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते य ।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ।।

सब ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म है। इनका पालन करते हुये श्रावक क्रम से ग्यारह स्थानों को प्राप्त करते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभक्त त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ निवृत्ति, परिग्रह विरति, अनुमति त्याग और उछिष्ट त्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान है।

श्री गौतमस्वामी ने यहाँ इन बारहव्रतों को गृहस्थ का धर्म कहा है। क्योंकि 'उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः।' जो उत्तम सुख में पहुँचावे वही धर्म है।

तथा जो ग्यारह स्थान बताये हैं, इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से दर्शन प्रतिमा से लेकर रात्रिभक्त त्याग प्रतिमा तक–छह प्रतिमा तक के व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक गृहस्थ हैं, इन्हें जघन्य श्रावक संज्ञा है। ब्रह्मचर्य व्रत से लेकर परिग्रह विरति तक मध्य के तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो क्षुल्लक-ऐलक ही होते हैं।

आगे श्री गौतमस्वामी कहते हैं—

महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो ।
पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहि सिक्खावएहि संपुण्णो ।।

मधु, मांस, मद्य, जुआ और वेश्या आदि व्यसन इनको त्याग करने वाला, पांच अणुव्रतों से युक्त तथा सात शिक्षाव्रतों से परिपूर्ण गृहस्थ होता है। यहाँ मद्य, मांस, मधु के त्याग का आदेश दिया है तथा—

जुआ खेलना मांस मद, वेश्यागमन शिकार ।
चोरी पररमणीरमण सातों व्यसन निवार ।।

इस प्रकार जुआ और वेश्या, 'आदि' शब्द से सातों व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया गया समझना चाहिये ।

यहाँ विचारणीय विषय है कि गौतमस्वामी जैसे चार ज्ञानधारी, सप्तऋद्धि समन्वित, तद्भवमोक्षगामी, गणधरदेव स्वयं गृहस्थ श्रावक को आत्मा-आत्मा का ही उपदेश न देकर मद्य, मांस, मधु त्याग और जुआ आदि व्यसनों के त्याग का उपदेश दे रहे हैं तथा इसे ही वे गृहस्थों के लिये 'धर्म, शब्द से घोषित कर रहे हैं । जो आज इस त्यागकी परम्परा को 'धर्म' नहीं कहते है उन्हें इन पंक्तियों को देखना चाहिये । ये पंक्तियां साक्षात् गौतम-स्वामी के मुख कमल से विनिर्गत हैं ।

पुनः वे स्वयं इस गृहस्थ धर्म के फल को बतलाते हुये कहते है—

'जो एदाइ वदाइ धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डय, खुड्डियाओ व अट्टदह भवण-वासिय वाण वितरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्त उवरिम अण्णदर महड्ढियासु देवेसु उववज्जति ।'

जो श्रावक, श्रविकायें, अथवा क्षुल्लक-क्षुल्लिकाये इन व्रतों को धारण करते हैं वे दश प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के वानव्यंतर, पाँच प्रकार के ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर ऊपर में अन्य किन्हीं भी महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं ।

सम्यग्दृष्टी और व्रती चाहें स्त्री हों या पुरुष, वे भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव-देवियों में जन्म नहीं लेते हैं तथा सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं । अर्थात् कल्पवासी देवों की देवियाँ दो स्वर्ग तक ही जन्म लेती हैं । आगे तीसरे से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के देव अपनी-अपनी देवियों की उत्पत्ति ज्ञात कर आकर अपने-अपने स्वर्ग में ले जाते हैं । सम्यग्दृष्टी जीव कल्पवासी देवियों में भी जन्म नहीं लेते है । इनसे अतिरिक्त सोलह स्वर्गों में विशेष-विशेष ऋद्धिधारी देवों में ही जन्म लेते हैं ।

सम्यग्दृष्टी कहां-कहां जन्म लेते हैं ? सो ही बताते हैं—

तं जहा—सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबंभबंभुत्तरलांतवकापिट्ठमुक्कमहासुक्कसतार-सहस्सारआणतपाणतआरणअच्युदकप्पेसु उववज्जति ।

अडयबरसत्थधरा, कडयङ्गदबद्धनउडकयसोहा ।
भासुरवरबोहिधरा देवा य महड्ढिया होंति ।।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महा-शुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ पर नाना प्रकार के वस्त्र-आभरण-कटक, अंगद मुकुट आदि से शोभायमान, दिव्य वैक्रियिक शरीर के धारक और देदीप्यमान बोधि के धारक महर्द्धिक देव होते है ।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित क्षुल्लक, ऐलक आदि जो कि सयमा-संयम को धारण करने वाले पंचमगुणस्थानवर्ती हैं । ये सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं । इन कल्पों के ऊपर दिगंबर मुनि ही जाते हैं । भले ही कोई द्रव्यलिंगी ही क्यों न हो वह भी अंतिम ग्रैवेयक तक जाने की योग्यता रखता है ।

यहाँ पर तो गृहस्थ धर्म की महानता को बतलाया है पुनः श्री गणधरदेव कहते हैं—

उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णे सत्तट्ठभवगहणाणि तदो समणुमुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो मुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झति बुज्झति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति[1] ।'

ये श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका उत्कृष्ट पने से दो या तीन भव ग्रहण करते हैं, जघन्य रूप से सात या आठ भव ग्रहण करते हैं । इन भवों में भी सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व–अच्छे, कुलीन, श्रेष्ठ, राजा, महाराजा आदि मनुष्य होकर उत्कृष्ट जाति के देव हो जाते हैं । सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं, पुनः अन्तिम भव में नियम से निर्ग्रंथ मुनि होकर सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते है, मुक्त हो जाते हैं और परि-निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।

1. यतिप्रतिक्रमण ।

यह है गृहस्थ धर्म का फल, श्री गणधर देव के शब्दों में। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुये गृहस्थधर्म का पालन करना कितने महत्त्व की बात है यह समझना आवश्यक है। वास्तव में जो गृहस्थ मद्य, मांस आदि के त्यागी होते हैं, जुआ आदि दुर्व्यसनों से दूर रहते हैं और अणुव्रतों का पालन करते हैं। वे घर में रहते हुये भी बहुत ही सुखी रहते हैं। राजनैतिक अन्याय न करने से उन्हें मानसिक शांति बनी रहती है। सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं और सभी जनों में विश्वस्तता को भी प्राप्त कर लेते हैं। इन धर्मों से युक्त गृहस्थों को सर्वत्र सुख, शांति, यश और धन की वृद्धि आदि प्राप्त होते हैं तथा परभव में स्वर्ग के सुखों को भोग कर पुनः चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के भी पुण्य को प्राप्त कर परंपरा से मोक्ष को प्राप्त कर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रम में रहते हुये प्रत्येक स्त्री या पुरुष को अणुव्रत आदि गृहस्थधर्मों का पालन करना बहुत ही जरूरी है, सर्वथा हितकर ही है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि यह धर्म भगवान् महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा है और श्री गौतमस्वामी ने तीस वर्ष तक उनके पादमूल में रहकर उनसे श्रवण किया है और परमकरुणा बुद्धि से गृहस्थों के लिये कहा है।

गतियों से आने-जाने के द्वार

'भवांतरावाप्तिः गतिः' एक भव को छोड़कर दूसरे भव के ग्रहण करने का नाम गति है। गति के चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। एक-एक गति से आने के और उसमें जाने के कितने द्वार हैं सो ही देखिये—

नरकगति से आने-जाने के द्वार—नरक गति से आने के दो द्वार हैं और नरक गति में जाने के भी दो ही द्वार हैं। एक मनुष्य और द्वितीय तिर्यंच। अर्थात् मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही मरकर नरकगति में जा सकते हैं तथा नरकगति से निकलकर जीव मनुष्य या पंचेंद्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं। अन्य गति में नहीं जा सकते हैं।

असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच पहले नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं चूंकि वे मन के बिना इतना अधिक पाप नहीं कर सकते हैं। सरीसृप तिर्यंच दूसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं। पक्षीगण कदाचित् नरक जावें तो तीसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं जा सकते हैं। सर्प चौथे नरक तक जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं। सिंह कितना भी अधिक पाप क्यों न करे किन्तु वह पांचवें नरक तक ही जन्म ले सकता है छठे या सातवें में नहीं। स्त्रियाँ अधिक से अधिक पाप करके भी छठे नरक तक ही जा सकती हैं सातवें में नहीं चूंकि उनके उत्तम संहननों का अभाव है। पुरुष और मत्स्य सातवे नरक तक गमन करने की शक्ति रखते हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य और उसके कान में रहने वाले तन्दुल मत्स्य यदि हिंसा करते है या तन्दुल मत्स्य जो कि सभी जीवों के खाने का भाव ही किया करता है। ये मत्स्य हिंसा के अभिप्राय से सातवें नरक में भी चले जाते हैं। यह तो हुई नरकगति में जाने वालों की बात। अथवा नरकगति मे जाने के ये दो ही गतिरूप द्वार बताये हैं। अब वहाँ से आने वालों की गतियों को देखिये—

सातवें नरक से निकला हुआ जीव क्रूर पंचेंद्रिय पशु ही होता है वह मनुष्य नहीं हो सकता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य भी हो सकता है अर्थात् तिर्यंच या मनुष्य इन दो ही गतियों में जन्म ले सकता है और यह मनुष्य या तिर्यंच मोह कर्म के मन्द हो जाने से कदाचित् गुरुओं का उपदेश या देवों का सम्बोधन प्राप्त करके अथवा

जिनेन्द्र देव के जन्म आदि कल्याणकों को या रथयात्रा आदि महामहोत्सवों को देखकर अथवा जातिस्मरण हो जाने के निमित्त आदि कारणों से सम्यक्त्व को भी ग्रहण कर सकता है किन्तु इस छठे नरक से आये हुये जीव के भाव अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण के नहीं हो सकते हैं चूंकि उसमें अभी इतने पाप कर्म मन्द नहीं हो पाते हैं। पांचवें नरक से निकला हुआ जीव यदि मनुष्य हुआ है तो महाव्रत ग्रहण कर मुनि होने की भी क्षमता रखता है तथा यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रत ग्रहण कर सकता है। चतुर्थ नरक से निकले हुये जीव में से यदि कोई मनुष्य हुआ है तो वह कदाचित् मुनिपद ग्रहण कर केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रती तक हो सकता है। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है अर्थात् यदि किसी जीव ने यहाँ पर पहले नरकायु का बन्ध कर लिया अनन्तर उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ पुनः केवली भगवान् के या श्रुतकेवली के पादमूल में सोलह कारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया तो वह जीव मरने के कुछ क्षण ही पूर्व सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे नरक में चला जाता है और वहाँ पर पर्याप्त अवस्था को प्राप्त होते हुये पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो फिर वहाँ अपनी आयु पर्यंत सम्यग्दृष्टि रहता है और उसके वहाँ से निकलने के छह महीने पहले ही देवगण वहाँ पर जाकर उस नारकी जीव (भावी तीर्थंकर) की सुरक्षा की व्यवस्था बना देते हैं—उसके चारों ओर परकोटा सुरक्षित कर देते है। तथा वे देवगण यहाँ मध्य लोक मे जन्म नगरी में अतिशय शोभा करके माता के आँगण में रत्नों की वर्षा प्रारम्भ कर देते हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ इन्द्र महाराज की आज्ञा से आकर माता की सेवा करती हैं, गर्भ शोधन आदि क्रियायें करती हैं।

अनन्तर तीर्थंकर होने वाला वह जीव नरक से निकलकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है तब इन्द्र शची सहित असंख्य देव परिवारों के साथ आकर तीर्थंकर के माता-पिता की पूजा करके महान् उत्सव के साथ गर्भ कल्याणक मनाते है। तात्पर्य यह रहा कि तीसरे नरक से निकलकर जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और पहले नरक से निकले हुये जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, केवली भी हो सकते हैं और मोक्ष-पद को भी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु नरकों से निकले हुये जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण या प्रतिनारायण नहीं हो

सकते हैं यह बात विशेष है । इस तरह नरक गति से आने के द्वार अर्थात् गतियाँ बताई गई हैं । इसमें यह बात खासतौर से समझने की है कि जो नरक से निकलकर तीर्थंकर या केवली आदि होते हैं वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है । सातवें नरक से जीव सम्यक्त्व लेकर नहीं निकल सकते हैं । किन्तु अन्य नरकों से सम्यक्त्व लेकर भी निकल सकते हैं । सातों ही नरकों में जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं । नरकों में सम्यक्त्व के बहिरंग कारणों में वेदना-अनुभव जातिस्मरण और देवों द्वारा संबोधन माने गये हैं । देवों द्वारा संबोधन तृतीय नरक तक ही है इससे नीचे कोई भी देव नहीं जाते हैं । अतः चतुर्थ आदि नरकों में दो ही कारण हैं । यदि यहाँ पर किसी ने नरकायु बाँध ली है और बाद में सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वे पहले नरक में ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं ।

तात्पर्य यही समझना चाहिये कि बिना सम्यक्त्व के यह जीव अनन्तों बार नरक-गति में जा चुका है और वहाँ से आकर मनुष्य भव को भी प्राप्त कर संसार में ही घूमता रहा है । यदि संसार भ्रमण को समाप्त करना है तो सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिये ।

तिर्यग्गति से आने-जाने के द्वार—

पंचेंद्रिय पशु यदि मरण करते हैं तो वे चौबीसों दण्डक में (चारों गतियों में) जा सकते हैं । यहां पहले आप चौबीस दण्डक को समझ लीजिये—

नरकगति का दण्डक १, भवनवासी देवों के दण्डक १०, ज्योतिषी देव का १, व्यंतरों का १, वैमानिक देवों का १, स्थावर के ५, विकलत्रय के ३, पंचेद्रिय तिर्यंच का १, और मनुष्य का १, ऐसे १ + १० + १ + १ + १ + ५ + ३ + १ + १ = २४ ये चौबीस दण्डक माने गये हैं । पंचेंद्रिय तिर्यंच इन चौबीसों दण्डकों में जा सकते हैं और चौबीस दण्डक से आये हुये जीव पशु हो सकते हैं । विकलत्रय अर्थात् दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीवों के जाने की तथा आने की दश ही गति हैं । ये विकलत्रय मर कर पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन दश स्थानों में जन्म ले सकते हैं तथा इन दश स्थानों से निकल कर ही विकलत्रय होते हैं । अर्थात् विकलत्रय जीव तिर्यंच गति और मनुष्यगति में ही तो जन्म ले सकते हैं और तिर्यंच या मनुष्य ही मर कर विकलत्रय हो सकते हैं । ये विकलत्रय जीव मर कर देवगति या नरकगति में नहीं जा सकते हैं और न देवगति या नरकगति से निकलकर जीव विकलत्रय ही हो सकते हैं ।

इनका अस्तित्व भी कर्मभूमि में ही है। ये जीव न नरकभूमि में हैं, न स्वर्गभूमि में हैं न भोगभूमि में हैं और न असंख्यात द्वीप समुद्रों में ही जन्मते हैं। ये मात्र कर्मभूमियों में लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्र में, स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तर भाग की कर्मभूमि में तथा स्वयभूरमण समुद्र में ही जन्मते हैं। अन्यत्र ये नहीं पाये जाते हैं।

नारकियों के बिना बाकी शेष तेईस दण्डक के जीव मरकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक[1] में जन्म ले सकते हैं। अर्थात् भवनत्रिकदेव और वैमानिक में ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर इन तीनों स्थावर में जन्म ले सकते हैं तथा ये तीनों स्थावर मरकर देवगति और नरकगति के सिवाय सर्वत्र दश दण्डकों में अर्थात् पांचों स्थावर, तीन विकलेंद्रिय, पंचेंद्रिय पशु और मनुष्य में जन्म ले सकते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरकर पांच स्थावर, तीन विकलेंद्रिय और पंचेंद्रिय पशु इन नव स्थानों में ही जन्म ले सकते है वे मरकर मनुष्य, नारकी या देव नहीं हो सकते हैं। तथैव देव या नारकी भी इन दो स्थावरों में जन्म नहीं ले सकते है किन्तु मनुष्य मरकर अग्निकायिक व वायुकायिक हो सकते हैं। अर्थात् एक मनुष्य गति ही ऐसी गति है कि उससे जाने के लिये सभी मार्ग खुले हुये हैं।

तिर्यंचों की आयु—

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु १२ हजार वर्ष, खरपृथ्वीकायिक जीव की २२ हजार वर्ष, जलकायिक जीव की ७ हजार वर्ष, अग्निकायिक जीव की ३ दिन, वायुकायिक जीव की ३ हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक जीव की १० हजार वर्ष प्रमाण है।

विकलेंद्रियों में दो इन्द्रिय की १२ वर्ष, तीन इन्द्रियों की ४९ दिन और चार इन्द्रियों की ६ मास प्रमाण है। पंचेन्द्रियों में सरीसृप की उत्कृष्ट आयु ९ पूर्वांग, पक्षियों की ७२ हजार वर्ष और सर्पों की ४२ हजार वर्ष है। शेष तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण है। यह उपर्युक्त उत्कृष्ट आयु पूर्व पश्चिम विदेहों में उत्पन्न हुये तिर्यंचों के तथा स्वयंप्रभपर्वत के बाह्य कर्मभूमि भाग में उत्पन्न हुये तिर्यंचों के तो सर्वकाल पायी जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के भीतर चतुर्थ काल के प्रथम भाग में किन्हीं तिर्यंचों

1. प्रत्येक वनस्पति मे ही होते है, साधारण वनस्पति मे नहीं।

के पाई जाती है। एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारवें भाग प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रियों की क्रमशः इससे उत्तरोत्तर संख्यात गुणी है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य भोग भूमि के तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु क्रम से तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य है। शाश्वत भोगभूमियों में जघन्य व उत्कृष्ट ये तीन प्रकार ही हैं। अशाश्वत भोगभूमि में से जघन्य भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक पूर्व-कोटि और उत्कृष्ट एक पल्य प्रमाण है और मध्यम आयु के भेद अनेक प्रकार हैं। मध्यम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य है तथा मध्यम में अनेक भेद हैं। उत्तम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, मध्यम के अनेक भेद हैं। हैमवत, हरि, विदेह के देवकुरु-उत्तर-कुरु, रम्यक और हैरण्यवत ये छह ऐसे ही पांच मेरु संबंधी ३० भोगभूमि शाश्वत अनादि निधन हैं उनमें परिवर्तन का कोई सवाल ही नहीं है, तथा पाँच भरत और पाँच ऐरावतों के आर्यखण्डों में जो षट्काल परिवर्तन से तीन कालों में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि होती हैं वे अशाश्वत हैं उनमें अवसर्पिणी युग में क्रम से हानि और उत्सर्पिणी में क्रम से वृद्धि चलती रहती है। वहीं पर जघन्य, मध्यम आयु होती हैं।

भोगभूमिज तिर्यंचों के आने-जाने के द्वार—

कर्मभूमिया मनुष्य और पंचेंद्रिय तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं तथा भोगभूमि से मर कर तिर्यंच जीव नियम से देवगति में ही जाते हैं। भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक इनका जाने का मार्ग खुला है। कर्मभूमि के असंयत सम्यग्दृष्टी या देशव्रती तिर्यंच अधिक से अधिक सोलहवें[1] स्वर्ग तक जा सकते हैं ऐसा भी विधान है।

तिर्यंचों में गुणस्थान—

पंचेन्द्रियसंज्ञी जीवों के अतिरिक्त पांच स्थावर, तीन विकलेंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय इनके एक मिथ्यात्व[2] गुणस्थान रहता है अर्थात् ये बेचारे मिथ्यादृष्टी ही बने रहते हैं। भरत, ऐरावत के आर्यखण्ड के तिर्यंचों में पाँच गुण स्थान तक हो सकते हैं। पाँच विदेहों में, विद्याधर श्रेणियों में व स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में तिर्यंचों के पाँच गुण-

1. त्रिलोकसार गाथा ५४५।
2. तिलोयपण्णत्ति पृ० ६१३। किन्हीं ग्रन्थों मे इनके अपर्याप्त काल मे द्वितीय गुणस्थान माना है।

स्थान तक देखे जाते हैं। म्लेच्छों के तिर्यंचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है। भोगभूमिज तिर्यंचों के पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा ये चार गुणस्थान तक हो सकते हैं। वहाँ पर पाँचवां देशविरत गुणस्थान नहीं होता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण—

कितने ही तिर्यंच गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोध से तथा कितने ही जीव स्वभाव से प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं तथा कितने ही सुख-दुःख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेंद्र महिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिंब के दर्शन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार से कर्मभूमिज जीव गुरुओं के उपदेश या देवों के प्रतिबोध आदि कारणों से पाँच अणुव्रतों को ग्रहण कर देशसंयत हो जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में वैमानिक देव होते हैं अर्थात् भवनत्रिक में नहीं जाते हैं और न अन्यत्र तीन गतियों में ही जाते हैं। यदि इन्होंने पहले तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली पीछे सम्यक्त्व ग्रहण किया है तो सम्यक्त्व सहित ये जीव भोगभूमि के तिर्यंच या मनुष्य हो जाते हैं। पुनः वहाँ से नियम से सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव हो जाते हैं।

इन तिर्यंचों में से भोगभूमिज तिर्यंचों में संकल्पवश केवल एक सुख ही होता है और कर्मभूमिज तिर्यंचों में सुख-दुःख दोनों ही पाये जाते हैं।

विशेष—इस ''गतियों से आने-जाने के द्वार'' में ऐसा कहा है कि 'छठे नरक से आये जीव के भाव अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण के नहीं होते।' यह 'चौबीस दंडक के आधार से है।' यथा 'छठे को निकसो जुकदाप, सम्यक्त्वी होवे निष्पाप।' किन्तु तिलोयपण्णत्ति[1] में कहा है कि छठी पृथ्वी से निकलकर जीव देशव्रती हो सकते हैं। यही बात धवला पु० ६ पृ० ४८६ पर भी कही गई है। अतः इस विशेष को ध्यान में रखना चाहिये।

मनुष्य गति से आने-जाने के द्वार—

मनुष्य गति में प्राप्त करने योग्य सबसे श्रेष्ठ जो स्थान 'मुक्ति धाम' है यदि कोई इस मनुष्य पर्याय से उस मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये धर्म पुरुषार्थ का अवलंबन

1. भाग प्रथम पृ० १०० ।

कर लेते हैं तो ठीक है अन्यथा इस चिंतामणि सदृश मनुष्य गति से वे निगोद में भी जा सकते हैं—जहाँ से पुनः निकलना बहुत ही दुर्लभ हो जाता है अतः सभी पर्यायों में सार मनुष्य पर्याय है, मनुष्य पर्याय का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण सुख है ऐसा समझ कर संयम को ग्रहण कर लेना चाहिये।

मनुष्य चौबीसों दण्डक में जा सकता है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। यह मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त करके तीन लोक का स्वामी हो सकता है। चूंकि मुनि के बिना कोई भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और मनुष्य के बिना कोई भी मुनि हो नहीं सकता है। जो सम्यग्दृष्टि मुनि होते हैं वे ही इस संसार समुद्र को पार कर शिवधाम में पहुँच जाते हैं जहाँ पर जाकर अविनश्वर हो जाते हैं पुनः उन्हें यहाँ आने का कोई मार्ग ही नहीं रहता है। वहाँ पर वे शाश्वत चिच्चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा में ही निवास करते हैं और परमानंदमय सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार से मनुष्य गति से जाने की गति-द्वार पच्चीस हो जाते हैं तथा मनुष्य गति में आने के द्वार बाईस ही हैं। चूंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मर कर मनुष्य नहीं हो सकते हैं तथा पच्चीसवाँ दण्डक जो सिद्ध गति रूप है वहाँ से आने का तो सवाल ही नहीं उठता है। यह तो सामान्य मनुष्यों की बात हुई है अब विशेष अर्थात् पदवीधारी मनुष्यों की गति-आगति को देखिये—

तीर्थंकर के आने के दो द्वार है। या वे स्वर्ग से आते हैं या नरक से और पुनः वे गति अर्थात् जन्म को धारण नहीं करते हैं बल्कि उसी भव से लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो जाते हैं। अतः तीर्थंकर के आने के द्वार दो हैं और जाने का द्वार एक पच्चीसवें दण्डक रूप मोक्ष ही है।

चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र ये स्वर्ग लोक से ही आते हैं अतः इनके आने का द्वार एक ही है तथा इनमें से चक्रवर्ती स्वर्ग, नरक या मोक्ष इन तीन स्थानों में जा सकते हैं। यदि चक्रवर्ती तपश्चरण करते हैं अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और यदि राज्य में मरण करते हैं तो नरक में चले जाते हैं। किन्तु अंत में ये मोक्ष को नियम से प्राप्त करते हैं चूंकि पदवीधारी हैं। बलभद्रों के लिये जाने के दो ही द्वार हैं स्वर्ग या मोक्ष। क्योंकि ये नियम से तपश्चरण धारण करते हैं। अर्धचक्री अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण ये नियम से नरक ही जाते

हैं ये राज्य में ही मरते हैं अतः ये उस ही भव से मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु अंत में ये नियम से निर्वाण प्राप्त करते ही करते हैं अर्थात् ये चक्रवर्ती या अर्धचक्री उस भव से यदि नरक भी चले जाते हैं तो भी कतिपय भवों को धरकर पुनः ये मोक्ष अवश्य प्राप्त करते हैं। चूंकि पदवीधारक पुरुषों के आखिर में मोक्ष का नियम ही है। यह शलाका पुरुषों की बात हुई। इनके अतिरिक्त भी जो पदवीधर हैं उनके विषय में पढ़िये—

जो कुलकर हो जाते हैं या नारद हो जाते हैं या रुद्र हो जाते हैं और कामदेव हो जाते हैं या तीर्थंकर के माता-पिता हो जाते हैं, वे भी इन पदों को धारण करने के बाद कुछ भव के बाद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करते हैं चूंकि इन पदों को धारण करने वाले जीव बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। कुलकर चौदह होते हैं। नारद नव होते हैं, रुद्र ग्यारह होते हैं[1] और कामदेव चौबीस होते हैं।

कुलकर स्वर्ग में ही जाते हैं अतः इनके जाने का एक ही द्वार है तथा आने में ये इस अवसर्पिणी में तो विदेह क्षेत्र में पहले मनुष्यायु बाँध कर पीछे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुये हैं अतः वे यहाँ भरत क्षेत्र के तृतीय काल में अंत में भोग भूमि में कुलकर हुये हैं। जन्मांतर में ये भी निर्वाण को प्राप्त करते है।

कामदेव पदवी धारक पुरुष नियम से कामदेव का नाश कर मोक्ष-धाम को प्राप्त करते हैं। नारद और रुद्र अधोगति में ही अर्थात् नरक में ही जाते हैं क्योंकि नारद तो कलहप्रिय होते हैं और रुद्र अपने जीवन को पाप से कलंकित कर लेते हैं। फिर भी ये नारद और रुद्र भी जन्मांतर में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तीर्थंकर के पिता या तो स्वर्ग जाते हैं या सिद्धपद प्राप्त करते हैं अतः इनके भी जाने के दो ही द्वार हैं। माता स्वर्ग ही जाती हैं आखिर अल्पकाल में ही निर्वाण को प्राप्त कर लेती हैं।

शाश्वत भोगभूमिज और अशाश्वत भोगभूमिज दोनों भोगभूमिज मनुष्यों के जाने का एक ही द्वार है। देवगति अर्थात् भवनत्रिक या सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक में ये जीव मरकर जा सकते हैं। भोग भूमि में आने के दो द्वार हैं—कर्मभूमि के पंचेंद्रिय तिर्यंच या मनुष्य। अर्थात् ये ही जीव मरकर भोगभूमि में जा सकते हैं।

1. नव नारद और ग्यारहरुद्र हुंडावसर्पिणी मे ही होते हैं। (तिलोयपण्णत्ति पृ० ३५५)

मनुष्यों की आयु—

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है और जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त है। यह आयु कर्मभूमिया जीवों की है। पूर्व-पश्चिम विदेह में तथा चतुर्थ काल के पूर्वकाल में यह उत्कृष्ट आयु होती है। मध्यम आयु के अनेक भेद हैं। भोगभूमि में उत्तम में तीन पल्य, मध्यम में दो पल्य और जघन्य में एक पल्य आयु है। परिवर्तनशील भोगभूमियों में उत्कृष्ट तो यही आयु है। जघन्य आयु उत्तम भोग भूमि में एक समय अधिक दो पल्य, मध्यम भोगभूमि में एक समय अधिक एक पल्य और जघन्य भोगभूमि में एक समय अधिक एक पूर्वकोटि प्रमाण है तथा मध्यम आयु के अनेक भेद हैं।

लवण समुद्र आदि में, कुभोग भूमियों में कुमानुष रहते हैं। ये भी मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में जो मनुष्य रहते हैं वे विद्याधर कहलाते हैं। इनमें कुछ विद्यायें जाति और कुल की परंपरा से प्राप्त रहती हैं। कुछ विद्यायें सिद्ध करके ये लोग नाना प्रकार से विद्याओं के निमित्त से सुखों का अनुभव करते हैं।

मनुष्यों में गुणस्थान व्यवस्था—

विदेह क्षेत्रों में हमेशा चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं। अर्थात् वहाँ से हमेशा मोक्ष का द्वार खुला रहता है।

भोग भूमि में चार गुणस्थान तक ही हो सकते हैं। सभी म्लेच्छों के मनुष्यों को वहाँ पर एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

विद्याधरों के चौदह गुणस्थान तक हो जाते हैं जब वे विद्याओं को छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं तभी अन्यथा विद्या सहित में पांच गुणस्थान तक हो सकते हैं। अर्थात् विद्या-सहित जीव कदाचित् क्षुल्लक बन सकते है। किन्तु मुनि नहीं बन सकते।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के चतुर्थकाल में चौदह गुणस्थान होते हैं। चतुर्थ-काल के जन्मे हुए मनुष्य कदाचित् पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्मे हुये नहीं जा सकते। पंचमकाल में उत्तम तीन संहनन के न होने से अधिक से अधिक सोलह स्वर्ग तक का मार्ग खुला है। कदाचित् कोई महामुनि लौकांतिक देव भी हो सकते

हैं। अर्थात् पंचमकाल में छठा, सातवां गुणस्थान होता है। अतः मुनियों का अस्तित्व अन्त तक है।

सम्यक्त्वग्रहण के कारण—

कितने ही मनुष्य गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोधन से अथवा स्वभाव से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। कितने ही मनुष्य जाति स्मरण से, कितने ही जिनेन्द्रदेव के कल्याणकों को देखकर, कितने ही जीव जिन बिम्ब के दर्शन से औपशमिक आदि सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेते हैं क्षायिक सम्यक्त्व तो केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में प्रगट होता है अतः आज पंचमकाल में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

सम्यक्त्वग्रहण के पहले यदि इसने तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली है पुनः क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो यह जीव भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य होगा, अन्यथा स्वर्ग ही जायेगा। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय, असैनी तिर्यंच आदि नहीं होता है। स्त्री या नपुंसक नहीं होता है और न वह दरिद्री, विकलांग, अल्पायु ही होता है किन्तु महापुरुष होकर कालांतर मे या उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

देवगति से आने व जाने के द्वार—

सभी को देवगति सबसे अधिक प्रिय लगती हो, किन्तु देवगति के सुख भोगकर यह जीव वहाँ की आयु पूर्णकर नियम से मरेगा और मरकर तिर्यंच होगा या मनुष्य। यदि मिथ्यादृष्टि है और वहाँ के भोगों को छोड़ते हुए अधिक संक्लेश हो रहा है तो प्रायः वही जीव एकेंद्रिय स्थावर योनि में पृथ्वी, जल या वनस्पति हो जाता है। फिर वहाँ से निकलने का क्या उपाय है। इन्हीं तुच्छ कुयोनियों में यह जीव भटकता रहता है क्योंकि एकेन्द्रिय में कान के बिना गुरु का उपदेश आदि है ही नहीं अतः देवगति की इच्छा नहीं करना चाहिये।

देवों के तेरह दंडक माने है—भवनवासी देवों के १०, व्यंतरवासी देवों का १, ज्योतिषी देवों का १ और वैमानिक देवों का १ ऐसे १०+१+१+१=१३ दण्डक देव सम्बन्धी हैं।

मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इनके बिना कोई भी देवपद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् स्थावर व विकलत्रय तिर्यंच देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा देव और नारकी भी देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

देवों के लिये जाने के पांच द्वार हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य अर्थात् देव मरकर इन पाँच पर्यायों में जन्म धारण कर सकते हैं। भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी देव तथा वैमानिक देवों में से सौधर्म ईशान इन दो स्वर्गों तक के देव ही मर कर कदाचित् स्थावर योनि में जन्म ले सकते हैं, इनसे आगे के देव नहीं। तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव मर कर कदाचित् पंचेंद्रिय तिर्यंच हो सकते हैं आगे के नहीं। अर्थात् दूसरे स्वर्ग तक देवों के लिये तीन स्थावर काय, पशु और मनुष्य इन पाँचों में आने का द्वार खुला हुआ है, तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तक के देवों के लिए स्थावर का द्वार बंद हो गया है मात्र पंचेंद्रिय पशु और मनुष्य इनका द्वार खुला हुआ है तथा इससे ऊपर के देवों के लिये एक मनुष्य का ही द्वार शेष है बाकी सभी द्वार बंद हैं। ये तो देवों के आने के द्वार कहे अब जाने के द्वार बतलाते हैं—

पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्य ही देवगति को प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं। इसमें भी भोगभूमि के मनुष्य या पशु मरकर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में अथवा सौधर्म ईशान स्वर्ग में जन्म ले सकते हैं अर्थात् इनके लिये दूसरे स्वर्ग तक ही मार्ग खुला हुआ है आगे नहीं। किंतु देव मरकर भोगभूमि में जन्म नहीं ले सकते हैं यह नियम है। कर्म-भूमिया मनुष्य और तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं अन्य कोई नहीं जा सकते हैं।

कर्मभूमि के तिर्यंच यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत धारण कर लेते हैं तो वे बारहवें[1] स्वर्ग तक चले जाते हैं।

अव्रत सम्यग्दृष्टि मनुष्य बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

अन्यमती साधु पंचाग्नि तप करके भवनत्रिक देवों तक जा सकते हैं। पारिव्राजक और दण्डी साधु अधिक से अधिक पाँचवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। परमहंस नामक साधु

---

1. त्रिलोकसार गाथा ५४५ में सोलहवें तक जाने का विधान है।

बारहवें[1] स्वर्ग तक जा सकते हैं इसके ऊपर नहीं जा सकते । परमत से मोक्ष की सिद्धि नहीं है चूंकि कर्मों का नाश जैनमत के बिना सर्वथा असम्भव ही है ।

श्रावक और श्राविका भले ही वे क्षुल्लक, ऐलक या क्षुल्लिका ही क्यों न हों किन्तु वे सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, इसके आगे नहीं । क्योंकि बिना मुनि पद धारण किये आगे जाना असम्भव है । द्रव्यलिंगी मुनि नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं आगे नहीं । भावलिंगी महामुनि ही नव अनुदिश और पांच अनुत्तरों में जन्म लेते हैं ।

यह जीव कितनी बार ही देवपद को प्राप्त कर चुका है किन्तु उन में भी कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें नहीं पाया, नहीं तो अब तक मोक्ष को प्राप्त कर लेता ।

इंद्र पद को इसने नहीं पाया अर्थात् सौधर्म आदि छह दाक्षिणेंद्र नियम से एक भवावतारी होते हैं । उन्हीं के लोकपाल पद को भी इसने नहीं पाया चूंकि वे भी मोक्ष-गामी हैं । शचीदेवी भी नियम से वहाँ से नरलोक में आकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं चूंकि तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव में जब इंद्राणी बालक को प्रसूतिगृह में लेने जाती हैं उस समय उन्हें तीर्थंकर शिशु का स्पर्श कर इतना आनन्द होता है और इतना पुण्य विशेष संचित हो जाता है कि वे उसी समय अपनी स्त्री पर्याय का छेद कर देती हैं । दूसरी बात यह है कि शचीदेवी नियम से उस पर्याय में सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेती हैं अतः सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद पुनः स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है ।

लौकांतिक देव तथा अनुत्तरवासी देवों के लिये भी निर्वाण का नियम है । लौकांतिक देव तो एक भवावतारी ही होते हैं और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित इन विमानों के देव द्विचरम माने गये हैं अर्थात् अधिक से अधिक दो भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के देव नियम से वहाँ से आकर एक भव से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ।

इस सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक में जाने वाले जीव अर्थात् मुक्त होने वाले जीवों के आने का द्वार तो बंद ही है और मुक्ति गति में जाने के लिये एक मनुष्य गति का ही द्वार है ।

---

1. कांजी आदि का भोजन करने वाले, नग्न आजीवक अच्युत–सोलहवें स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न होते हैं ।

(त्रिलोकसार गाथा ५४७ की टीका ।)

भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं। किन्तु वहाँ पर सम्यक्त्व ग्रहण कर सकते हैं। सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण—

कोई देव जिनमहिमा के दर्शन से, कोई जातिस्मरण से, कोई देवों की ऋद्धि देखने से, कोई पांच कल्याणकों का उत्सव देखने से और कोई देव उपदेश के श्रवण से सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं। अतः भवनत्रिकों में भी चार गुणस्थान होते हैं।

कल्पवासी देवों में भी नवग्रैवेयक तक भाव मिथ्यादृष्टि जीव जा सकते हैं। द्रव्य से मिथ्यावेषधारी पाखंडी अर्थात् जिनमत के बाह्य साधु तो बारहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। आगे के विमानों में अर्थात् नव अनुदिश और अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। अतः नव ग्रैवेयक तक जीव यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो वे सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं इसलिये वहाँ तक चारों गुणस्थान होते हैं।

इस तरह संक्षेप से यह आने-जाने का द्वार कहा गया है विशेष जिज्ञासा हो तो धवला आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये।

जीव के स्वतत्त्व

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं अर्थात् स्वभाव हैं।

परिणामों की निर्मलता से कर्मों की शक्ति का प्रगट न होना उपशम है जैसे कि फिटकरी को मैले पानी में डाल देने से मैल नीचे बैठ जाता है और पानी ऊपर में स्वच्छ दिखने लगता है।

कर्मों का अत्यन्त अभाव हो जाना क्षय है।

परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एक देश का क्षय और एकदेश का उपशम होना मिश्र भाव है जैसे कि कोदों को धोने से कुछ की मद शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की नहीं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से कर्मों का फल देना उदय है।

जो भाव कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा न रखकर द्रव्य के निज स्वरूप मात्र से होते हैं उन्हें पारिणामिक कहते हैं।

प्रश्न—'आत्मा के यदि ये औपशमिक आदि स्वतत्त्व अर्थात् स्वभाव हैं तो यदि यह उनको छोड़ देगा तो शून्य हो जावेगा और यदि नहीं छोड़ेगा तो इस आत्मा को मोक्ष कैसे होगी ?

उत्तर—आपका प्रश्न ठीक है, फिर भी अनेकान्तवाद में सर्वसुघटित है क्योंकि अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य की दृष्टि से स्वभाव का त्याग नहीं हो सकता फिर भी आविमान् औदयिक आदि पर्यायों की दृष्टि से स्वभाव का त्याग हो सकता है। दूसरी बात यह है कि स्वभाव के त्याग या अत्याग से मोक्ष नहीं माना है किन्तु मोक्ष तो सम्यग्दर्शन आदि अन्तःकरणों से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से ही होती है।[1]

इन भावो के भेद—औपशमिक के २, क्षायिक के ६, मिश्र के १८, औदयिक के २१ और पारिणामिक के ३ ऐसे २+६+१८+२१+३=५३ भाव होते हैं।

---

1. तत्त्वार्थ वार्तिक द्वि० अ० सू० १।

(१) औपशमिक सम्यग्दर्शन और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह तथा अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार चारित्र मोह, इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के काललब्धि आदि के निमित्त से यह सम्यग्दर्शन होता है। काललब्धि अनेक प्रकार की है—

भव्य जीव के अर्धपुद्गल परिवर्तनरूप समय के शेष रहने पर वह सम्यक्त्व के योग्य होता है, यह पहली काललब्धि है।

कर्म जब उत्कृष्ट स्थिति या जघन्य स्थिति में बन्ध रहे हों तब प्रथम सम्यक्त्व प्रगट नहीं हो सकता किन्तु जब कर्म अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में बन्ध रहे हों तथा पूर्वबद्ध कर्म परिणामों की निर्मलता से संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाले कर दिये गये हों तब प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता होती है, यह द्वितीय काललब्धि है।

तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा से है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जातिस्मरण, वेदना आदि भी निमित्त होते है अर्थात् उपशम सम्यग्दर्शन चारों ही गतियों में होता है। हाँ, वह जीव भव्य पंचेंद्रिय सैनी और पर्याप्तक हो तथा परिणामों की विशुद्धिवाला हो।

इन गतियों में कारणों का स्पष्टीकरण—

सातों नरकों में पर्याप्तक ही नारकी जीव अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रथम उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। तीसरे नरक तक जातिस्मरण, वेदनानुभव और धर्मश्रवण इन तीन कारणों से तथा आगे धर्मश्रवण के अतिरिक्त शेष दो कारणों से सम्यक्त्व लाभ हो सकता है।

तिर्यंचों में सभी द्वीप-समुद्रों के पर्याप्तक ही तिर्यंच दिवस पृथक्त्व[1] के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। इनमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनप्रतिमा का दर्शन ये तीन सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये निमित्त हैं। मनुष्यों में ढाई द्वीप के पर्याप्तक ही मनुष्य आठ

1. तीन से ऊपर और आठ से नीचे की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

वर्ष की आयु के बाद जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिंबदर्शनरूप किसी भी कारण से सम्यक्त्व लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

देवों में अन्तिम ग्रैवेयक तक के पर्याप्तक ही देव अन्तर्मुहूर्त के बाद सम्यक्त्व लाभ कर सकते हैं। भवनवासी आदि से लेकर सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक के देव जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन तथा देवों के ऐश्वर्य-निरीक्षणरूप किसी भी कारण से सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। आगे आनत-आदि चार स्वर्गों के देवों में देवऋद्धि निरीक्षण के बिना तीन कारण तथा नवग्रैवेयकवासी देवों में देवऋद्धि निरीक्षण और जिनमहिमादर्शन इन दो के बिना शेष दो कारणों से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है।

ग्रैवेयक से ऊपर के देव नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

[2]धवला ग्रन्थ में काललब्धि में ही लब्धियों को भी गर्भित किया है। यथा—क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि।

पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जब परिणामों की निर्मलता के द्वारा प्रतिसमय अनंतगुणे हीन होते हुये उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।

प्रति समय अनंतगुणहीनक्रम से उदीरणा को प्राप्त हुए अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभकर्मों के बंध को कराने वाला और असाता आदि अशुभकर्मों के बंध को रोकने वाला ऐसा जो जीव का परिणाम है, उसे विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

छहद्रव्यों और नवपदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना को देने वाले आचार्य आदि की उपलब्धि को देशनालब्धि कहते हैं तथा उनके द्वारा उपदेशे हुये अर्थ को ग्रहण, धारण एवं विचारण शक्ति के समागम को भी देशनालब्धि कहते हैं।

सर्वकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थिति में, और द्विःस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते है अर्थात् घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता, दारु, अस्थि और शैल के समान चार प्रकार की होती है। अघातिया कर्मों में दो विभाग हैं पुण्यप्रकृतिरूप और पाप प्रकृतिरूप। पुण्यकर्मों की अनुभागशक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत के समान होती है तथा पापकर्मों की

2. धवला पु० ६ पृ० २०४।

नीम कांजीर, विष और हलाहल के समान होती है। यहाँ प्रायोग्यलब्धि के द्वारा जीव, घातिया कर्मों के अनुभाग को घटाकर लता और दारु इन दो स्थानों में तथा अघातिया कर्मों की पापरूप प्रकृतियों के अनुभाग को नीम और कांजीर इन दो स्थानों में अवस्थित करता है। इसी को द्विःस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं।

इन अवस्थाओं के होने पर पाँचवीं करण लब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं। चूँकि प्रारम्भ की चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवों के साधारण हैं अर्थात् दोनों प्रकार के जीवों में हो सकती हैं। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय ही होती है। इस करणलब्धि के तीन भेद हैं—

अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधःप्रवृत्तकरण के काल में से ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं, इसलिये प्रथम करण को अधःप्रवृत्तकरण कहा है।

अपूर्वकरण में भिन्न समयवर्ती जीव जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुये ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से अधःकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं, वैसा अपूर्वकरण में नहीं है, किन्तु यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते।

अनिवृत्तिकरण में एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में भेद नहीं पाया जाता है। इस करण में जितने समय हैं उतने ही परिणाम होते हैं।

कोई भी भव्य जीव इस करणलब्धि को प्राप्त करके परिणामों की विशुद्धि से अंतर्मुहूर्त में ही मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व रूप से तीन टुकड़े कर देता है। कहा भी है—

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा[1] ॥२६॥

1. कर्मकांड।

अर्थ—यंत्र—चक्की से दले हुये कोदों की तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम रूपी यंत्र से मिथ्यात्व रूपी कर्मद्रव्य द्रव्य प्रमाण में क्रम से असंख्यात गुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है। अर्थात् जैसे कोदों धान्य दला जाने पर तंदुल, कण और भूसी से तीन रूप हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्व द्रव्य उपशम सम्यक्त्वरूपी यंत्र से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन रूप परिणमन करता है।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये १६ कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ९ नौ कषाय, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन दर्शनमोह इस प्रकार अट्ठाईस मोहनीय प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।[1]

इस तरह औपशमिक के उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ये दो भेद हुये। उपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त मात्र ही है। सबसे प्रथम यही सम्यक्त्व होता है।

क्षायिकभाव के भेद—

क्षायिक भाव के नव भेद हैं—केवलज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र।

संपूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है जिसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन प्रगट होता है जिसका नाम क्षायिक दर्शन भी है। समस्त दानांतराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों का अभयदान देने वाला ऐसा अहिंसा का उपदेशरूप अनन्त दान-क्षायिक दान होता है। संपूर्ण लाभांत-राय का अनन्त क्षय होने पर कवलाहार न करने वाले केवली भगवान् के शरीर की स्थिति के लिये कारणभूत परम शुभ, सूक्ष्म, दिव्य, अनन्त पुद्गलों का प्रति समय शरीर में संबंधित होना क्षायिक लाभ है। अतः 'कवलाहार के बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीर की स्थिति कैसे रह सकती है?' यह शंका निराधार हो जाती है।

1. अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम्। तत्त्वार्थवार्तिक द्वि० अ० सू० ३।

संपूर्ण भोगांतराय के नाश से होने वाला सातिशय भोग क्षायिक भोग है। इसी से पुष्पवृष्टि, गन्धोदक वृष्टि, चरणकमल के तले स्वर्ण कमलों की रचना, सुगन्धित शीतल वायु, सद्धूप आदि अतिशय होते हैं। समस्त उपभोगांतराय के नाश से उत्पन्न होने वाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपयोग है। इसी से सिंहासन, छत्रत्रय, अशोक, भामण्डल, दिव्य-ध्वनि, देवदुंदुभि आदि प्रातिहार्य होते हैं। समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से प्रगट होने वाला अनन्त क्षायिक वीर्य है। दर्शनमोह के क्षय से क्षायिक दर्शन प्रगट होता है। चारित्रमोह के अत्यन्तक्षय से क्षायिक चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्न—दानांतराय आदि के क्षय से प्रकट होने वाली दानादिलब्धियों के अभय-दान, क्षायिक भोग, उपभोग आदि कार्य सिद्धों में भी होने चाहियें ?

उत्तर—दानादिलब्धियों के कार्य के लिये शरीरनामा नामकर्म और तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म की अपेक्षा है और सिद्धों में इनके नहीं होने से ये लब्धियाँ अव्याबाध, अनंत सुख-रूप से रहती है जैसे कि केवलज्ञान रूप में अनंतवीर्य।

इन क्षायिक भावों में एक सम्यक्त्व ही ऐसा भाव है जो कि चतुर्थ स्थान से भी प्रगट हो सकता है तथा क्षायिक चारित्र भाव बारहवें से प्रगट होता है। बाकी सर्वभाव अर्हंत अवस्था में प्रगट होते हैं। इसीलिये अर्हंत परमात्मा नव केवललब्धि के स्वामी होते हैं।

मिश्रभाव—

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमा-संयम ये १८ मिश्रभाव हैं। इन्हें क्षायोपशमिक भी कहते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान हैं।

मतिज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदयक्षय और आगामी का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर मति-ज्ञान होता है, वह क्षायोपशमिक है। ऐसे सभी के लक्षण समझने चाहियें।

कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदय से ये मिथ्याज्ञान हो जाते हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन हैं। ये भी अपने-अपने आवरणों के क्षयोपशम से होते हैं। क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ,

क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य ये पाँच लब्धियाँ अपने-अपने अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती हैं। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम होने पर तथा सम्यक्त्व नामक देशघाति प्रकृति का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह वेदक सम्यक्त्व भी कहलाता है।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानरूप बारह कषायों के उदयाभावीक्षय और सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा चार संज्वलन कषायों में से किसी एक कषाय और नव नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। इसे सराग-चारित्र भी कहते हैं। अप्रत्याख्यान रूप आठ कषायों का उदयक्षय और सदवस्था रूप उपशम प्रत्याख्यान कषाय का उदय संज्वलन के देशघाति स्पर्धक और यथासम्भव नव नोकषायों का उदय होने पर विरत-अविरत परिणाम उत्पन्न करने वाला क्षायोपशिक संयमासंयम होता है। इसे देशविरत भी कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें तक ही पाया जाता है आगे नहीं। संयमासंयम पंचमगुणस्थान में ही होता है, अन्यत्र नहीं। चार ज्ञान, अवधिदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये भाव भव्य में ही संभव है अभव्य में नहीं। तात्पर्य यही है कि इस बात को जानकर सम्यग्दृष्टि बनकर देशसंयम अथवा पूर्णसंयम को ग्रहण करके अपने भव्यत्व भाव को व्यक्त करना चाहिये।

औदयिक भाव—

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्यायें ये २१ औदयिक भाव हैं।

जिस कर्म के उदय से आत्मा नारक आदि भावों को प्राप्त हो वह गति है। उसके नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं। कषाय नामक चारित्रमोह के उदय से जीव के परिणामों में क्रोधादिरूप कलुषता कषाय है। यह आत्मा के स्वाभाविकरूप को कषती अर्थात् घात कर देती है। इसके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। द्रव्य और भाव के भेद से लिंग दो प्रकार का है। नाम कर्म के उदय से होने वाला द्रव्य-लिंग है और वेदरूप चारित्रमोह के उदय से आत्मा के परिणाम को भावलिंग कहते है। यहाँ आत्म भावों का प्रकरण होने से भाववेद विवक्षित है। स्त्रीवेद के उदय से होने वाली पुरुषाभिलाषा स्त्रीवेद है। पुरुषवेद के उदय से होने वाली स्त्री-अभिलाषा पुरुष-

वेद और नपुंसकवेद के उदय से होने वाली उभयाभिलाषा नपुंसकवेद है। इस तरह भावलिंग के तीन भेद होते हैं।

दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ में अरुचि या अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञान गुण का प्रगट न होना अज्ञान है। जैसे कि प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा ढक जाता है। चारित्रमोह के उदय से हिंसादि पापों में और इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति असंयम है अथवा पाप और विषयों से विरति न होना भी असंयम है। अनादिकर्म बद्ध आत्मा के सामान्यतः सभी कर्मों के उदय से असिद्ध पर्याय होती है।

कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। इसके भी द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या दो भेद हैं। द्रव्य लेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से होती है उसका यहाँ ग्रहण नहीं है। यद्यपि योग की प्रवृत्ति आत्मप्रदेशों के परिस्पंदनरूप होने से क्षायोपशमिक वीर्य लब्धि में अन्तर्भूत हो जाती है और कषायें औदयिक हैं फिर भी कषायोदय के तीव्र मन्द आदि तरतमभाव से अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है। इस लेश्या के छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

कृष्ण आदि छह लेश्या वाले कोई छह पथिक वन के मध्य मार्ग से भ्रष्ट होकर फलों से पूर्ण किसी वृक्ष को देखकर अपने-अपने मन में इस प्रकार सोचते हैं और उसके अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। कृष्ण लेश्या वाला विचार करता है कि मैं इस वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर इसके फलों को भक्षण करूंगा। नील लेश्या वाला विचार करता है कि मैं इस वृक्ष के स्कंध को काट कर इसके फल खाऊंगा। कापोत लेश्या वाला विचारता है कि मैं इस वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाओं को काट कर इसके फल खाऊंगा। पीत लेश्या वाला विचारता है कि मैं इस वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं को काट कर इसके फल खाऊंगा। पद्म लेश्या वाला विचारता है कि मैं इस वृक्ष के फलों को तोड़ कर खाऊंगा तथा शुक्ल लेश्या वाला सोचता है कि मैं इस वृक्ष से टूट कर पड़े हुए फलों को खाऊंगा। इस दृष्टांत से छहों लेश्या वालों के भाव समझना।

इसमें से सभी भाव भव्य और अभव्य दोनों में संभव हैं। मिथ्यात्व भाव पहले गुणस्थान तक, असंयत भाव पहले से चौथे तक, अज्ञान भाव बारहवें तक, असिद्ध भाव चौदहवें के अंत तक एवं शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है। यद्यपि ग्यारहवें से

कषायों का उदय नहीं है फिर भी भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा शुक्ललेश्या उपचार से कही गई है।

पारिणामिक भाव—

पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। कर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम की अपेक्षा न रखकर मात्र द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्ति से प्रगट ये भाव होते हैं। जो अपने चैतन्यरूप भाव प्राणों से जीता है वह जीव है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्याय जिसकी प्रगट होगी वह भव्य है। जिसके यह सम्यक्त्वादि पर्याय प्रगट नहीं होंगी वह अभव्य है।

यहाँ विशेष यह समझना है कि भव्य जीव के भी दो भेद हैं। एक वे कि जो अनंत काल में भी मोक्ष नहीं जायेंगे और दूसरे वे कि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूल सामग्री प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसका उदाहरण यह है कि जैसे विधवा पतिव्रता स्त्री के पुत्र जन्म देने की योग्यता है किन्तु कभी भी उसे पुत्र हो नहीं सकता है। एतावता इन्हें अभव्य नहीं कह सकते हैं चूंकि इनको सिद्ध पद की प्राप्ति न होने पर भी इनमें भव्यत्वशक्ति विद्यमान है तथा अभव्यजीव बंध्या स्त्री के सदृश है जैसे उसे पुत्रोत्पत्ति का समागम मिलने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता है।

पारिणामिक भाव के अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व, असर्वगतत्व, अनादि संततिबद्धनबद्धत्व, प्रदेशवत्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि भेद हैं।

प्रश्न होता है कि पुनः सूत्रकार ने पारिणामिक के तीन भेद ही क्यों कहे हैं तो उसका उत्तर यही है कि वे तीन भाव जीव के असाधारण भाव हैं। किन्तु ये भाव साधारण है अर्थात् अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं अतः सूत्र में जीव के असाधारणभावों का प्रकरण होने से ही इन्हें नहीं लिया है।

प्रश्न—चूंकि आत्मा अमूर्तिक है अतः उसका मूर्तिक कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं हो सकता है?

उत्तर—ऐसा एकांत नहीं है। क्योंकि यह अमूर्तिक आत्मा भी अनादि कर्म बन्धन से बद्ध हो रहा है अतः अनादि कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान हो रहा है इसीलिये उस

पर्याय संबन्धी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है और अपने ज्ञान आदि स्वभाव को न छोड़ने से कथंचित् अमूर्तिक है। कहा भी है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है। अतः आत्मा एकांत से अमूर्तिक नहीं है किन्तु कथंचित् मूर्तिक भी है।

इस प्रकार से यहाँ संक्षेप से जीव के पाँच भावों का—असाधारणरूप स्वतत्त्वों का वर्णन किया गया है। विशेष जिज्ञासु को 'भावत्रिभंगी' का स्वाध्याय करना चाहिये।

द्वादशांग श्रुतज्ञान का विषय

"द्वादशांग श्रुतज्ञान क्या है ?"

"जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि को गणधरदेव धारण करते हैं। पुनः उसे द्वादशांगरूप से गूंथते हैं। अतः भगवान् की वाणी ही द्वादशांग श्रुतज्ञानरूप है।

उस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। इनमें से अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं और अंगबाह्य के चौदह। अंगप्रविष्ट के नाम आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद।

(१) आचारांग—इसमें १८००० पदों द्वारा मुनियों के आचार का वर्णन रहता है। जैसे कि—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सए। कधं भुंजेज्ज भासेज्ज कध पावं ण वज्झई ।।७०।।

जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सए। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई ।।७१।।

किस प्रकार चलना चाहिये ? किस प्रकार खड़े रहना चाहिये ? किस प्रकार बैठना चाहिये ? किस प्रकार शयन करना चाहिये ? किस प्रकार भोजन करना चाहिये ? किस प्रकार संभाषण करना चाहिये और किस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है ?

इस तरह गणधरदेव के प्रश्नों के अनुसार भगवान् उत्तर देते है—

यत्न से चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना चाहिये, यत्नपूर्वक बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करने से पापकर्म का बंध नहीं होता है। इत्यादि रूप से मुनियों के आचार का मूलगुण और नाना प्रकार उत्तरगुणों का वर्णन इस अंग में पाया जाता है।

(२) सूत्रकृतांग—इस अंग में ३६००० पदों द्वारा ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्मक्रिया का प्ररूपण होता है तथा यह स्वसमय और परसमय का भी निरूपण करता है।

(३) स्थानांग—यह अंग ४२००० पदों द्वारा उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। जैसे महात्मा अर्थात् यह जीवद्रव्य निरंतर चैतन्यरूप धर्म से उपयुक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा एक ही है। ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना से लक्ष्यमाण होने के कारण तीन भेदरूप है। चार गतियों में परिभ्रमण की अपेक्षा इसके चार भेद हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पांच प्रधान गुणों से युक्त होने के कारण इसके पांच भेद हैं। भवान्तर में जाते समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इस तरह छह संक्रमण लक्षण अपक्रमों से युक्त होने के कारण छह प्रकार का है। अस्ति, नास्ति इत्यादि सात भंगों से युक्त होने की अपेक्षा सात प्रकार का है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के आश्रय से सहित होने के कारण आठ प्रकार है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नव पदार्थों को विषय करने वाला अथवा इन नव प्रकार के पदार्थोंरूप परिणमन करने वाला, होने की अपेक्षा से नौ प्रकार का है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, द्वींद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियजाति, इन दश भेद से दश स्थान गत होने की अपेक्षा दश प्रकार का कहा जाता है। इत्यादिरूप से जितने भी भेद संभव हैं उन सबका यह अंग वर्णन करता है।

(४) समवायांग—यह अंग १६४००० पदों द्वारा संपूर्ण पदार्थों के समवाय का वर्णन करता है, अर्थात् सादृश्य सामान्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। वह समवाय चार प्रकार का है—द्रव्यसमवाय, क्षेत्रसमवाय, कालसमवाय और भावसमवाय। उनमें से द्रव्यसमवाय की अपेक्षा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश समान हैं। क्षेत्र समवाय की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमंतक नाम का इन्द्रक बिल, ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नाम का इन्द्रक विमान और सिद्ध क्षेत्र ये समान हैं। काल की अपेक्षा एक समय एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है।

भाव की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है, क्योंकि ज्ञेयप्रमाण ज्ञान है और ज्ञान-मात्र चेतना की उपलब्धि होती है।

(५) व्याख्या प्रज्ञप्तिअंग—यह अंग २२८००० पदों द्वारा क्या जीव है ? क्या जीव नहीं है ? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान करता है।

(६) नाथधर्मकथांग—इस अंग का ज्ञातृधर्मकथा भी नाम है। यह ५५६००० पदों द्वारा सूत्र पौरूषी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थंकरों की धर्मदेशना का, संदेह को प्राप्त गणधर के संदेह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा और उपकथाओं का वर्णन करता है।

(७) उपासकाध्ययनांग—यह अंग ११७०००० पदों द्वारा दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण उन्हीं के व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरण का वर्णन करता है।

(८) अन्तकृद्दशांग—यह अंग तेईस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में नाना प्रकार के दारूण उपसर्गों को सहन कर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषों को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुये दश-दश अंतकृत केवलियों का वर्णन करता है।

तत्त्वार्थ भाष्य में भी कहा है—

जिन्होंने संसार का अन्त किया उन्हें अन्तकृत् केवली कहते हैं। वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृत् केवली हुये हैं। इसी प्रकार ऋषभदेव आदि तेईस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दूसरे दश-दश अनगार मुनि दारूण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत् केवली हुये। इन सबकी दशा का जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नाम का अंग कहते हैं।

(९) अनुत्तरौपपादिकदशांग—यह अंग बानवे लाख चवालीस हजार पदों द्वारा एक-एक तीर्थ में नाना प्रकार के दारूण उपसर्गों को सहकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषों को प्राप्त करके पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुये हैं उन दश-दश अनुत्तरौपपादिकों का वर्णन करता है। तत्त्वार्थभाष्य में भी कहा है—

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान है। जो अनुत्तरों में उपपादजन्म से पैदा होते हैं उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अनुत्तरौपपादिक वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में हुए हैं। इसी तरह ऋषभनाथ आदि तेईस तीर्थंकरों के तीर्थ में अन्य दश-दश महासाधु दारूण उपसर्गों को जीतकर विजय आदिक पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले दश साधुओं का जिसमें वर्णन किया जावे उसे अनुत्तरौपपादिक नाम का अंग कहते हैं।

(१०) प्रश्नव्याकरणांग—यह अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदों द्वारा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार कथाओं का तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी धन, धान्य, लाभ, अलाभ, जीवित, मरण, जय और पराजय सम्बन्धी प्रश्नों के पूछने पर उनके उपाय का वर्णन करता है।

आक्षेपणी—जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों का और दूसरे समयों के निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नव प्रकार के पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

विक्षेपणी—जिसमें पहले परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं। अनंतर परसमय की आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है और छह द्रव्य नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं।

सवेदनी—पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा संवेदनी कथा को कहते हैं।

शका—पुण्य के फल कौन से हैं?

समाधान—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं[1]।"

निर्वेदनी—पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

---

1. "काणि पुण्ण फलाणि ? तित्थयरगणहररिसिचक्कवट्टिबलदेववासुदेवसुरविज्जाहररिद्धीओ।"
धवला पु० 1, पृ० 106।

शंका—पाप के फल कौन से हैं ?

समाधान—नरक, तिर्यंच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।

अथवा संसार शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है—

तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्त्व से दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् परमत की एकान्त दृष्टियों का निराकरण करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेदनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेदनी कथा है।

इन कथाओं का प्रतिपादन करते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है अर्थात् जिसका जिनवचन में प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि अन्य सम्प्रदाय का पूर्व पक्ष रखकर जिसमें उनका खण्डन करके अपने पक्ष का मंडन किया जाता है उन्हें ही विक्षेपणी कथा कहते हैं। क्योंकि, जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है और परसमय की प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमय के रहस्य को नहीं जानने वाले पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश न देकर शेष तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को भली भाँति समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से ससक्त होकर ही शरीर में रहता है, उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनवचन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिये। प्ररूपण करके उत्तमरूप से ज्ञान कराने वाले के लिये यह अकथा भी तब कथा रूप हो जाती है। इसलिये योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु को कथा का उपदेश देना चाहिये।

यह प्रश्न व्याकरण नाम का अंग प्रश्न के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का भी प्ररूपण करता है।

(११) विपाकसूत्रांग—यह अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदों द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मों के फलों का वर्णन करता है।

ग्यारह अंगों के कुल पदों का जोड़ चार करोड़, पंद्रह लाख, दो हजार पद है।

(१२) दृष्टिवादांग—यह बारहवां अंग है, इस अंग में कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधुपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियों के एक सौ अस्सी मतों का वर्णन और निराकरण है। मरीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति वाद बलि, माठर और मौदगल्यायन आदि अक्रियावादियों के चौरासी मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। शाकल्य, बल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यन्दिन, मांद, पैप्पलाद, बादरायण, स्वेष्टकृत ऐतिकायन वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के सरसठ मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, बालमीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकवादियों के बत्तीस मतों का वर्णन और निराकरण किया गया है। इस प्रकार से क्रियावादी के १८०+अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७+ वैनयिकवादी के ३२= मिलाकर ३६३ पाखंड मत होते हैं। दृष्टिवाद अंग इन मतों का वर्णन करके उनका खण्डन करता है।

इस दृष्टिवाद अग के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

इनमें से प्रथम परिकर्म नामा भेद के भी पाँच भेद माने गये हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्य प्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।

(१) चन्द्रप्रज्ञप्ति—नाम का परिकर्म छत्तीस लाख पांच हजार पदों द्वारा चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन करता है।

(२) सूर्यप्रज्ञप्ति—नाम का परिकर्म पाँच लाख तीन हजार पदों के द्वारा सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानिवृद्धि, किरणों का प्रमाण और प्रकाश आदि का वर्णन करता है।

(३) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति—नाम का परिकर्म तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा जंबूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुये नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच

आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष (क्षेत्र), आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है।

(४) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति—नाम का परिकर्म बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीपसागर के अंतर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन करता है।

(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति—नाम का परिकर्म चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरूपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव इन सबका वर्णन करता है।

दृष्टिवाद अंग का सूत्र नाम का द्वितीय अर्थाधिकार अठासी लाख पदों के द्वारा जीव अबन्धक ही है, अलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणु प्रमाण ही है, जीव नास्ति स्वरूप ही है, जीव अस्ति स्वरूप ही है, पृथ्वी आदि पाँच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ पाखंड मतों का पूर्वपक्ष रूप से वर्णन करता है पुनः उत्तर पक्ष से उनका निराकरण करता है।

यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है। कहा भी है—

इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अठासी अधिकारों में से चार अधिकारों का अर्थ-निर्देश मिलता है। उनमें पहला अधिकार अबन्धकों का, दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का तथा चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है।

विशेषार्थ—गोशालप्रवर्तित, आजीविक और पाखंडी ये त्रैराशिक कहलाते हैं। क्योंकि ये सर्ववस्तुओं को तीन रूप मानते हैं। जैसे—जीव, अजीव और जीवाजीव। लोक, अलोक और लोकालोक। सत्, असत और सदसत् इत्यादि। नियतिवादी लोग कहते हैं कि जब, जिसके द्वारा, जैसे, जिसका, जो होना है, तब, उसके द्वारा, वैसे ही, उसका होता है। यह भी एकान्त मान्यता है। बौद्धों का एक भेद विज्ञानवाद है इसकी ऐसी मान्यता है कि जगत् में दिखने वाले सभी चेतन अचेतन पदार्थ मात्र ज्ञान स्वरूप ही हैं। बस यह ज्ञान-मात्र ही एक परमार्थ तत्त्व है और सब कल्पना जाल है इत्यादि। ब्रह्माद्वैतवादी सकल

जगत् को एक शब्दरूप ही मानते हैं उनका कहना है कि सचेतन अचेतन पदार्थ शब्द से ही अनुबद्ध होकर प्रतिभासित होते हैं। प्रधानवाद सांख्यों का सिद्धांत है। इसका अभिप्राय है कि सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रधान है इत्यादि। यही सांख्य द्रव्यमात्र को ही मानता है, पर्यायों को नहीं। अतः द्रव्यमात्र सिद्धान्त भी सांख्यों का ही है। पुरुषवादी लोग पुरुषार्थ को ही सब कार्यों की सिद्धि का करने वाला कहते हैं। ये सब एकांतवाद मिथ्यारूप हैं। इस सूत्र नाम के भेद में इन सभी मिथ्यामतों का स्वरूप बताकर उनका निराकरण किया जाता है।

दृष्टिवाद अंग का प्रथमानुप्रयोग—नाम का तीसरा अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है। कहा भी है—

जिनेंद्रदेव ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंश का वर्णन करते है। पहला अरिहंत अर्थात् तीर्थंकरों का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण, प्रतिनारायणों का, पाँचवां चारणों का, चारण ऋषियों का, छठा प्रज्ञाश्रमणों का वंश है तथा सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नवमां इक्ष्वाकुवंश, दशवां काश्यप वंश, ग्यारहवां वादियों का वंश और बारहवां नाथवंश है।

दृष्टिवाद अंग का पूर्वगत नाम का चौथा अर्थाधिकार पंचानवे करोड़, पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि का वर्णन करता है। इस अर्थाधिकार के चौदह भेद हैं—

उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवाद-पूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिंदुसारपूर्व।

(१) उत्पादपूर्व—यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है।

(२) अग्रायणीयपूर्व—अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधानभूत वस्तु के अयन अर्थात् ज्ञान को अग्रायण कहते हैं। उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणीयपूर्व कहते हैं। यह पूर्व चौदह वस्तुगत, दो सौ अस्सी प्राभृतों के छयानवे लाख पदों द्वारा अंगों के अग्र अर्थात् परिमाण का कथन करता है।

(३) वीर्यानुप्रवादपूर्व—यह पूर्व आठ वस्तुगत, एक सौ साठ प्राभृतों के सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य भाववीर्य और तपवीर्य का वर्णन करता है।

(४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—यह पूर्व अठारह वस्तुगत, तीन सौ साठ प्राभृतों के साठ लाख पदों द्वारा जीव और अजीव के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का वर्णन करता है। जैसे जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है। जिस समय वह स्वद्रव्य चतुष्टय और परद्रव्यचतुष्ट के द्वारा अक्रम से अर्थात् युगपत विवक्षित होता है उस समय स्यादवक्तव्य रूप है। स्वद्रव्यादिरूप प्रथम धर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्तिनास्ति रूप है। स्यात्, अस्तिरूप प्रथम धर्म से और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय विवक्षित होता है उस समय कथंचित् अस्ति अवक्तव्य रूप है। स्यात् नास्ति रूप द्वितीय धर्म और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम में विवक्षित होता है उस समय कथंचित् नास्ति अवक्तव्य रूप है। स्यात् अस्तिरूप प्रथम धर्म, स्यात्नास्ति रूप द्वितीय धर्म और स्यात् अवक्तव्य रूप तृतीय धर्म से जिस समय क्रम से विवक्षित होता है उस कथंचित् अस्तिनास्ति अवक्तव्य रूप जीव है। इसी तरह अजीव आदि का भी कथन करना चाहिए।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व—यह पूर्व बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभृतों के एक कम एक करोड़ पदों द्वारा पाँच ज्ञान तीन अज्ञानों का वर्णन करता है तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनादि-अनंत, अनादि-सान्त, सादि अनन्त और सादि-सान्त रूप ज्ञानादि तथा इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करता है।

(६) सत्यप्रवादपूर्व—यह पूर्व बारह वस्तुगत, दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों द्वारा वचनगुप्ति, वाक् संस्कार के कारण, वचनप्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्य वचन और दस प्रकार के सत्य वचन इन सबका वर्णन करता है।

असत्य नहीं बोलने को अथवा वचन संयम-मौन के धारण करने को वचनगुप्ति कहते हैं।

मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वा का मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचन संस्कार के कारण हैं।

शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचन प्रयोग का स्वरूप सरल है।

बारह प्रकार की भाषा के नाम निम्न प्रकार हैं—अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशून्य वचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निकृतिवचन, अप्रणति-वचन, मोषवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शन वचन।

"यह इसका कर्ता है" इस तरह अनिष्ट करने को अभ्याख्यान भाषा कहते हैं। कलह का अर्थ स्पष्ट ही है अर्थात् परस्पर विरोध के बढ़ाने वाले को कलह कहते हैं। पीछे से दोष प्रकट करने को पैशून्य वचन कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध से रहित वचनों को अबद्धप्रलाप वचन कहते हैं। इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग उत्पन्न करने वाले वचनों को रतिवचन कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों के प्रति अरुचि या द्वेष उत्पन्न करने वाले वचनों को अरति वचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर परिग्रह रक्षण और अर्जन करने में आसक्ति उत्पन्न होती है उसे उपधि वचन कहते है। जिस वचन को अवधारण करके जीव व्यापार करते समय ठगने रूप प्रवृत्ति करने में समर्थ होता है उसे निकृति वचन कहते है। जिस वचन को सुनकर तप और ज्ञान से अधिक गुण वाले पुरुषों में भी जीव नम्रीभूत नहीं होता है उसे अप्रणति वचन कहते हैं। जिस वचन को सुनकर चौर्य कर्म में प्रवृत्ति होती है उसे मोष वचन कहते हैं। समीचीन मार्ग के उपदेश देने वाले वचनों को सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं। मिथ्या मार्ग के उपदेश देने वाले वचनों को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।

जिनमें वक्तृपर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रिय से आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत्य अनेक प्रकार का है।

सत्यवचन के दस भेद होते हैं—नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्य।

मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्य को व्यवहार के लिये जो संज्ञा की जाती है उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे, ऐश्वर्य आदि गुणों के न होने पर भी किसी का नाम "इन्द्र" ऐसा रखना नाम सत्य है। पदार्थ के नहीं होने पर भी रूप की मुख्यता से जो वचन कहे जाते हैं उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदि में चैतन्य और और उपयोगादि रूप अर्थ के नहीं रहने पर भी "पुरुष" इत्यादि कहना रूप सत्य है। मूल पदार्थ के नहीं रहने पर भी कार्य के लिए जो द्यूतसम्बन्धी अक्ष (जुये सम्बन्धी पांसा) आदि में स्थापना की जाती है उसे स्थापना सत्य कहते हैं। सादि और अनादि भावों की अपेक्षा

जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्य सत्य कहते हैं। लोक में जो वचन संवृति-कल्पना के आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संवृति सत्य कहते हैं। जैसे, पृथ्वी आदि अनेक कारणों के रहने पर भी जो पंक कीचड़ में उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि। धूप के सुगंधीपूर्ण अनुलेपन और प्रघर्षण के समय, अथवा पद्‌म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंच आदि रूप व्यूह रचना के समय सचेतन-अचेतन द्रव्यों के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजना सत्य कहते हैं। आर्य और अनार्य के भेद से बत्तीस देशों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्राप्त कराने वाले वचन को जनपद सत्य कहते हैं। ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल आदि के धर्मों के उपदेश करने वाले जो वचन हैं उन्हें देश सत्य कहते हैं। छद्‌मस्थों का ज्ञान यद्यपि द्रव्य की यथार्थता का निर्णय नहीं कर सकता है तो भी अपने धर्म के पालन करने के लिए "यह प्रासुक है' यह अप्रासुक है" इत्यादि रूप से जो संयत और श्रावक के वचन हैं उन्हें भाव सत्य कहते हैं। आगम गम्य प्रतिनियत छह प्रकार के द्रव्य और उनके पर्यायों की यथार्थता के प्रगट करने वाले जो वचन है उन्हें समय सत्य कहते हैं।

(७) आत्मप्रवाद पूर्व—यह पूर्व सोलह वस्तुगत, तीन सौ बीस प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा जीववेत्ता है, विष्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है इत्यादि रूप से आत्मा का वर्णन करता है। कहा भी है—

"जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्‌गल है, वेद है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सकता है, मानी है, जन्तु है, मायावी है, योग सहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है।"

आगे इन्हीं दोनों गाथाओं का अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है—जीता है, जीवित रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है। शुभ और अशुभ कार्य को करता है, इसलिये कर्ता है। सत्य-असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है। इसके प्राण पाये जाते हैं, इसलिये प्राणी है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार में पुण्य और पाप का भोग करता है, इसलिये भोक्ता है। छह प्रकार के संस्थान और नाना प्रकार के शरीरों द्वारा पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुद्‌गल है। सुख और दुःख का वेदन करता है, इसलिये वेद है अथवा जानता है, इसलिये वेद है। प्राप्त हुये शरीर को व्याप्त करता है, इसलिये विष्णु है। स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयंभू है। संसार अवस्था में इसके शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है। मनु ज्ञान

को कहते हैं, उसमें यह उत्पन्न हुआ है, इसलिये मानव है। स्वजन, सम्बन्धी, मित्रवर्ग आदि में आसक्त रहता है, इसलिये सक्ता है। चार गतिरूप संसार में उत्पन्न होता है और दूसरों को उत्पन्न करता है, इसलिये जन्तु है। इसके मान कषाय पाई जाती है, इसलिये मानी है। इसके माया कषाय पाई जाती है, अतः मायावी है। इसके तीन योग होते हैं, इसलिये योगी है। अतिसूक्ष्म देह मिलने से संकुचित होता है, इसलिये संकुट है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है। क्षेत्र अर्थात् अपने स्वरूप को जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ है। आठ कर्मों के भीतर रहता है, इसलिये अन्तरात्मा है।

(८) कर्मप्रवादपूर्व—यह पूर्व बीस वस्तुगत, चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का वर्णन करता है।

(९) प्रत्याख्यानपूर्व—यह पूर्व तीस वस्तुगत, छह प्राभृतों के चौरासी लाख पदों द्वारा द्रव्य-भाव आदि की अपेक्षा परिमित काल रूप और अपरिमित रूप प्रत्याख्यान, उपवास विधि, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन करता है।

(१०) विद्यानुवादपूर्व—यह पंद्रह वस्तुगत, तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दस लाख पदों द्वारा अंगुष्ठ, प्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह इन आठ महा निमित्तों का वर्णन करता है।

(११) कल्याणवादपूर्व—यह दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के छब्बीस करोड़ पदों द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षी के शब्दों का और अरिहन्त अर्थात् तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याणकों का वर्णन करता है।

(१२) प्राणावायपूर्व—यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों द्वारा शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिये किये गये भस्मलेपन सूत्रबन्धनादि कर्म, जांगुलि प्रक्रम, (विषविद्या) और प्राणयाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

(१३) क्रियाविशालपूर्व—यह पूर्व दस वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के नौ करोड़ पदों द्वारा लेखन कला आदि बहत्तर कलाओं का, स्त्री संबन्धी गुण-दोष विधि का और छन्द निर्माण कला का वर्णन करता है।

(१४) लोकबिंदुसारपूर्व—यह पूर्व दस वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के बारह करोड़ पचास लाख पदों द्वारा आठ प्रकार के व्यवहारों का, चार प्रकार के बीजों का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष-सुख का वर्णन करता है।

इन चौदह पूर्वों में सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एक सौ पंचानवे हैं और सम्पूर्ण प्राभृतों का जोड़ तीन हजार नौ सौ है।

दृष्टिवाद अंग का पंचम भेद जो चूलिका है उसके भी पांच भेद हैं—

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

(१) जलगता चूलिका—यह चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पदों द्वारा जल में गमन और जलस्तंभन के कारणभूत मंत्र तंत्र तथा तपश्चर्या रूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

(२) स्थलगता चूलिका—यह उतने ही (२०९८९२००) पदों द्वारा पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बंधी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

(३) मायागता चूलिका—यह उतने ही पदों द्वारा मायारूप इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

(४) रूपगता चूलिका—यह भी उतने ही पदों द्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादि के स्वरूप के आकार रूप से परिगमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

(५) आकाशगता चूलिका—उतने ही उपर्युक्त पदों द्वारा आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

इन पांचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दस करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार पद हैं।

विशेष—जिनेंद्र देव की वाणी द्वादशांगरूप है। इस द्वादशांग में ग्यारह अंगों में क्या-क्या विषय हैं उन्हें यहां दिखाया गया है। पुनः बारहवें अंग के पांच भेद—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका हैं। इनके विषयों को भी यहां संक्षेप में लिखा गया है। अतः भगवान् की वाणी में आयुर्वेद, मंत्र, तंत्र, निमित्त ज्ञान आदि सभी विषय

आ गये हैं। बारहवें अंग के परिकर्म नामक प्रथम भेद के पांच भेदों में "जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति" यह तृतीय भेद है। इसका लक्षण धवला में इस प्रकार से किया है—

"जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म तीन लाख पचीस हजार पदों के द्वारा जंबूद्वीप में स्थित भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुये नाना प्रकार के मनुष्य तथा तिर्यंच आदि का और पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष (क्षेत्र), आवास, अकृत्रिम जिनालय आदि का वर्णन करता है[1]।"

वास्तव में इन अंगों में व्यवहारनय की मुख्यता से ही जीवादि तत्त्वों का वर्णन किया गया है। ये अंग साक्षात् भगवान की वाणीरूप हैं, अतः इन्हें असत्य भी नहीं कह सकते हैं, तथा संपूर्ण ऋद्धियों के स्वामी और मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्यय इन चार ज्ञान से समन्वित उसी भव से मोक्ष जाने वाले ऐसे गौतम गणधर ने इन अंग पूर्वों की रचना की है। इन द्वादश अंगों में सबसे प्रथम आचारांग है जिसका अत्यधिक महत्त्व है। सबसे प्रथम भगवान ने मोक्ष मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है, न कि श्रावक धर्म का। श्रावक धर्म का उपदेश तो सातवें उपासकाध्ययन नाम के अंग में किया है। अतः इन अंगों के विषय को पढ़कर मोक्ष मार्ग में चलने का प्रयत्न हर एक मोक्षाभिलाषी को करना ही चाहिये।

जब इन अंगों का विषय तीर्थंकर देव ने प्रतिपादित किया है, पुनः उसी दिव्य-ध्वनि को श्री गणधर देवों ने द्रव्य श्रुतरूप से कहा है, तब यहां यह सोचना चाहिए कि क्या महावीर तीर्थंकर व गौतम गणधर जनता को प्रपंच में उलझाने वाले हैं? यदि समयसार के पढ़ने मात्र से ही सम्यग्दर्शन हो जाता अथवा समयसार के ज्ञान से ही आत्म-ज्ञान होकर मोक्ष सुलभ हो जाती तो इन ग्यारह अंगों के पढ़ने-पढ़ाने का उपदेश भगवान महावीर ने क्यों दिया? समयसार सदृश आध्यात्मिक ग्रन्थ ही बता देते और कह देते कि इतने ग्रन्थ के अध्ययन मात्र से ही मोक्ष मिल जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, तभी तो पूर्व में तीर्थंकर होने वाले महामुनियों ने भी इन अंगों का तथा पूर्वों का अध्ययन किया था। देखिये—

हरिवंश पुराण में लिखा है कि वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों ने तीर्थंकर से पूर्व तीसरे भव में गुरुओं के निकट जिनदीक्षा ली थी। इनमें से वृषभदेव पूर्वभव में

1. धवला पुस्तक १, पृ० १११।

चक्रवर्ती थे तथा चौदह पूर्वों के धारक थे, और शेष तीर्थंकर महामण्डलेश्वर थे एवं ग्यारह अंग के वेत्ता हुये थे[1]।

इस प्रकरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इन अंग-पूर्वों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। मात्र समयसार आदि ग्रन्थों के आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्महित होना सरल नहीं है। अतः आज भी उपलब्ध जो श्रुतशास्त्र हैं जो कि बारहवें दृष्टिवाद अंग के अंशरूप हैं ऐसे धवला आदि ग्रन्थों का तथा उनके साररूप गोम्मटसार-जीवकांड, कर्मकांड, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार जैसे ग्रन्थों का अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिये।

बारहवें अंग में मुख्य रूप से ३६३ पाखंडमतों का स्वरूप बताकर उनका अच्छी तरह से खंडन किया गया है। अतः आजकल जो कुछ लोगों की विचारधारा है कि "अपना ही सिद्धांत प्रतिपादित करते रहो दूसरों का खंडन मत करो" उन्हें भी समझ लेना चाहिये कि जब द्वादशांग जैसे महान् श्रुत भंडार में खंडन करने का विधान है तब क्या बिना खंडन किये स्वमत प्रतिपादन सही तरीके से हो सकता है? नहीं, अतः खंडन और मंडन इन दोनों बातों को यथोचित महत्त्व देना ही चाहिये। मिथ्या मत के खंडन का खंडन कर देने से तो उसका मंडन ही हो जाता है इसलिये आगम की आज्ञा को गलत कथमपि नहीं कहना चाहिये।

उसी प्रकार से आपने परिकर्म के पांचों भेदों का रहस्य समझा है। पुनः सूत्र में क्या-क्या वर्णित है? सो भी हृदयंगम किया है। अनंतर आपने यह भी समझा है कि प्रथमानुयोग भी द्वादशांग का अवयव है, अतः आजकल जो लोग प्रथमानुयोग को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं उन्हें भी अन्य-अन्य अनुयोगों के सदृश ही उसका आदर करते हुये रुचि से उसका स्वाध्याय करना चाहिये क्योंकि पुण्य पुरुषों का चरित ही हमें पुण्य पुरुष बनायेगा यह निश्चित है।

इसमें सत्य प्रवाद पूर्व के अन्तर्गत असत्य भाषा एवं सत्य भाषाओं का अच्छी तरह से मनन करना चाहिये और असत्य भाषाओं को छोड़कर सत्य वचनों में प्रवृत्ति करनी चाहिये। सत्य वचन से वाक् सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सर्वत्र विश्वस्तता रहती है और

1. हरिवंश पुराण पर्व ६०, पृ० ७१८।

परम्परा से इस सत्य के प्रभाव से ही जीव "दिव्यध्वनि" के स्वामी बन जाते हैं जिसके द्वारा असंख्य जीवों को वे धर्मोपदेश देकर संसार समुद्र से पार कर देते हैं। अतः सत्य वचनों का सदैव आदर करना चाहिये। आत्मप्रवादपूर्व में आत्मा के स्वरूप का वर्णन आया है उसे पढ़कर आत्मा का स्वरूप सर्वांगीण समझकर उस पर श्रद्धान रखना चाहिये। उसी प्रकार कर्मप्रवाद पूर्व आदि के विषय भी भगवान् तीर्थंकर की वाणी हैं। इसमें दसवें विद्यानुवाद पूर्व को पढ़ने के बाद विद्यादेवता आती है उस समय कदाचित् कोई साधु उनके प्रलोभन में पड़कर चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं तो वे 'भिन्नदशपूर्वी' हो जाते हैं तथा जो मुनि सर्वथा उन विद्या देवताओं के प्रलोभन में न आकर उन्हें वापस कर देते हैं वे "अभिन्नदशपूर्वी" हैं। जो ११ अंग १४ पूर्वों के वेत्ता है वे "चतुर्दशपूर्वी" कहलाते हैं, आदि के दो शुक्ल ध्यान इनको ही होते हैं। यथा "शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।" यह सूत्रवचन है। इससे द्वादशांग श्रुतज्ञान का महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है। आजकल जो केवल अध्यात्म को रट लगाये हुये हैं और अन्य करुणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि की उपेक्षा करते है या उन्हें अप्रयोजनीभूत कहते है वे वास्तव में एकांती हैं। अनेकांत के रहस्य से काफी दूर हैं। हमें निश्चित विश्वास रखना चाहिये कि तीर्थंकर परमदेव किसी को वंचित करने वाले नहीं थे। यदि मात्र अध्यात्म शास्त्र से ही आत्म हित होता तो वे अवश्य ही स्पष्ट कह देते कि अन्य आगम के पढ़ने से कोई लाभ नहीं है। अथवा अन्य आगमों का प्रतिपादन ही वे नहीं करते। किन्तु ऐसी बात नहीं है अतः द्वादशांगमय श्रुतज्ञान हमें कब प्राप्त हो ऐसी भावना भाते हुये श्रुतदेवता की सतत उपासना करनी चाहिये। आज द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं है। मात्र जो भी ग्रन्थ उपलब्ध है वे उसी के अंशभूत हैं। हाँ, षट्खंडागम, कषायपाहुड़ और महाबंध ग्रन्थ में द्वादशांग के किसी अंग-पूर्व का कुछ विशेष अंश माना गया है अतः इन ग्रन्थों को महान् आदर से देखते हुये उन्हें साक्षात् भगवान् की वाणी ही समझना चाहिये। शेष ग्रन्थों को भी भगवान् की वाणी का अंश ही निश्चित करके सतत सर्व जैन ग्रन्थों को प्रमाण मानना चाहिए।

श्रुत पंचमी

वैशाख सुदी दशमी के दिन भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था किन्तु गणधर के अभाव में छयासठ दिन तक उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी। उस समय इन्द्र ने बुद्धि बल से इंद्रभूति नामा ब्राह्मण को वहां उपस्थित किया। गोतम गोत्रीय इंद्रभूति ने पाँच-पाँच सौ शिष्यों सहित अपने भाई अग्निभूति और वायुभूति के साथ तथा अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के समवसरण में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्क्षण ही वे मनःपर्यय ज्ञान से और सात महाऋद्धियों से सम्पन्न होकर भगवान् के प्रथम गणधर हो गये। पुनः उन्होंने भगवान् से 'जीव है या नहीं ?' इत्यादि रूप से अनेकों प्रश्न किये। उस समय भगवान् की दिव्य ध्वनि खिरने लगी।

राजगृह नगर में विपुलाचल पर्वत के ऊपर भगवान् महावीर की सबसे प्रथम दिव्य देशना हुई है। वह दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदा का था को कि आज भी 'वीर शासन जयंती' के नाम से प्रसिद्ध है। गौतम स्वामी ने उसी दिन बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में रचना की। इस तरह भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुये इसलिये द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। इस तरह गौतम गणधर से ग्रन्थ रचना हुई।

गौतम स्वामी ने दोनों प्रकार का ज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने भी जंबूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से ये तीनों ही सकल श्रुत के धारक कहलाये। और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाये तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुये। गौतम स्थविर, लोहाचार्य और जंबूस्वामी ये तीनों ही सप्तर्द्धिसम्पन्न सकलश्रुतधर होकर अंत में केवलज्ञानी होकर निर्वाण को प्राप्त हुये। इसके बाद विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से चौदह पूर्व के धारी हुये। अनंतर विशाखाचार्य' प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थ स्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन येग्यारह महामुनि ग्यारह अंग और दश पूर्वों के ज्ञाता हुये तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुये। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाचों ही आचार्य ग्यारह अंगों के ज्ञाता हुये और

चौदह पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुये। तदनंतर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग-पूर्वों के एक देश के धारक हुये। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्यपरम्परा[1] से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।

सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चंद्रगुफा में रहने वाले, अष्टांग महानिमित्त ज्ञानी, श्री धरसेनाचार्य ने 'अंगपूर्वश्रुतज्ञान का विच्छेद न हो जाये इसलिये' महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में आये हुये दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख को पढ़कर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, नानागुण युक्त, देश, कुल और जाति से शुद्ध ऐसे दो साधुओं को आंध्र देश की वेणा नदी के तट से भेजा।

इधर धरसेनाचार्य ने स्वप्न में देखा कि अत्यन्त शुभ्र और उन्नत दो बैल हमारी तीन प्रदक्षिणा देकर चरणों में पड़ गये है। स्वप्न से सन्तुष्ट हुये श्रीधरसेन भट्टारक ने "जयतु श्रुतदेवता" ऐसा वाक्य उच्चारण किया और उठ बैठे। उसी दिन प्रात. वे दोनों मुनि श्रीगुरु के पास पहुँचे और विनयपूर्वक कृतिकर्म विधि से उनकी पादवंदना की। अनंतर दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनों ने निवेदन किया कि हम श्रुत अध्ययन हेतु आपके पादमूल में आये हुये हैं।' उनके वचनों को सुनकर गुरु ने 'अच्छा है' कल्याण हो' ऐसा कहकर उन्हें आश्वासन दिया।

पुनः भगवान् ने विचार किया कि 'साधु भग्नघट आदि के समान श्रोताओं को मोह से श्रुत का व्याख्यान करते हैं वे रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भववन में चिरकाल तक भ्रमण करते हैं।' इस वचन के अनुसार स्वच्छंदतापूर्वक आचरण करने वाले श्रोताओं को विद्या देना संसार और भय का ही बढ़ाने वाला है ऐसा सोचकर, शुभ स्वप्न देखने मात्र से ही यद्यपि आचार्य श्री ने उन मुनियों की विशेषता को जान लिया था तो भी उनकी

---

1. नंदि-आम्नाय की प्राकृत पट्टावली मे लोहाचार्य के अनतर 'अर्हद्बलि, माघनदि, धरसेन, पुष्पदत और भूतबली' ऐसा क्रम लिया है। एवं इंद्रनंदिकृत श्रुतावतार मे लोहाचार्य के अनतर अगपूर्व के एकदेश ज्ञाता मे 'बिनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त ये चार नाम कहे है। पुनः अर्हद्बलि नाम के महान् ज्ञानी आचार्य हुये जिन्होंने पृथक्-पृथक् संघ व्यवस्था बनाई। इनके बाद 'माघनदि आचार्य हुये वे भी अगपूर्व के एक देश ज्ञाता थे पुन. धरसेनाचार्य हुये।

परीक्षा लेने का निश्चय किया, क्योंकि उत्तम प्रकार की परीक्षा ही हृदय में संतोष को उत्पन्न करती है।

इसके बाद आचार्य ने उन दोनों को दो विद्यायें दीं। उनमें से एक अधिक अक्षर वाली थी और दूसरी हीन अक्षर वाली थी। विद्यायें देकर उनसे कहा कि बेला करके इनको सिद्ध करो। जब उनको विद्यायें सिद्ध हो गईं[1], तो उन्होंने विद्या की अधिष्ठात्री देवताओं को देखा कि एक देवी के दांत बाहर निकले हुये हैं और दूसरी कानी है। 'विकलांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं होता है' इस प्रकार उन दोनों ने विचार कर मंत्र सम्बन्धी व्याकरण शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षर वाली विद्या में अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षर वाली विद्या में से अक्षर निकाल कर मंत्र फिर से सिद्ध करना प्रारम्भ किया। जिससे वे दोनों विद्यादेवतायें अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूप में स्थित दिखलाई पड़ीं।

तदनंतर भगवान् धरसेन के समक्ष आकर उन दोनों ने विनय सहित सारा वृत्तांत निवेदित किया। 'बहुत अच्छा' इस प्रकार संतुष्ट हुये धरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभवार में ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुये धरसेन भगवान् से उन दोनों ने आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाण्हकाल में ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया इसलिये संतुष्ट हुये भूतजाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्प, बलि तथा शंख और तूर्य जाति के वाद्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर भट्टारक धरसेन ने उनका 'भूतबलि' यह नाम रखा। तथा जिनकी भूतों ने पूजा की है और अस्त-व्यस्त दंतपंक्ति को दूर करके जिनके दाँत समान कर दिये है ऐसे दूसरे का भी धरसे भट्टारकन ने 'पुष्पदंत' नाम रखखा।

अनंतर उसी दिन वहाँ से भेजे गए उन दोनों ने 'गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है ऐसा विचार कर आते हुये अंकलेश्वर गुजरात में [2]वर्षाकाल बिताया। वर्षा योग समाप्त कर जिनपालित[3] को देखकर (उसको साथ लेकर) पुष्पदंत आचार्य तो वनवासि देश को चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देश को चले गये। तदनंतर पुष्पदंत आचार्य ने

1. नेमिनाथ की निर्वाण भूमि शिला पर जाकर उन्होंने गुरु आज्ञा से विद्या सिद्ध की [श्रुतावतार]
2. इन महामुनि ने श्रावणवदी पंचमी को यहाँ आकर वर्षा योग ग्रहण किया [श्रुतावतार]
3. ये जिन पालित पुष्पदंत के भानजे थे। [श्रुतावतार]

जिनपालित को दीक्षा देकर पुनः बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। जिनपालित मुनि को और उनके पास बीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणा के सूत्रों को देखकर तथा जिनपालित के मुख से पुष्पदंत आचार्य की अल्पायु जानकर विचार किया कि 'महाकर्म प्रकृति प्राभृत का विच्छेद हो जायेगा अतः हमें इस कार्य को पूरा करना चाहिये' ऐसा सोचकर भगवान् भूतबलि ने "[1]द्रव्यप्रमाणानुगम' को आदि लेकर ग्रन्थ रचना की। इसलिये खड-सिद्धान्त की अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य ने 'जीवस्थान, खुद्दाबंध, बंधस्वामित्व, वेदनाखंड, वर्गणाखंड और महाबंध' नामक षट्खंडागम की रचना की है[2]।

धवला में षट्खंडागम की रचना का इतना ही इतिहास पाया जाता है। इससे आगे का वृत्तान्त इन्द्रनंदि कृत श्रुतावतार में मिलता है।

"श्री भूतबलि आचार्य ने षट्खंडागम की रचना पुस्तकबद्ध करकेज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चतुर्विध संघ के साथ उन पुस्तकों को उपकरण श्रुतज्ञान की पूजा की। "इसलिये श्रुत पंचमी तिथि तभी से प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है और आज तक भी जैन लोग श्रुत पंचमी के दिन श्रुतपूजा करते हैं[3]।" फिर भूतबलि ने उन षट्खंडागम पुस्तकों को जिनपालित के हाथ पुष्पदंत गुरु के पास भेजा। उन्हें देखकर और चिंतत कार्य को सफल जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने भी चातुर्वर्ण संघसहित सिद्धान्त की पूजाकी। यह तो षट्खंडागम सिद्धांत की उत्पत्ति कही है।

ऐसे ही कषायप्राभृत महाग्रन्थराज को श्री गुणधर आचार्य ने बनाया है। इन दोनों प्रकार के सिद्धांत ग्रंथों का द्रव्य भाव पुस्तकगत ज्ञान गुरुपरम्परा से आता हुआ कुंदकुंद-पुर के मुनि श्रीपद्मनंदि[4] आचार्य को प्राप्त हुआ।

षट्खंडागम पर टीकायें—

इन पद्मनंदि अपर नाम श्रीकुंदकुंदाचार्य ने पहले षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम का एकटीका ग्रंथ रचा। पुनः कुछ काल के

---

1. वर्तमान मे मुद्रित धवला की तृतीय पुस्तक से श्रीभूतबलिआचार्यकृत सूत्र हैं। इसके पूर्व १७७ सूत्ररचना पुष्पदंत आचार्य की है।
2. यहाँ तक प्रकरण धवला पुस्तक ? पृ० ६६ से ७२ तक के आधार से कथन है।
3. श्रुतपंचमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरिय परामाप। अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैनाः॥ [श्रुतावतार]
4. बहुतेक विद्वानों के निर्णय से ये ही समयसार आदि के कर्ता भगवान् कुंदकुंदाचार्य है।

बाद 'शामकुंड' नाम के आचार्य ने छठे खंड को छोड़कर पाँच खंडों पर तथा दूसरे सिद्धांत ग्रंथ कषायप्राभृत पर 'पद्धति' नाम से टीका रची। यह टीका भी बारह हजार श्लोक प्रमाण थी और संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नड़ इन तीनों भाषाओं से मिश्रित थी। कुछ काल बाद तुंबुलूर ग्राम में तुंबुलूर नाम के आचार्य हुये हैं। इन्होंने छठे खंड के अतिरिक्त पूर्व के पांच खंडों पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण से 'चूड़ामणि' नाम की टीका रची। तथा छठे खंड पर सात हजार प्रमाण में 'पंचिका' लिखी है। यह कर्णाटक भाषा में थी। इसके भी कुछ काल बाद 'तार्किकार्क' नाम से प्रसिद्ध श्रीसमंतभद्रस्वामी हुये हैं। उन्होंने भी दोनों ही सिद्धांतों का अध्ययन करके षट्खंडागम के पाँच खंडों पर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण में संस्कृत भाषा में अति सुंदर और मृदुल टीका रची है। इसके ये स्वामी द्वितीय सिद्धांत की भी टीका रचने वाले थे, किंतु उनके एक सहधर्मी ने द्रव्यादि शुद्धि के करने के प्रयत्न का अभाव होने से उन्हें रोक दिया।

इसी परंपरा में 'शुभनंदि' और 'रविनंदि' नाम के दो मुनि इन सिद्धांतों के ज्ञाता हुये। उनसे समस्त सिद्धांत को सीखकर श्री 'बप्पदेव' गुरु ने महाबंध को छोड़ शेष पांच खंडों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम की टीका रची। पुनः महाबंध पर संक्षिप्त व्याख्या लिखकर कषायप्राभृत की टीका रची। ये सब रचना प्राकृत में थी। तथा पांच खंड और कषाय-प्राभृत इनकी टीका का प्रमाण साठ हजार एवं छठे खंड की टीका का पांच अधिक आठ हजार प्रमाण था। कुछ काल के व्यतीत हो जाने पर चित्रकूट पुरवासी श्री एलाचार्य महामुनि सिद्धांतवेत्ता हुये। उनके पास सकल सिद्धांत का अध्ययन करके श्री वीरसेनाचार्य ने निबंधन आदि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरु की आज्ञा से वे वाट ग्राम में आये और वहाँ के आनतेंद्र द्वारा बनवाये हुये जिनालय में ठहरे। वहीं पर उन्हें बप्पदेव गुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका प्राप्त हो गई, फिर उन बंधन आदि को अठारह अधिकारों में पूरा करके 'सत्कर्म' नाम का छठवाँ खंड संक्षेप से तैयार किया और इस प्रकार 'षट्खंडागम' की बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित 'धवला'[1] नाम की टीका लिखी। पुनः कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर बीस हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला' टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गवासी हो गये।

1. इस धवला टीका के अतिरिक्त ऊपर कथित पांचो टीकायें आज उपलब्ध नहीं हैं।

तब उनके शिष्य जिनसेन ने उस जयधवला टीका को आगे चालीस हजार श्लोक प्रमाण बनाकर पूर्ण किया। इस प्रकार 'जयधवला' टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण हुई। आज 'धवला टीका' समन्वित षट्खंडागम प्रकाशित हो चुका है और 'जयधवला' टीका समन्वित 'कषायपाहुड' ग्रन्थ भी छपा है।

इस प्रकार से इस 'श्रुतावतार' का श्री इंद्रनंदियति ने निरूपण किया है। श्रुत-पंचमी के दिन साधुवर्ग भव्य जीवों के समक्ष इस श्रुतावतार का वाचन करें ऐसा आदेश दिया है।

इस श्रुतपंचमी के दिन श्रावक और श्राविकाओं का भी कर्तव्य है कि श्रुत की बड़े समारोह से पूजन करें या श्रुतस्कंधविधान करे। तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुरक्षित करके उन्हें नूतन वेष्टन में बांधे और आचार्यों द्वारा प्रणीत तथा वर्तमान में मुद्रित ग्रन्थों को मंगाकर मंदिर में विराजमान करें और सिद्ध, श्रुत भक्ति आदि करके केवलज्ञान को प्राप्त करने में सहायक ऐसा पुण्य संचित कर लेवें।

पंचकल्याणक

इस भरत क्षेत्र के आर्य खंड में चतुर्थ काल में हमेशा २४ तीर्थंकरों का अवतार होता रहता है। कोई भी महापुरुष तीर्थंकर के पादमूल में रहकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं को भाते हैं और उसके प्रसाद से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर के स्वर्गों में देवपद को प्राप्त कर लेते हैं।

उन तीर्थंकर होने वाले के मर्त्यलोक में गर्भावतार के छह माह पूर्व ही माता के आंगण में इंद्र की आज्ञा से कुबेर रत्नों की वर्षा करने लगता है। श्री, लक्ष्मी, धृति, कीर्ति आदि निन्यानवे विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियाँ भी छह माह पूर्व ही बड़े हर्ष से वहाँ आ जाती हैं। और जिनेंद्रदेव के होनहार माता-पिता को नमस्कार करके अपने आने का कारण निवेदन करती हैं। पुनः नाना प्रकार से माता की सेवा में तत्पर हो जाती हैं। कोई माता के गुणों का गान करती हैं, कोई पैर दबाती हैं कोई दिव्य भोजन की व्यवस्था करती हैं, कोई छत्र लगाती हैं, कोई चमर ढोरती हैं, कोई तलवार चक्र और स्वर्णमयी बेंत हाथ में लेकर द्वारपाल का काम करती हैं।

गर्भकल्याणक—छह महीने के अनंतर एक दिन रात्रि के पिछले भाग में माता को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं। जो कि क्रम से १. ऐरावत हाथी, २. बैल, ३. सिंह, ४. हाथियों द्वारा अभिषेक होती हुई लक्ष्मी, ५. दो मालायें, ६. चंद्रमा, ७. उगता हुआ सूर्य, ८. मीन युगल, ९. जल से भरे दो कलश, १०. कमल सहित सरोवर, ११. महासमुद्र, १२. सुवर्णमय सिंहासन, १३. देव विमान, १४. नागेन्द्रभवन, १५. महारत्नराशि, १६. निर्धूम अग्नि। इन स्वप्नों को देखकर माता निद्रा को दूर कर प्रातः क्रिया से निवृत होकर राजदरबार में राजा के पास पहुँचती हैं और यथायोग्य आसन पर बैठकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक अपने स्वप्नों को निवेदित करती हैं। उन्हें सुनकर महाराजा प्रत्युत्तर में कहते है कि—

हे प्रिये ! निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर ने अवतार ले लिया है। लगातार छह मास से होने वाली रत्नों की वर्षा और देवियों के द्वारा की

हुई शुश्रूषा से हम दोनों को जिनेंद्रदेव के जिस जन्म की सूचना मिली थी वह आज सफल हुई हैं। यह सुनकर कांति को धारण करती हुई माता अतीव प्रसन्नता को प्राप्त हो जाती हैं।

क्रम-क्रम से गर्भ की वृद्धि होने पर भी माता की त्रिवलि की शोभा भंग नहीं होती है। तीर्थंकर शिशु का गर्भ में निवास वैसा ही होता है कि जैसा जल में प्रतिबिंबित सूर्य का होता है। मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा जगत को देखते हुये जिन बालक, दिक्कुमारियों के द्वारा शुद्ध किये हुये गर्भ में नौ मास तक सुख से स्थित रहते हैं। गर्भ में आने के नौ माह पूर्ण होने तक लगातार रत्नों की वर्षा हो रहती है।

जन्मकल्याणक—अनंतर सर्वोच्च शुभ ग्रहों में शुभ नक्षत्र में पूर्व दिशा के सदृश जिनमाता जिन बालक रूपी सूर्य को जन्म देती हैं। उसी समय भवनवासी देवों के यहाँ अपने आप शंखों का शब्द, व्यंतरों के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिषी देवों के यहां सिंह-नाद और कल्पवासी देवों के यहाँ घंटाओं का जोरदार शब्द होने लगता है। तीनों लोकों में स्थित सभी इन्द्रों के मुकुट झुक जाते है, उनके आसन कंपित हो उठते हैं और उनके कल्पवृक्षों से पुष्प वृष्टि होने लगती हैं। अवधिज्ञान से जानकर इंद्रमहाराज भगवान् की दिशा में सात पेंड चलकर उन्हें परोक्ष में नमस्कार करके उनके जन्मकल्याणक को मनाने हेतु सभी देवों को चलने की सूचना कर देते है।

उधर माताजी की सेवा में तत्पर हुई देवियाँ शीघ्र ही करने योग्य जातकर्म में लग जाती हैं। विजया, वैजयंती, जयंती, अपराजिता, नंदा, नंदोत्तरा, नंदी और नंदिवर्धना ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथों में झारी लेकर खड़ी हो जाती हैं। सुस्थिता, प्रणिधान्या, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीमती, कीर्तिमती, वसुंधरा और चित्रा ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथों में दर्पण लेकर खड़ी होती हैं। इला, सुरा, पृथिवी, पद्मावती, कांचना, सीता, नव-मिका और भद्रिका ये आठ दिक्कुमारी देवियां माता के ऊपर सफेद छत्र धारण करती हैं। ह्रीं, श्री, धृति, वारुणी, पुण्डरीकिणी, अलंबुसा, अलंबुजास्यश्री और मिश्रकेशी ये दिक्कुमारी देवियाँ चामर ढोरती हैं। चित्रा, कनकचित्रा, सूत्रामणि और त्रिशिरा ये चार विद्युत्कुमारी देवियाँ सर्वत्र प्रकाश फैलाती हैं। विजया, वैजयंती, जयंती और अपराजिता ये चार विद्युत्कुमारियों की प्रधान देवियाँ तथा रुचका रुचकोज्ज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा

ये चार दिक्कुमारियों की प्रधान देवियाँ ये आठों ही देवियाँ जिनेंद्रदेव का जातकर्म करती हैं।

सेनापति के द्वारा सौधर्म इंद्र का आदेश सुनाया जाने पर स्वर्ग के समस्त देव अपनी-अपनी सेना और परिवार सहित सौधर्म इंद्र के निकट आ जाते हैं। समस्त भवन-वासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी देव अपने-अपने स्थानों से बाहर आ जाते हैं। सोलह स्वर्ग तक के इंद्र अपने-अपने परिकर सहित चल पड़ते हैं। उस समय हाथी, घोड़ा, रथ, पदाति, बैल, गंधर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं से आकाश मंडल व्याप्त हो जाता है।

सौधर्म इंद्र अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर चल पड़ता है। असंख्य देवों का समूह निमिष मात्र में तीर्थंकर देव की जन्म नगरी में आ जाता है। उस नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर इंद्र भीतर प्रवेश करता है और जिनेंद्रशिशु को लाने के लिये इंद्राणी को आज्ञा देता है। इंद्राणी माता के प्रसूति गृह में प्रवेश कर माया से माता को सुखनिद्रा में निमग्न कर उनके पास मायामयी दूसरा बालक सुलाकर जिनबालक को प्रणाम कर पुनः उन्हें दोनों हाथों से उठा लेती हैं। उस समय अतीव हर्ष से रोमांचित हुई उस देवी को इतना आनंद होता है कि तत्क्षण ही संचित हुआ पुण्य उसे मात्र एक भवावतारी बना देता है। इंद्राणी बालक को गोद में लेकर बाहर आकर इंद्र को सौंप देती हैं। इंद्र उस क्षण हजार नेत्र बनाकर जिनदेव के रूप को देखते हुये भी तृप्त नहीं होता है। पुनः प्रभु को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर बैठ जाता है और महावैभव के साथ अर्ध निमिष मात्र में सुदर्शन मेरु पर पहुंच जाता है। पहले मेरुपर्वत की तीन प्रदक्षिणा देता है पुनः उसके पांडुकवन में पांडुकशिला पर स्थित सिंहासन पर जिनबालक को विराजमान करके आप स्वयं अभिषेक करने के योग्य वेषधारण कर लेता है।

क्षीरोदधि से भर भरकर लाये गये एक हजार आठ कलशों का दृश्य अतीव मनो-रम दिखता है। सबसे प्रथम सौधर्म इंद्र प्रभु का अभिषेक करते हैं पुनः हजारों देव मिल-कर अभिषेक करते हैं और "इंद्राणी आदि देवियाँ भी सुगंधित जल से भरे कलशों द्वारा भगवान् का अभिषेक करती हैं।" पुनः भगवान् के शरीर को पोंछकर नाना प्रकार के सुंदर वस्त्रों को और आभूषणों को पहनाकर अलंकृत करती हैं। अनंतर इंद्र जिनबालक का नाम रखकर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर वहाँ पर तांडव नृत्य आदि करते

हुये महान् उत्सव मनाते हैं। पश्चात् जिनबालक की सेवा करने के लिये देवों को उनके पास छोड़कर और भगवान् के हाथ के अंगूठे में अमृत आरोपित कर इंद्रादि देव अपने-अपने स्थानों पर चले जाते हैं। भगवान् उस अंगूठे को चूसकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे माता के स्तन का पान नहीं करते हैं। भगवान् के बड़े होने पर उनके लिये भोजन और वस्त्र आदि सामग्री देव लोग स्वर्ग से ही लाते हैं। युवावस्था में कोई-कोई तो ब्याह करके गृह-स्थाश्रम में प्रवेश करते हैं और कोई बाल ब्रह्मचारी ही रहते हैं। उनके राज्य पट्ट के समय भी इंद्रादि देव गण आकर उनका राज्याभिषेक करते हैं। प्रभु के राज्य शासन में प्रजा परम सुख और सौभाग्य का अनुभव करती है।

दीक्षा कल्याणक—जातिस्मरण, मेघविलय आदि किन्हीं कारणों से जब तीर्थंकर देव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है। तब उसी क्षण लौकांतिक देव आ जाते हैं और भगवान् को नमस्कार कर उनके वैराग्य की प्रशंसा करते हुये सातिशय पुण्य संचय करके वापस चले जाते हैं। पुनः सौधर्म इंद्र आदि देवगण आकर प्रभु का महा-भिषेक करके उन्हें पालकी में विराजमान करते हैं। पहले राजागण पुनः विद्याधर उस पालकी को ले चलते हैं उसके बाद इंद्रादि देव अपने कंधों पर रखकर आकाशमार्ग से दीक्षावन में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर पहले से ही इंद्राणी चौक पूर कर रखती हैं। उस पर विराजमान होकर भगवान् सर्व आभूषणों का त्याग करके पंचमुष्ठि केशलोंचकर डालते हैं। इंद्र उन केशों को रत्नपिटारे में रखकर ले जाकर उन्हें क्षीरसागर में विर्सजित कर देता है। भगवान् उस समय बेला, तेला आदि उपवास का नियम लेकर ध्यान में लीन हो जाते हैं। अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। जब ध्यान समाप्त होता है तब वे पारणा के लिये ग्राम, नगर में प्रवेश करते हैं। कोई महाभाग्यशाली राजा उन्हें पड़गाहन कर निर्दोष और प्रासुक आहार प्रदान करके देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि को प्राप्त करता है। वह दातार नियम से मोक्षगामी होता है। अनंतर भगवान् मौनपूर्वक तपश्चरण करते हुये अपना छद्मस्थ काल व्यतीत करते हैं।

ज्ञान कल्याणक—कदाचित् किसी वन में निश्चल ध्यान से आरूढ़ हुये भगवान् क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके घातिया कर्मों का नाश कर देते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। उसी क्षण सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर वहाँ आकर समवसरण की रचना कर देता है। उस समवसरण में भगवान् चार अंगुल अधर विराजमान रहते हैं। उस समय कोई राजा महाराजा दीक्षा लेकर भगवान् के गणधर हो जाते हैं। तब भगवान् की दिव्य-ध्वनि खिरती है। जो कि सात सौ अठारह भाषाओं में होती हैं अथवा समवसरण की बारह सभा में बैठे हुये असंख्य प्राणी उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। इस समव-सरण में चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ होते हैं जिनके दर्शन से मिथ्यादृष्टि लोगों का मान गलित हो जाता है। बारह सभा में दाहिनी ओर से लेकर क्रम से—१. मुनि, २. कल्प-वासिनी देवियाँ, ३. आर्यिकायें, ४. ज्योतिषी देवों की देवियाँ, ५. व्यंतर देवों की देवियाँ, ६. भवनवासी देवों की देवियाँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यंतर देव, ६. ज्योतिषी देव, १०. कल्पवासी देव, ११. मनुष्य और १२. तिर्यंच ये पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्थान में बैठकर भगवान् का दिव्य उपदेश श्रवण करते है। भगवान् का जहाँ-जहाँ श्री विहार होता है वहाँ-वहाँ दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, शोक आदि संकटों का अभाव हो जाता है। बल्कि ५० वर्ष तक उस भूमि में कोई उपद्रव आदि नहीं होते हैं। पापी, विरुद्ध कार्य करने वाले, पाखंडी, नपुंसक, विकलांग और विकलेंद्रिय जीव उस समवसरण में प्रवेश नहीं कर पाते हैं वे बाहर ही बाहर प्रदक्षिणा देते हैं। समवसरण भूमि तल से बीस हजार हाथ प्रमाण ऊँचा रहता है अतः इसमें २० हजार पैड़ियाँ रहती हैं। वृद्ध, बालक आदि कोई भी नर-नारी भक्ति से अंतर्मुहूर्त मात्र में संपूर्ण सीढ़ियों को पार कर जाते हैं। यह सब भगवान् के केवलज्ञान का ही माहात्म्य है।

मोक्ष कल्याणक—अधिक से अधिक एक और कम से कम दो दिन की जब आयु शेष रह जाती है तब भगवान् निश्चल ध्यान में आरूढ़ होकर योगों का निरोध कर लेते हैं। उस समय समवसरण विघटित हो जाता है। भगवान् अंत में शेष अघाति कर्मों का भी विनाश कर एक समय मात्र में ऊर्ध्व लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाते हैं वहाँ पर अक्षय, अनंत, अविनाशी, शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं। उसी समय मुनियों का श्रेष्ठ संघ, देवों का समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओं का समूह ये सब तीव्रभक्ति वश गंध, पुष्प, धूप, अक्षत और देदीप्यमान दीपक आदि के द्वारा जगद्गुरु देवाधिदेव के शरीर की

पूजा कर नमस्कार करते हैं। और अग्निकुमार देव के मुकुटानल से उसका संस्कार करके उस पवित्र भस्म को अपने-अपने ललाट आदि उत्तम स्थानों में लगाकर अपने को पवित्र करके कृतकृत्य होते हुये अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

जहाँ पर तीर्थंकर महापुरुष जन्म लेते हैं, दीक्षा ग्रहण करते हैं, केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और निर्वाण को प्राप्त करते हैं ये कल्याणक स्थान कहलाते हैं। ये पवित्र स्थान मनुष्यों ही क्या देव और इन्द्रों के द्वारा तथा महामुनियों के द्वारा भी पूज्यता को प्राप्त हुये महातीर्थ कहलाते हैं। आज तीर्थंकरों का अवतार न होने से हमें प्रत्यक्ष में उनके कल्याणकों को देखने का अवसर नहीं मिलता है फिर भी जब जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा विधि की जाती है उस समय उन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों का दृश्य दिखाया जाता है। जो इस पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को करते हैं, कराते हैं, अनुमोदना देते हैं और देखते हैं तथा सुनते हैं वे सभी महान् पुण्य के भागी होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

जैन धर्म

"कर्मारातीन् जयतीति जिनः" जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लेता है वह "जिन" है। और "जिनो देवता अस्येति जैनः" जिन हैं देवता जिसके वह "जैन" कहलाता है। "संसार दुःखतः सत्वान् यो उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः" जो संसार के दुःख से जीवों को निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचाता है वह धर्म है। इस प्रकार से जिन देव के अनुयायी का धर्म "जैनधर्म" है। अथवा जिनदेव द्वारा कथित धर्म "जैन धर्म" है। यह धर्म प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है अतः इसे "सार्वधर्म" या "सर्वोदय तीर्थ" भी कहते हैं।

यह सम्पूर्ण चराचर विश्व अनादि निधन है और इसमें परिभ्रमण करने वाले जीव भी अनादिनिधन हैं। जब कोई जीव संसार के दुःखों से घबरा जाता है। तब वह धर्म की छत्र छाया में आकर सुखी होना चाहता है। उसके लिए यह जैनधर्म कल्पवृक्ष के समान है। जितने भी सांसारिक सुख हैं वे भी इस धर्म के प्रसाद से ही मिलते हैं और मोक्ष सुख भी इस धर्म से ही मिलता है। यहाँ कालपरिवर्तन से लेकर आत्मा को परमात्मा बनने के उपाय तक अति संक्षेप में जैनधर्म की कुछ मूल-मूल बातों को बताया गया है।

प्रथमानुयोग—

षट्काल परिवर्तन—जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के दो विभाग होते हैं। दश कोड़ाकोड़ी सागर की अवसर्पिणी और इतनी ही बड़ी उत्सर्पिणी है। जिसमें मनुष्यों एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई, वैभव, सुख आदि घटते जाते हैं वह अवसर्पिणी एवं जिसमें बढ़ते जाते हैं वह उत्सर्पिणी कहलाती है। इन दोनों को मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है।[1] अवसर्पिणी के छह भेद हैं—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। उत्सर्पिणी के भी अन्तिम से लेकर ये ही छह भेद हैं। इनमें प्रथम सुषमसुषमा काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का है, दूसरा तीन कोड़ाकोड़ी का, तीसरा दो कोड़ा-कोड़ी का, चौथा ब्यालीस हजार

1. तिलोयपण्णति, अ० प० पृ० १८४।

वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी का, पांचवां इक्कीस हजार वर्ष का और छठा इक्कीस हजार वर्ष का है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में अन्त से लेना चाहिए।

सुषम-सुषमाकाल—इस काल में पृथ्वी रज, धूम, अग्नि, हिम, कंटक आदि से रहित एवं बिच्छू, शंख, मक्खी आदि विकलत्रय जीवों से रहित होती है। इस काल में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो कि पृथ्वी कायिक हैं। इनसे वहाँ के लोग भोग-उपभोग सामग्री प्राप्त करते हैं। पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। ये अपने नाम के अनुसार ही वस्तुओं को देते रहते हैं। यथा पानांग दूध, जल आदि पेय द्रव्य, तूर्यांग, वीणा आदि वादित्र, भूषणांग कंकण मुकुट आदि आभूषण, वस्त्रांग, नाना प्रकार के वस्त्र भोजनांग अनेक प्रकार के भोजन, आलयांग अनेक प्रकार के मकान, दीपांग दीपक, भाजनांग बर्तन और मालांग जाति के कल्पवृक्ष मालाये देते हैं तथा तेजांग कल्पवृक्ष सूर्य चन्द्र से भी अधिक कांति विस्तारते हैं।

उस समय वहां पर जन्म लेने वाले मनुष्य युगल ही उत्पन्न होते हैं। उनके जन्म लेते ही पिता छींक आने से और माता जंभाई लेकर के मरण को प्राप्त हो जाते हैं। पुनः ये युगल शय्या पर सोते हुये अंगूठा चूस कर तीन दिन निकाल देते हैं। पुनः बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन की योग्यता ये छहों बातें क्रमशः तीन-तीन दिन में पूर्ण हो जाती है। तब वे युगल तरुण होकर इच्छानुसार कल्पवृक्षों से भोगादि सामग्री मांगकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रथम काल में मनुष्यों की आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई तीन कोश की कही है। सो इस काल के अंत में घटते-घटते आयु दो पल्य की व ऊँचाई दो कोश की हो जाती है।

सुषमाकाल—इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु दो पल्य की और ऊँचाई दो कोश की रहती है। पश्चात् घटते-घटते आयु एक पल्य की व ऊँचाई एक कोश की रह जाती है। इस काल में मनुष्य युगल अंगूठा चूसना, बैठना आदि में ५-५ दिन लेते हैं।

सुषमदुःषमाकाल—इस तृतीय काल में प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक पल्य की एवं ऊँचाई एक कोश की रहती है। इसमें मनुष्य युगल अंगूठा चूसना बैठना आदिक्रियाओं में ७-७ दिन ग्रहण करते हैं। इन तीनों कालों में क्रम से उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था मानी गई है।

कुलकरों की उत्पत्ति—इस तृतीय काल में जब कुछ कम पल्य का आठवां भागकाल शेष रह गया था तब प्रथम कुलकर उत्पन्न हुये थे उनका नाम "प्रतिश्रुति" था। इनके शरीर की ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष, आयु पल्य के दशवें भागप्रमाण थी और इनकी भार्या का नाम स्वयंप्रभा था। उस समय आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन आकाश में सूर्य-चंद्र मण्डलों को देखकर सभी भोगभूमिज मनुष्य व्याकुल हो उठे। तब प्रतिश्रुति ने कहा—

"डरो मत! कालवश तेजांग जाति के कल्पवृक्ष मंद हो जाने से आकाश में ये ज्योतिषी देवों के विमान सूर्य मण्डल, चन्द्र मण्डल दिखाई दे रहे हैं। ये पहले भी थे किंतु तेजांग कल्पवृक्ष के तेज से दिखते नहीं थे अतः डरने की कोई बात नहीं है। इतना सुनकर सभी लोग निर्भय होकर उन्हें अपना कुलकर स्वीकार कर उनकी पूजा स्तुति करने लगे।

अनंतर इन कुलकर की मृत्यु के बहुत दिन बाद दूसरे कुलकर उत्पन्न हुये जिनका नाम सन्मति था। ऐसे ही क्रम से क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराय उत्पन्न हुये हैं। प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराय पर्यन्त ये चौदह कुलकर माने गये हैं। क्रम-क्रम से इनकी आयु और शरीर की ऊंचाई घटती चली आई है। इन कुलकरों ने क्रम से चन्द्र, सूर्योदय से भय मिटाना, अंधकार व तारागण से भय हटाना, व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं की संगति त्याग कराना, सिंहादि से रक्षा के उपाय बताना, कल्पवृक्षों की सीमा करना, तरु गुच्छादि चिन्हों से सीमा करना, हाथी आदि की सवारी का उपदेश, बालक का मुख देखना, बालक का नामकरण करना, बालकों का रोना दूर करना, ठंडी आदि से रक्षा करना, नाव आदि द्वारा नदी आदि पार करना, बालकों के जरायुपटल दूर करना और नाभि की नाल काटना कार्य प्रजा को सिखाये हैं। इसीलिये इन्हें कुलकर, कुलधर और मनु आदि नामों से पुकारा गया है। अंतिम कुलकर नाभिराज की आयु एक पूर्व कोटि[1] वर्ष और शरीर की ऊँचाई पांच सौ पचीस धनुष थी।

तीर्थंकर ऋषभदेव—जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब नाभिराय और मरुदेवी से अलंकृत स्थान में उनके पुण्य से इन्द्र ने आकर वहाँ पर अयोध्या नगरी की

---

1. एक लाख वर्ष को चौरासी से गुणा करने पर पूर्वांग होता है। और पूर्वांग को चौरासी लाख से गुणा करने पर एक पूर्व होता है। ऐसे एक करोड़ पूर्व वर्षों की आयु थी।

रचना कर दी। पुनः कुछ दिन बाद इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि "छह महीने बाद प्रथम तीर्थंकर इनके यहाँ स्वर्ग से अवतीर्ण होंगे।" अतः आदर से नाभिराय के आंगन में रत्नों की वर्षा करना शुरू करा दी। किसी दिन महारानी मरुदेवी ने पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे, उसी दिन इन्द्र ने असंख्य देव देवियों के साथ आकर माता-पिता की पूजा करके गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया।

इस अवसर्पिणी के तृतीय काल में जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर अहमिंद्र का जीव माता मरुदेवी के गर्भ में आ गया। इसके छह माह पूर्व से ही श्री आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर थीं। नव महीने बाद चैत्र कृष्णा नवमी के दिन माता मरुदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। इन्द्रादि देवों ने आकर तीर्थंकर शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया पुनः "ऋषभदेव" यह नाम रखकर वापस लाकर माता-पिता को सौंप दिया। इन्द्र के द्वारा भेजे गये देव बालकों के साथ क्रीड़ा करते हुये तीर्थंकर ऋषभदेव का बाल्यकाल व्यतीत हो गया। युवावस्था मे महाराजा नाभिराय ने तीर्थंकर ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनंदा के साथ सम्पन्न कर दिया।

रानी यशस्वती ने क्रम से भरत, वृषभसेन आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी पुत्री को जन्म दिया तथा रानी सुनंदा ने बाहुबली पुत्र और सुन्दरी पुत्री को जन्म दिया। क्रम-क्रम से सभी पुत्र-पुत्री किशोरावस्था को प्राप्त हो गये।

एक समय प्रभु ऋषभदेव ने ब्राह्मी को "अ आ इ ई" आदि वर्णमाला और सुन्दरी को १, २ आदि अंक विद्या सिखाई। तथा दोनों कन्याओं को व्याकरण, छंद आदि सर्व विद्या और कलाओं में निष्णात कर दिया। पुनः भरत, बाहुबली आदि पुत्रों को भी सम्पूर्ण विद्या, कलाओं में प्रवीण कर दिया।

इसी बीच एक दिन प्रजा के कुछ प्रमुख लोग भगवान् की शरण में आये और बोले—

"भगवन्! कल्पवृक्ष के नष्ट हो जाने से हम लोग भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे हैं। अतः आप हमें अब जीवन का उपाय बतलाइये।"

प्रजा के दीन वचन सुनकर प्रभु ऋषभदेव का हृदय करुणा से आर्द्र हो गया। और मन में सोचने लगे—

"पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि आदि छह कर्म है, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है उसी प्रकार यहाँ पर भी होना चाहिए।"[1]

प्रभु के स्मरण मात्र से उसी क्षण सौधर्म इंद्र आ गया। और उसने प्रभु की आज्ञानुसार देश, नगर, ग्राम, घर आदि की व्यवस्था बना दी। पुनः प्रभु ने स्वयं प्रजा के लिये असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन प्रकार के वर्ण की व्यवस्था बनाई और भोजन बनाने से लेकर विवाह विधि तक सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम की क्रियाओं का उपदेश दिया। चूँकि उस समय प्रभु सरागी थे गृहस्थाश्रम में महाराजा थे वीतरागी नहीं थे।

कितने ही समय बाद इन्द्र सहित देवों ने आकर श्री ऋषभदेव का सम्राट पद पर अभिषेक कर दिया[1] "इसके बाद श्री ऋषभदेव सम्राट ने हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार क्षत्रियों को बुलाकर उनका राज्याभिषेक कराकर उन्हें महामाण्डलिक राजा बना दिया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति थे। सोमप्रभ, सम्राटप्रभु से "कुरुराज" नाम पाकर कुरुदेश के राजा हुये। हरि, प्रभु से "हरिकांत" नाम को पाकर हरिवंश को अलंकृत करने लगे। "अकंपन" भी प्रभु से "श्रीधर" नाम पाकर नाथवंश के नायक हुये और "काश्यप" भी जगद्गुरु से "मघवा" नाम पाकर उग्रवंश के तिलक हुये हैं।"[2]

किसी समय इन्द्र ने सभा में नृत्य, संगीत आदि का आयोजन किया था। नीलांजना नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी, मध्य में ही उसकी आयु खत्म हो जाने से वह विलीन हो गई और उसी क्षण इन्द्र ने दूसरी अप्सरा खड़ी कर दी, नृत्य ज्यों का त्यों चालू रहा,

---

1. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता:। साद्य प्रवर्तनीयात्र यतो जीवन्त्यमूः प्रजा:॥ १४३॥
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधा:॥१४४॥
आदि पु०, पर्व १६, पृष्ठ–३५६

2. आदि पुराण, पर्व १६, पृष्ठ–३७०।

कोई भी सभासद इस रहस्य को जान नहीं सके किंतु अवधिज्ञानी प्रभु ऋषभदेव ने जान लिया। तत्क्षण ही उन्हें वैराग्य हो गया। तब लौकांतिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की, तत्पश्चात् इन्द्रादि देवों ने आकर प्रभु को "सुदर्शना" नाम की पालकी पर विराजमान किया। प्रभु ने सिद्धार्थक नामक वन में जाकर संपूर्ण वस्त्राभरणों का त्याग कर पंचमुष्टि केशलोच किया। और "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सिद्धों की साक्षी पूर्वक जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इन्द्र ने प्रभु का तपकल्याणक महोत्सव मनाया पुनः स्व स्व स्थान चले गये।

तीर्थंकर ऋषभदेव छह महीने का योग लेकर ध्यान में निश्चल खड़े हो गये। उस समय प्रभु की देखादेखी बिना कुछ समझे बूझे ही मात्र उनकी भक्ति से प्रेरित हो कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी नग्न वेष बना लिया और वहीं ध्यान में खड़े हो गये। किन्तु कुछ ही दिन बाद वे सब राजा (साधु) भूख-प्यास से व्याकुल हो वन में घूमने लगे। वन-वन के फल आदि खाकर निर्झर का जल पीने लगे। तभी वन देवता ने कहा "इस अर्हंत मुद्रा में तुम लोगों को अपने हाथ से इस प्रकार फल, जलादि ग्रहण करना उचित नहीं है।" तब वे लोग डर गये और नग्नवेष में वैसा न कर नाना वेष बना लिये। किसी ने वल्कल पहना, किसी ने लंगोटी पहन ली, किसी ने जटायें बढ़ा लीं तो किसी ने भस्म लपेट ली और वे सब नाना प्रकार से चेष्टा करते हुवे वहीं वन में रहने लगे। श्री ऋषभदेव के बड़े पुत्र सम्राट् भरत, उनका एक पुत्र मरीचिकुमार था वह भी दीक्षित हो गया था सो वह उन सब भ्रष्ट तापसियों में अगुआ बन गया।

छह माह का योग समाप्त कर जब महायोगी ऋषभदेव आहार के लिये निकले तब किसी को भी दिगंबर मुनि को आहार देने की विधि न मालूम होने से पुनः उन्हें छह महीने का उपवास हो गया। अनंतर वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन हस्तिनापुर के राजकुमार श्रेयांस को जातिस्मरण द्वारा आहार विधि का ज्ञान हो जाने से उन्होंने महामुनि ऋषभदेव का पड़गाहन कर विधिवत् उन्हें इक्षुरस का आहार दिया। उसी दिन से वह तिथि "अक्षयतृतीया" के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् एक हजार वर्ष के तपश्चरण के फलस्वरूप प्रभु को केवलज्ञान प्रगट हो गया। जिससे उन्होंने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्यों को धर्मोपदेश दिया। अंत में सर्व कर्मों का नाश कर कैलाश पर्वत से

निर्वाण पद को प्राप्त किया है। ऐसे ये ऋषभदेव इस युग की आदि में गृहस्थधर्म और मुनिधर्म के विधाता होने से "आदिब्रह्मा" कहलाये हैं।

जब चतुर्थकाल के प्रारंभ होने में तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष शेष रहा था तभी भगवान् ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया था। यह हुंडावसर्पिणी काल के दोष का ही प्रभाव है कि जो पहले तीर्थंकर तृतीय काल में ही होकर मोक्ष चले गये हैं।

सम्राट् भरत—भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा के पहले अपने बड़े पुत्र भरत को अयोध्या का राजा बनाया था और शेष सौ पुत्रों को यथायोग्य राज्य बांट दिया था। जब भगवान् को केवलज्ञान हुआ उसी दिन भरत के आयुधगृह में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था। उससे भरत ने सम्पूर्ण छहखण्ड पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। कालांतर में उन्होंने ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की थी तथा प्रजा में अनुशासन व दण्ड के अनेक प्रकार स्थापित करते हुये राज्य संचालन किया था। आज उन्हीं सम्राट् भरत के नाम से यह देश "भारतवर्ष" कहलाता है।

दुःषमसुषमाकाल—इस चतुर्थ काल में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष और शरीर की ऊंचाई ५२५ धनुष प्रमाण रहती है। पुनः घटते-घटते अंत में आयु १२० वर्ष एवं शरीर की ऊंचाई ७ हाथ मात्र की रह जाती है।

श्री ऋषभदेव के मोक्ष जाने के बाद पचास लाख करोड़ सागरों के बीत जाने पर श्री अजितनाथ तीर्थंकर हुये हैं। इसी तरह इस ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर के चतुर्थ काल में क्रम-क्रम से अजितनाथ आदि महावीर पर्यंत तेईस तीर्थंकर हुये हैं। भरत आदि बारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और चौबीस तीर्थंकर ये त्रेसठ शलाका पुरुष माने गये हैं जो कि प्रत्येक चतुर्थकाल में होते हैं।

जब पंचम काल प्रवेश होने में तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल शेष रह गया था तभी श्री महावीर स्वामी कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात में पावापुरी से मोक्ष पधारे थे।

तीर्थंकरों के शरीर की अवगाहना—

श्री ऋषभदेव के शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण थी। अजितनाथ की ४५०, संभवनाथ की ४००, अभिनंदन नाथ की ३५०, सुमतिनाथ की ३००, पद्मप्रभ की २५०, सुपार्श्वनाथ की २००, चन्द्रप्रभ की १५०, पुष्पदंत की १००, शीतलनाथ की ९०, श्रेयांसनाथ की ८०, वासुपूज्य की ७०, विमलनाथ की ६०, अनन्तनाथ की ५०, धर्मनाथ की ४५, शांतिनाथ की ४०, कुंथुनाथ की ३५, अरनाथ की ३०, मल्लिनाथ की २५, मुनिसुव्रत की २०, नमिनाथ की १५ और नेमिनाथ की १०, धनुष प्रमाण थी। पार्श्वनाथ के शरीर की ऊंचाई ९ हाथ एवं महावीर स्वामी के शरीर की ऊंचाई ७ हाथ प्रमाण थी। इसी प्रकार से इस अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में आयु, शरीर की ऊंचाई आदि घटते-घटते रहते हैं।

दुषमाकाल—इस पंचम काल के प्रथम प्रवेश में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊंचाई सात हाथ होती है। यह काल इक्कीस हजार वर्ष का है। इसमें आयु, ऊंचाई आदि घटते-घटते अंत में आयु मात्र बीस वर्ष की और शरीर की ऊंचाई तीन या साढ़े तीन हाथ मात्र रहती है। चतुर्थ काल के जन्मे हुये कुछ महापुरुष इस काल में निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि गौतम स्वामी, जंबूस्वामी आदि। किन्तु पंचम काल के जन्मे हुये कोई भी मनुष्य पंचम काल में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं। आज यहाँ भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में यह दुःषमा नाम का पंचम काल ही चल रहा है, जिसके लगभग २५०६ वर्ष ही हुये हैं।

भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद गौतमस्वामी से लेकर क्रम से अंग, पूर्व और मात्र आचारांग के धारी महामुनि ६८३ वर्ष तक होते रहे हैं। पुनः श्री गुणधराचार्य, श्री धरसेनाचार्य, श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री यतिवृषभाचार्य, श्री उमास्वामी आचार्य, श्री समंतभद्र, श्री अकलंकदेव, श्री पूज्यपाद आदि महान्-महान् आचार्य धर्म की परंपरा को और श्रुत की परंपरा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ होते रहे हैं। विक्रम की इस बीसवीं शताब्दी में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महामुनि, श्री वीरसागराचार्य, आदि महान् संघ धुरंधर आचार्य हुये हैं। वर्तमान में श्री धर्मसागर जी, श्री देशभूषण जी, श्री विमलसागर जी आदि आचार्य चतुर्विध संघ का संरक्षण करते हुये विचरण कर रहे हैं।

श्री यतिवृषभाचार्य ने कहा है कि—"गौतमस्वामी से लेकर आचारांग धारी तक का काल ६८३ वर्ष है। इसके आगे जो श्रुततीर्थ धर्मतीर्थ प्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। अर्थात् ६८३ + २०३१७ = २१००० वर्ष तक धर्मतीर्थ चलता रहेगा। यहाँ स्पष्ट अर्थ है कि भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद २१ हजार वर्ष प्रमाण इस पंचम काल में बराबर धर्मतीर्थ चलता रहेगा। धर्मतीर्थ से मतलब है कि चातुर्वर्ण्य मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ जन्म लेता रहेगा।[1]

इस पंचम काल के अन्त में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगे। अंतिम कल्की राजा की आज्ञा से मंत्री द्वारा मुनिराज के हाथ का प्रथम ग्रास शुल्क रूप में मांगे जाने पर मुनिराज अंतराय मानकर आहार छोड़कर चले आयेंगे और आर्यिका तथा श्रावक-श्राविका को बुलाकर आदेश देंगे, कि "अब पंचम काल का अंत आ चुका है हमारी और तुम्हारी आयु भी मात्र तीन दिन की शेष है और यह अन्तिम कल्की राजा हुआ है अतः अब सल्लेखना ग्रहण करना है।" इतना कहकर वे चारों जन चतुराहार का जीवन पर्यन्त त्याग कर विधिवत् सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे। और वे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातः शरीर छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हो जावेंगे। उसी दिन मध्यान्ह काल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार जाति का देव कल्की राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।[2]

दुःषमदुःषमा काल—उपर्युक्त पंचम काल के तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल के व्यतीत हो जाने पर यह छठा काल प्रवेश करेगा। उस समय मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई साढ़े तीन हाथ प्रमाण रहेगी। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष का होगा। इस काल में अग्नि के अभाव में लोग मत्स्य आदि का कच्चा ही मांस खा जायेंगे। उस समय मकान, वस्त्र आदि नहीं होंगे। सभी मनुष्य क्रूर, अन्धे या बहरे, गूंगे आदि दुःखी होंगे। दिन पर दिन मनुष्यों की ऊँचाई शक्ति आदि घटते रहेंगे। उनंचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने पर घोर प्रलय होगा। उस समय महाभयंकर संवर्तक वायु चलेगी, जो सात दिन तक सम्पूर्ण वृक्ष, पत्थर, पर्वतों को चूर्ण कर डालेगी। तब मनुष्य और तिर्यंच बहुत ही दुःखी होकर प्रायः मरण को प्राप्त हो जावेंगे।

---

1. तिलोयपण्णति, अधिकार ४, पृ० ३४०, 2. तिलोयपण्णति, अधिकार ४, पृ० ३४५।

उस समय पृथक्-पृथक् संख्यात व संपूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिंधु नदियों की वेदियों और विजयार्ध की गुफाओं के मध्य में प्रवेश करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचों में से संख्यात जीव राशि को उन सुरक्षित प्रदेशों में ले जाकर रख देंगे। इसके बाद आकाश से मेघों द्वारा सात-सात दिन तक क्रम से शीतजल, क्षारजल, विष, धुंआ, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा होती रहेगी। जिससे यह भरत क्षेत्र की आर्य-खण्ड की ऊपर स्थित, वृद्धिगत एक योजन पर्यंत भूमि जलकर खाक हो जावेगी। उस छठे काल के अंत में मनुष्यों की आयु १६ या १५ वर्ष की तथा शरीर की ऊँचाई एक हाथ मात्र की रह जाती है। इस प्रकार महाप्रलय के बाद यह अवसर्पिणी समाप्त हो जावेगी।

उत्सर्पिणी के छह काल—पुनः उत्सर्पिणी के छहों काल क्रम-क्रम से आवेंगे। इसमें सर्वप्रथम दुःषमदुःषमा नाम वाला छठा काल आयेगा। उस काल के प्रारम्भ से उसे पहला कहेंगे।

दुःषमदुषमाकाल—उत्सर्पिणी के प्रारम्भ में पुष्कर मेघ सात दिन तक अच्छा जल बरसाते हैं, जिससे वज्र और अग्नि से जली हुई संपूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है। पुनः मेघों द्वारा क्षीर अमृत और दिव्यरस की वर्षा होती है। तब पृथ्वी पर लता, गुल्म, घास आदि उगने लगती हैं। पृथ्वी की अच्छी सुगंधि पाकर विजयार्थ की गुफा आदि में सुरक्षित रहे मनुष्य और तिर्यंच बाहर आ जाते है। पुनरपि उन्हीं से सृष्टि चलती है। इस काल की सारी व्यवस्था अवसर्पिणी के छठे काल के समान रहती है। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है।

दुःषमाकाल—यह दुःषमा नाम का द्वितीय काल प्रवेश करता है। उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई तीन या साढ़े तीन हाथ प्रमाण रहती है। यह काल भी इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है। इस काल में एक हजार वर्ष शेष रहने पर क्रम से चौदह कुलकर उत्पन्न होंगे। पहले कुलकर का नाम कनक और अन्तिम का पद्मपुंगव होगा। इस काल में भी आयु, ऊँचाई आदि बढ़ते-बढ़ते अंत में अंतिम कुलकर की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण हो जायेगी। ये कुलकर अग्नि उत्पन्न करके भोजन बनाना आदि सिखाते हैं तथा विवाह परम्परा आदि का उपदेश देते हैं।

दुःषमसुषमाकाल—इस तीसरे काल के प्रवेश में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊँचाई सात हाथ प्रमाण हो जाती है। इस काल में चौबीस तीर्थंकर बारह चक्र-

वर्ती, नव बलभद्र, नव नारायण और नव प्रतिनारायण ये त्रेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। इनमें से प्रथम तीर्थंकर महापद्म नाम का होगा जो कि अन्तिम कुलकर पद्मपुंगव का पुत्र होगा। इन प्रथम तीर्थंकर की आयु ११६ वर्ष और शरीर की ऊँचाई ७ हाथ प्रमाण होगी। पुनः इस काल में बढ़ते-२ अंतिम तीर्थंकर अनंतवीर्य की आयु एक पूर्व कोटि वर्ष और ऊँचाई ५०० धनुष प्रमाण होगी यह काल व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

सुषमदुःषमा—इसके बाद चतुर्थ काल प्रवेश करता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु पूर्व कोटि वर्ष और ऊँचाई ५०० धनुष की रहती है पुनः बढ़ते-बढ़ते अंत में आयु एक पल्य की और ऊँचाई एक कोश प्रमाण हो जाती है। इस काल में दश प्रकार के कल्पवृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था हो जाती है यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

सुषमाकाल—इस पांचवें काल के प्रवेश में चतुर्थ काल के अंत जैसी व्यवस्था है पुनः आयु बढ़ते हुये दो पल्य और शरीर की ऊँचाई दो कोश हो जाती है। यहाँ पर मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का है।

सुषमसुषमाकाल—इस छठे काल के प्रारम्भ में पांचवें के अंत जैसी व्यवस्था रहती है पुनः बढ़ते-बढ़ते मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य प्रमाण हो जाती है। यहाँ पर उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। यह काल भी चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इस प्रकार से उत्सर्पिणी के षट्कालों का परिवर्तन पूर्ण होकर पुनः अवसर्पिणी काल आ जाता है।

हुंडावसर्पिणी—असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। इसमें कुछ अघटित बातें हो जाया करती हैं वर्तमान में यह अवसर्पिणी काल हुंडावसर्पिणी ही चल रहा है।

इस हुंडावसर्पिणी काल में तृतीय काल में कुछ काल अवशिष्ट रहने पर ही वर्षा का होना, विकलेंद्रिय जीवों की उत्पत्ति का होना, कल्पवृक्षों का अभाव होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हो जाना, इसी काल में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती का हो जाना आदि हो गये हैं। तथा प्रथम चक्रवर्ती का विजय भंग, उनके द्वारा ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति,

मध्य के सात तीर्थों में धर्म का व्युच्छेद आदि हुये हैं। ग्यारह रुद्र और कलह प्रिय नव नारद हुये हैं तथा सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग भी हुआ है। विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी इसी की देन हैं। चांडाल, शबर, किरात, श्वपच आदि निकृष्ट जातियाँ व कल्की उपकल्की भी इसी में होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, वज्राग्नि का गिरना आदि नाना दोष इसी काल की देन हैं।[1]

इस प्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्र में रंहट घटिका के समान अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल अनन्तानंत होते हैं।[2]

ये भरत-ऐरावत क्षेत्र कहाँ कहाँ हैं सो ही बताते हैं।

करणानुयोग—

सामान्यलोक—अलोकाकाश के मध्य में पुरुषाकार लोकाकाश है। यह १४ राजू ऊँचा और ७ राजू मोटा है। इसकी चौड़ाई नीचे ७ राजू है पुनः घटते हुये मध्य में १ राजू, पुनः ऊपर बढ़ते हुये ब्रह्मस्वर्ग के पास ५ राजू एवं आगे पुनः घटते हुये लोक के अंत में १ राजू रह गई है। इसके बीचों बीच एक राजू चौड़ी और इतनी ही मोटी त्रसनाली है। जिसमें ही त्रस जीव रहते हैं बाकी सर्वत्र लोक में स्थावर जीव हैं। एक राजू प्रमाण चौड़े मध्य लोक के नीचे ७ राजू तक अधोलोक है। जिसमें ७ नरक भूमियाँ हैं और बिल्कुल नीचे निगोद स्थान है। मध्य लोक के ऊपर १६ स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर हैं। उसके ऊपर सिद्ध शिला है। उसके भी ऊपर लोक के अग्रभाग में सिद्ध जीवों का निवास है।

मध्यलोक—मध्यलोक १ राजू विस्तृत और १ लाख ४० योजन ऊँचा है। इसके ठीक बीच में सबसे पहला जंबूद्वीप है जो कि एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार है। इसको चारों ओर से वेष्टित कर दो लाख योजन विस्तृत लवण समुद्र है। इसे वेष्टित कर धातकी खण्ड द्वीप है। इसे वेष्टित कर कालोदसमुद्र है। इसे वेष्टित कर पुष्कर द्वीप है। इसी प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र ऐसे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जो कि एक दूसरे को वेष्टित किये हुये हैं। तथा प्रमाण में अगले-अगले द्वीप समुद्र पूर्व-पूर्व से दूने-दूने प्रमाण वाले होते

1. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ३५५।
2. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ३५४।
3. असंख्यात योजनों का एक राजू होता है।

गये हैं। अन्त के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र का भी नाम स्वयंभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप—इसके बीचों बीच में १० हजार योजन विस्तृत और एक लाख ४० योजन ऊँचा सुदर्शनमेरु पर्वत है। इसकी नींव पृथ्वी में एक हजार योजन है तथा चूलिका ४० योजन की है। यह पर्वत घटते हुये अग्रभाग में ४ योजन मात्र रह गया है। इसमें पृथ्वी पर भद्रसाल वन है। इसके ऊपर नंदन, सौमनस और पांडुक वन हैं। प्रत्येक वन की चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर होने से १६ जिनमंदिर हैं। पांडुक वन की विदिशाओं में पांडुक आदि शिलायें हैं जिन पर तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक होता है। इस जम्बूद्वीप में दक्षिण से लेकर पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे छह पर्वत है जिनके नाम हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी है। इन छह पर्वतों से विभाजित सात क्षेत्र हैं जिनके नाम भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत हैं। छह पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिन्छ, केसरी, महापुंडरीक और पुण्डरीक ऐसे छह सरोवर हैं। उनसे गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित-हरिकांता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ निकली हैं जो कि दो-दो मिलकर सात क्षेत्रों में बहती हैं।

भरत क्षेत्र—भरत क्षेत्र के बीचों-बीच में विजयार्ध पर्वत है। तथा हिमवान पर्वत से गंगा-सिंधु नदी निकल कर नीचे गिरकर बहती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा से बाहर निकलकर आगे क्षेत्र में बहकर लवणसमुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। इस निमित्त से इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं। इनमें से दक्षिण के मध्य का आर्यखण्ड है शेष पांच म्लेच्छ खण्ड हैं। इसी प्रकार से ऐरावत क्षेत्र में भी छहखण्ड हैं। इन भरत-ऐरावत के आर्यखण्डों में ही पूर्व में कथित षट्काल परिवर्तन होता रहता है।

भोगभूमि—हैमवत, हरि, विदेह के अंतर्गत मेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तर कुरु, रम्यक तथा हैरण्यवत इन छहों क्षेत्रों में भोगभूमि की व्यवस्था है जो सदा काल एक सदृश रहती है।

शाश्वत कर्म भूमि—विदेह में मेरु के निमित्त से पूर्व-पश्चिम ऐसे दो भेद हो गये हैं। उनमें भी १६ वक्षार पर्वत और १२ विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ विदेह हो गये

हैं। प्रत्येक विदेह में भी छह खण्ड हैं उनमें से आर्यखण्ड में कर्म भूमि की व्यवस्था है। जैसे यहाँ भरत क्षेत्र में चतुर्थकाल के प्रारंभ में व्यवस्था थी वैसे ही वहाँ सतत बनी रहती है। अथवा यों कहिये कि श्री ऋषभदेव ने अपने अवधिज्ञान से वहीं की वर्ण-व्यवस्था, ग्राम, नगर व्यवस्था आदि को जानकर युग की आदि में यहां पर वैसी व्यवस्था बनाई थी। इस प्रकार इस जंबूद्वीप में भरत-ऐरावत क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र कहीं भी षट्काल परिवर्तन नहीं है ऐसा समझना।

लवण समुद्र—इस जंबूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन विस्तृत लवण समुद्र हैं। इसका जल ११००० योजन ऊंचाई शिखाऊ ढेर के समान है और वह शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को १६००० योजन ऊंचा हो जाता है। इसके अन्दर टापू के समान गौतम द्वीप, हंस द्वीप, लंका द्वीप आदि अनेकों द्वीप हैं। रावण की लंका इसी समुद्र के लंका द्वीप में थी।

धातकी खण्ड द्वीप—लवण समुद्र को वेष्टित कर चार लाख योजन विस्तृत धातकी खण्ड द्वीप है। इसके दक्षिण-उत्तर में एक-एक लम्बे इष्वाकार पर्वत है। उनके निमित्त से इस द्वीप के पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ऐसे दो हो गये हैं। पूर्व धातकी खण्ड के ठीक बीच में "विजय" नाम का मेरु है और पश्चिम धातकी खण्ड में "अचल" नाम का मेरु पर्वत है। दोनों तरफ भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि छह पर्वत, पद्मादि सरोवर और गंगादि नदियां हैं। अतः धातकी खण्ड में दो भरत, दो ऐरावत हैं। अन्तर इतना ही है कि वहां के क्षेत्र आरे के समान आकार वाले है। इस द्वीप को वेष्टित कर आठ लाख योजन विस्तृत कालोद समुद्र है।

पुष्करार्धद्वीप—कालोद समुद्र को वेष्टित कर १६ लाख योजन विस्तृत पुष्करवर द्वीप है। इसके बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के इधर ही दक्षिण-उत्तर में इष्वाकार पर्वत है इनके निमित्त से वहाँ भी पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध ऐसे दो भेद हो जाते हैं। यहाँ पूर्व में "मंदर" नाम का मेरु है और पश्चिम में "विद्युन्माली" नाम का मेरु है। दोनों तरफ ही भरत आदि क्षेत्र, हिमवान् आदि पर्वत हैं। यहां पर भी दो भरत, दो ऐरावत हैं।

षट्काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ—जंबूद्वीप का एक भरत, एक ऐरावत, धातकी खण्ड के २ भरत, २ ऐरावत, पुष्करार्ध द्वीप के २ भरत, २ ऐरावत ऐसे ५ भरत और ५ ऐरावत के आर्यखण्डों में ही सदा सुषमासुषमा आदि षट्काल का परिवर्तन होता रहता है।

ढाई द्वीप—एक जंबूद्वीप, दूसरा धातकी खण्ड और पुष्कर का आधा हिस्सा पुष्करार्ध ये ढाई द्वीप हैं। इनमें हैमवत आदि क्षेत्रों की व्यवस्था ज्यों की त्यों रहती है वहाँ काल परिवर्तन नहीं है। "ताभ्यामपराभूमयोवस्थिताः"[1] इस सूत्र के अनुसार भरत-ऐरावत से अतिरिक्त सभी भूमियाँ अवस्थित हैं।

मनुष्य कहाँ तक हैं—मानुषोत्तर पर्वत के इधर-उधर ही मनुष्य रहते हैं। इस पर्वत से उधर असंख्यातों द्वीपों में मात्र तिर्यंच युगल रहते हैं उन सबमें जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। आखिरी स्वयंभूरमण द्वीप में भी बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक स्वयंप्रभ पर्वत है। उससे परे उस आधे द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमियाँ तिर्यंच हैं।

नंदीश्वर द्वीप—ढाई द्वीप से परे आठवां नंदीश्वर द्वीप है वहाँ बावन जिन मंदिर हैं। जिनकी आष्टान्हिक पर्व में पूजा की जाती है। ऐसे ही ग्यारहवें और तेरहवें द्वीप में भी चार-चार जिन मंदिर हैं। इस प्रकार तेरह द्वीपों तक अकृत्रिम जिन मंदिर हैं, जो कि सब ४५८ हैं उनको मेरा नमस्कार होवे।

गति परिवर्तन—

भव से भवांतर को प्राप्त करना गति है। इसके चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति।

नरक गति—हिंसा आदि पाप करके जीव नरक में चले जाते हैं वहाँ पर असंख्य दुःखों को भोगते रहते हैं। ये नरक धरा मध्यलोक से नीचे है।

तिर्यंच गति—मायाचारी आदि के निमित्त से जीव तिर्यंच योनि में जन्म ले लेता है। इसमें वृक्ष, जल, केंचुआ, चींटी, भ्रमर, हाथी, घोड़ा आदि हो जाता है। दो इन्द्रिय आदि सभी तिर्यंच मध्यलोक में रहते हैं।

मनुष्य गति—सरल परिणामों से मनुष्य योनि मिलती है। ये सब मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत से इधर में ही हैं।

देव गति—उत्तम पुण्य, दान, पूजन, तपश्चरण और अहिंसा पालन आदि से देवगति मिलती है। देवों के चार भेद हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक।

1. तत्त्वार्थसूत्र अ० ३, सूत्र।

भवनवासी देवों के विमान इस मध्यलोक की चित्रा पृथ्वी से नीचे और नरक भूमियों से ऊपर बने हुये हैं। व्यंतर देव नीचे तथा मध्यलोक में सर्वत्र रहते हैं। वैमानिक देव ऊपर स्वर्गों में रहते हैं और ज्योतिषी देव मध्यलोक में हैं।

ज्योतिर्देव—इन देवों के ५ भेद हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे इनके विमान चमकीले होने से इन्हें ज्योतिषीदेव कहते हैं। इस चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन से ऊपर ९०० योजन तक इनके विमान आकाश में अधर हैं। ये विमान सतत मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुये घूमते रहते हैं। इन्हीं के भ्रमण से यहाँ पर दिन रात्रि का विभाग होता है। इस प्रकार यह अति संक्षेप में तीन लोक का वर्णन हुआ है। इस चतुर्गति रूप संसार में अनंतानंत प्राणी जन्म मरण के दुःख उठा रहे हैं। पुनः इस संसार के दुःखों से छूटने का क्या उपाय है! सो ही बतलाते हैं—

चरणानुयोग—

मोक्ष की प्राप्ति के उपाय—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं।

सम्यग्दर्शन—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह तीन मूढ़ता, आठ मदरहित और आठ अंग सहित होना चाहिये।

सच्चेदेव—जो क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं वे ही सच्चे आप्त देव हैं।

सच्चे शास्त्र—सच्चे देव द्वारा कहा हुआ, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधा रहित, जीवादि तत्वों को कहने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र है।

सच्चे गुरु—जो विषयों की आशा से रहित, आरम्भ और परिग्रह से रहित दिगंबर वेषधारी हैं, ज्ञान, ध्यान और तप में सदा लीन रहते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं।

सम्यग्ज्ञान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित पदार्थों को जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। इसके ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से भेद माने गये हैं। अथवा

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद भी होते हैं। इन चारों अनुयोगों में सम्पूर्ण द्वादशांग का सार आ जाता है।

प्रथमानुयोग—महापुरुषों के चरित, पुराण आदि ग्रन्थ प्रथमानुयोग हैं।

करणानुयोग—लोक-अलोक को, षट्काल परिवर्तन को और चारों गतियों को बतलाने वाले ग्रन्थ करणानुयोग हैं।

चरणानुयोग—गृहस्थ और मुनियों के चारित्र को कहने वाला चरणानुयोग है।

द्रव्यानुयोग—जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों को, पुण्य-पाप को तथा बंध-मोक्ष को बतलाने वाला द्रव्यानुयोग है।

सम्यक्चारित्र—जिसका आचरण किया जाता है वह चारित्र है। अथवा हिंसा आदि पापों से विरक्त होना सम्यक्चारित्र है। इसके दो भेद हैं—सकल चारित्र और विकल चारित्र।

सकलचारित्र—जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर देते हैं और सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि हो जाते हैं उन्हीं के यह सकल चारित्र होता है।

विकल चारित्र—इन पाँचों पापों का अणुरूप-एकदेश त्याग करना अणुव्रतरूप विकल चारित्र होता है। यह विकल चारित्र गृहस्थों के होता है।

अहिंसा अणुव्रत—जो मन, वचन, काय से और कृत कारित अनुमोदना से संकल्प पूर्वक त्रसजीवों का घात नहीं करना है वह अहिंसा अणुव्रत है।

इस व्रत के पालन करने वालों के लिये श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"हिंसा त्याग के इच्छुक पुरुषों को सर्वप्रथम यत्नपूर्वक मद्य (शराब), मांस, मधु, (शहद) और ऊमर, कठूमर और पीपल, बड़, पाकर ये पांचों उदुम्बर फल छोड़ देने चाहियें।"[1]

इसी बात को और पुष्ट करते हुये कहते हैं कि—ये आठ पदार्थ अनिष्ट, दुस्तर और पाप के स्थान हैं अतः इनका त्याग करके ही निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिन धर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।[2] आगे और भी कहते हैं—

---

1. मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६०॥

2. अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

"चूंकि रात्रि में भोजन करने वालों के हिंसा अनिवारित है ही है इसलिए हिंसा से विरत पुरुषों को रात्रि भोजन का त्याग कर ही देना चाहिये।"

इन्हीं सबको समाविष्ट करते हुये अन्यत्र ग्रन्थों में कहा है—

"मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन, पंचउदुम्बर फल इनका त्याग पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, जीवदयापालन और जलगालन-पानी छान कर पीना ये आठ मूलगुण हैं जो कि श्रावक को पालन करने जरूरी हैं।"[1]

गृहस्थ के दैनिक जीवन में यह श्रावक है—दयालु है, ऐसी पहचान के लिये देव-दर्शन करना, रात्रि भोजन नहीं करना और पानी छानकर पीना, ये स्थूल बातें परम्परा से भी प्रसिद्ध हैं। उन सबको इस अष्ट मूलगुण में ले लिया गया है।

अहिंसाणुव्रती गृहस्थ इन अष्ट मूलगुणों को सर्वप्रथम ही ग्रहण करके संकल्पी त्रस हिंसा का जीवन भर के लिये त्याग कर देता है।

सत्य अणुव्रत—जो स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है कि जो धर्म की हानि या पर की विपत्ति के लिये हो जावे, वह एक देश सत्य-सत्याणु व्रती है।

अचौर्य अणुव्रत—जो पर की कोई भी धन, संपत्ति या वस्तु रखी हुई हो, भूली हुई हो या गिर गई हो उसको उसके मालिक के बिना दिये नहीं ग्रहण करना व अचौर्य अणुव्रत है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत—जो पाप के भय से पर स्त्री का त्याग कर देता है अर्थात् अपने से छोटी को पुत्री बराबर और बड़ी को माता के समान समझता है अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष रखता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रती है।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत—धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।

ये पाँच अणुव्रत नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले हैं। अर्थात् इस भव में नाना सुख, संपत्ति और यश को देकर परभव में स्वर्ग को देने वाले हैं। "क्योंकि अणुव्रत और

---

1. मद्यपलमधुनिशाशनपंचफली विरतपंचकाप्तनुतिः।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः॥

महाव्रतों को धारण करने वाला जीव देवायु का ही बन्ध करता है। शेष तीन आयु के बंध हो जाने पर ये व्रत हो ही नहीं सकते हैं।[1]

इन पाँच अणुव्रतों की रक्षा के लिये तीन गुणव्रत और शिक्षाव्रत भी गृहस्थों के लिये पालन करने योग्य हैं।

षट् आर्यकर्म—

गृहस्थों के छह आर्य कर्म होते हैं। इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप।

इज्या—अर्हंत भगवान् की पूजा को इज्या कहते हैं। इनके पाँच भेद हैं—

नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, आष्टान्हिक और ऐन्द्रध्वज।

नित्यमह—प्रतिदिन शक्ति के अनुसार अपने घर से गंध, पुष्प, अक्षत आदि अष्ट-द्रव्य सामग्री ले जाकर अर्हंत देव की पूजा करना जिन मन्दिर, जिनप्रतिमा, आदि का निर्माण करना और मुनियों की पूजा करना आदि नित्यमह है।

चतुर्मुख—मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो जिनेन्द्र देव की पूजा की जाती है वह चतुर्मुख है। इसे महाभद्र या सर्वतोभद्र भी कहते हैं।

कल्पवृक्ष—समस्त याचकों को किमिच्छकदान क्या चाहिए? ऐसा उनकी इच्छा-नुसार दान देते हुये जो चक्रवर्ती द्वारा जिनपूजा की जाती है वह कल्पवृक्ष पूजा है।

आष्टान्हिक—नंदीश्वर द्वीप में जाकर कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ में इन्द्रों द्वारा होने वाली पूजा आष्टान्हिक पूजा है।

ऐन्द्रध्वज—इन्द्र, प्रतीन्द्र आदि के द्वारा की गई पूजा ऐन्द्रध्वज है।

वार्ता—असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कार्यों में से किसी भी कार्य द्वारा आजीविका करके धन कमाना वार्ता है।

दत्ति—दान देना दत्ति है। इसके चार भेद हैं—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति।

दयादत्ति—दुःखी प्राणियों को दया पूर्वक अभय आदि दान देना दयादत्ति है।

---

1. अणुवदमहव्वदाइं ण लहइदेवाउगं मोत्तुं॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड॥

पात्रदत्ति—रत्नत्रय धारक मुनि, आर्यिका आदि को नवधा भक्ति पूर्वक आहार देना, ज्ञान, संयम आदि के उपकरण शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि देना, औषधि तथा वसतिका आदि देना पात्रदत्ति है।

समदत्ति—अपने समान गृहस्थों के लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है।

अन्वयदत्ति—अपनी संतान परम्परा को कायम रखने के लिये अपने पुत्र को या दत्तकपुत्र को धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है इसे अन्वयदत्ति भी कहते हैं।

स्वाध्याय—तत्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना स्वाध्याय है।

संयम—पाँच अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति करना संयम है।

तप—उपवास आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना तप है। आर्यों के इन षट्कर्म में तत्पर रहने वाले गृहस्थ होते हैं।

दशधर्म—

उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। इन धर्मों का पूर्णतया तो पालन मुनि ही कर सकते हैं किन्तु गृहस्थ भी एक देशरूप से पालन करते हैं। यहाँ उत्तम शब्द सबके साथ लगाना चाहिये।

क्रोध के कारण दूसरों के द्वारा निंदा आदि किये जाने पर भी क्रोध न कर क्षमा धारण करना उत्तम क्षमा है। जाति आदि मदों के आवेशवश अभिमान न करना उत्तम मार्दव है।

मन वचन काय की कुटिलता न कर सरल परिणाम रखना उत्तम आर्जव है।

प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना और मन को पवित्र रखना उत्तम शौच है। साधु-सज्जन पुरुषों के साथ साधु-उत्तम वचन बोलना उत्तम सत्य है।

प्राणी की हिंसा और इंद्रियों के विषयों का परिहार करना उत्तम संयम है। कर्म क्षय के लिये बारह प्रकार का तपश्चरण करना उत्तम तप है। संयम आदि के योग्य ज्ञानादि का दान करना उत्तम त्याग है। शरीर आदि के प्रति भी "यह मेरा है" इस मम-

कार का त्याग करना आकिञ्चन्य है। स्त्री मात्र का त्याग कर देना और स्वतंत्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

सोलह कारण भावनायें—

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता आदि सोलहकारणभावनायें हैं। उनके नाम और लक्षण बताते हैं—

१. दर्शनविशुद्धि—पच्चीस मल दोष रहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना।

२. विनयसंपन्नता—देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय का विनय करना।

३. शीलव्रतों में अनतिचार—व्रतों और शीलों में अतीचार नहीं लगाना।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—सदा ज्ञान के अभ्यास में लगे रहना।

५. संवेग—धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना।

६. शक्तितस्त्याग—अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, अभय और शास्त्र-दान देना।

७. शक्तितस्तप—अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग-बहिरंग तप करना।

८. साधु समाधि—साधुओं का उपसर्ग दूर करना या समाधि सहित वीर मरण करना।

९. वैयावृत्य करण—व्रती, त्यागी, साधर्मी की सेवा करना वैयावृत्ति करना।

१०. अर्हद्भक्ति—अर्हंत भगवान् की भक्ति करना।

११. आचार्य भक्ति—आचार्य की भक्ति करना।

१२. बहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना।

१३. प्रवचन भक्ति—जिनवाणी की भक्ति करना।

१४. आवश्यक अपरिहाणि—छह आवश्यक क्रियाओं का सावधानी से पालन करना।

१५. मार्ग प्रभावना—जैन धर्म का प्रभाव फैलाना।

१६. प्रवचन वत्सलत्व—साधर्मी जनों में अगाध प्रेम करना।

इन सोलह कारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि का होना बहुत जरूरी है फिर उसके साथ दो तीन आदि कितनी भी भावनायें हों या सभी हों तो भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। अर्थात् कोई भी मनुष्य इन भावनाओं को अपने जीवन में उतार कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके मोक्षमार्ग का नेता तीर्थंकर भगवान् बन जाता है। पुनः इन्द्रों द्वारा पंचकल्याणक पूजा को प्राप्त कर और असंख्य भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

द्रव्यानुयोग—

छहद्रव्य—"सद्द्रव्य लक्षणम्" द्रव्य का लक्षण सत् है। और "उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्" इस लक्षण से जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाला है वह "सत्" है। द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं जैसे जीव की देव-पर्याय का होना। पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे जीव की मनुष्य पर्याय का नष्ट होना। तथा पूर्व पर्याय का नाश और नवीन पर्याय का उत्पाद होने पर भी सदा बने रहने वाले मूल स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे—जीव की मनुष्य तथा देव दोनों पर्यायों में जीवत्व का रहना। ये तीनों अवस्थायें एक समय में होती हैं। द्रव्य का दूसरा लक्षण—"गुणपर्ययवद्-द्रव्यम्" गुण और पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं जो द्रव्य के साथ रहें वे गुण कहलाते हैं। जैसे जीव का अस्तित्व या ज्ञानादि और पुद्गल के रूपरसादि। जो क्रम से हों वे पर्याय हैं। जैसे जीव की नर, नारकादिपर्यायें है।

द्रव्य के ६ भेद हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जीवद्रव्य—"उपयोगो लक्षणम्" जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे दो भेद हैं।

अथवा जो इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन बाह्य प्राणों से तथा चेतना (ज्ञान-दर्शन) लक्षण अंतरंग प्राणों से जीता है, जीता था और जीवित रहेगा वह जीव है। इस जीव के संसारी और मुक्त की अपेक्षा दो भेद हैं—जो संसार में भ्रमण करते हैं वे संसारी हैं और जो कर्मों के बंधन से छूट कर मुक्त हो गये हैं वे मुक्त हैं। संसारी जीव के भी त्रस-स्थावर ऐसे दो भेद हैं। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव त्रस कहलाते हैं तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये एकेंद्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

पुद्गल द्रव्य—जो रूप, रस, गंध और स्पर्श से सहित हो वह पुद्गल है। अथवा जिसमें हमेशा पूरण गलन होता रहे वह पुद्गल है। इसके दो भेद हैं—अणु (परमाणु) और स्कंध। पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी हिस्से को अणु या परमाणु कहते हैं। दो, तीन आदि से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओं से बने हुये पुद्गल पिण्ड को स्कंध कहते हैं।

धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलों को चलने में सहकारी हो वह धर्मद्रव्य है। जैसे—मछली को चलने में जल सहकारी है।

अधर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गल के ठहरने में सहकारी हो वह अधर्मद्रव्य है। जैसे—चलते हुये पथिक को ठहरने में वृक्ष की छाया सहकारी है।

आकाशद्रव्य—जो समस्त द्रव्यों को अवकाश–स्थान देता है वह आकाशद्रव्य है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जिसमें जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और कालद्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है। उसके बाहर चारों तरफ अनन्तानन्त अलोकाकाश है।

कालद्रव्य—जो सभी द्रव्यों के परिणमन–परिवर्तन में सहायक हो वह कालद्रव्य है। इसके दो भेद हैं—निश्चयकाल और व्यवहारकाल। वर्तना लक्षण वाला निश्चयकाल है और घड़ी, घण्टा, दिन, महिना आदि व्यवहारकाल है।

द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या—एक जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल के एक से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं और कालद्रव्य एक प्रदेशी है।

अस्तिकाय—जो अस्ति-विद्यमान हो अर्थात् सत् लक्षण वाला हो उसे "अस्ति" कहते हैं और बहुप्रदेशी को काय कहते हैं। प्रारंभ के पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य अस्ति तो है किन्तु काय बहुप्रदेशी न होने से "अस्तिकाय" नहीं है अतः पांच द्रव्य ही अस्तिकाय कहलाते हैं।

सात तत्त्व—

वस्तु के यथार्थ स्वभाव को तत्त्व कहते हैं। इसके सात भेद हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

चेतना लक्षण वाला जीव है। इससे भिन्न अजीव है। आत्मा में कर्मों का आना आस्रव है। आत्मा के प्रदेशों में कर्मों का एकमेक हो जाना बंध है। आते हुये कर्मों का रुक जाना संवर है। आत्मा से कर्मों का एक देश क्षय होना निर्जरा है और आत्मा से सम्पूर्ण कर्मों का छूट जाना मोक्ष है।

इन्हीं सात तत्त्वों में पुण्य पाप को मिला देने से नव पदार्थ हो जाते हैं। जो आत्मा को पवित्र या सुखी करे वह पुण्य है और जिसके उदय से आत्मा को दुःखदायक सामग्री मिले वह पाप है।

संसार और मोक्ष के कारण—इन सात तत्त्वों में से आस्रव और बंध तत्त्व संसार के कारण हैं तथा संवर और निर्जरा तत्त्व मोक्ष के कारण हैं। ऐसा समझकर संसार के कारणों से दूर हटकर मोक्ष के कारणों को प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा के तीन भेद—

आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। शरीर को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा है। यह जीव मिथ्यात्व परिणाम से सहित होकर कर्मों को बांधता रहता है और संसार में परिभ्रमण करता रहता है। तत्त्वों पर श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा है। यह जीव अपनी आत्मा को ज्ञान दर्शनमय समझता है और शरीर को अचेतन तथा अपने से भिन्न समझता है। यह अन्तरात्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बल से अपने आत्मा को परमात्मा बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है। जब यही अन्तरात्मा घातिया कर्मों का नाश कर अर्हंत, केवली हो जाता है। तब वह सकल परमात्मा कहलाता है। पुनः अष्ट कर्मों से रहित नित्य, निरंजन, सिद्ध हो जाता है। तब वह निकल परमात्मा हो जाता है। ये परमात्मा पुनः कभी भी संसार में नहीं आते हैं। वहाँ लोक के अग्रभाग में विराजमान हुये अनंत काल तक अव्याबाध, अचिन्त्य सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस जैन धर्म में प्रत्येक प्राणी को परमात्मा बनने का अधिकार प्राप्त है। चाहे जो भी क्यों न हो वह रत्नत्रय रूप पुरुषार्थ के बल से अपनी आत्मा को परमात्मा बनाकर संसार के दुःखों से सदा के लिये छूट कर अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकता है।

मुनि-चर्या

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल इन दो का ही वर्णन किया गया है। इनमें से मार्ग तो रत्नत्रय को कहते हैं और उसका फल मोक्ष है। रत्नत्रय को धारण करने वाले व्यक्ति मोक्ष की साधना करने वाले हैं अतः उन्हें साधु, यति, मुनि, अनगार, ऋषि, संयत और संयमी आदि नामों से जाना जाता है। ये दिगम्बर मुद्रा के धारक होते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण—

रत्नत्रय की साधना के लिए इनके अट्ठाईस मूलगुण होना जरूरी है। जिस प्रकार बिना मूल-जड़ के वृक्ष नहीं ठहर सकता है वैसे ही बिना मूलगुणों के अन्य कोई भी गुण उनमें अवकाश नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि ये मूलगुण प्रधान अनुष्ठान रूप हैं और उत्तरगुणों के लिये आधारभूत हैं।" ये मूलगुण २८ हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय-निरोध, ६ आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एक भक्त।

सम्पूर्ण पाप योग से दूर होना और मोक्षप्राप्ति के लिए आचरण करना इनमें व्रत शब्द का प्रयोग होता है, तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है और जो स्वयं ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से महान् हैं अथवा अपने धारण करने वालों को महान्-पूज्य बना देते हैं उन्हें ही महाव्रत कहते हैं—मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदना से स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। रागद्वेष आदि से असत्य वचन नहीं बोलना और प्राणियों का विघातक ऐसा सत्य भी नहीं बोलना सत्य महाव्रत है। बिना दी हुई किसी की कोई भी वस्तु या बिना दिये अन्य आचार्य के शिष्य पुस्तक आदि ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है। बालिका, युवती, वृद्धा में पुत्री, बहन, माता के सदृश भाव रखकर सम्पूर्ण स्त्रीमात्र का त्याग कर देना त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्यव्रत है। धन, धान्य आदि दश प्रकार के बाह्य और मिथ्यात्व आदि १४ अंतरंग परिग्रहों का त्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है।

आगम के अनुसार गमनागमन, भाषण, भोजन आदि में सम्यक् "इति प्रवृत्ति" करना समिति है। ये व्रतों की रक्षा करने में बाड़ के समान है। निर्जन्तुक मार्ग से सूर्योदय होने पर चार हाथ आगे देखकर तीर्थयात्रा, गुरुवन्दना आदि के लिये गमन करना ईर्या-समिति है। चुगली, निन्दा आदि रहित हित-मित, असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है। छयालीस दोष, बत्तीस अंतराय रहित, नवकोटि से शुद्ध, श्रावक द्वारा दिया गया प्रासुक आहार लेना एषणासमिति है। पुस्तक, कमंडलु आदि को रखते उठाते समय कोमल मयूरपिच्छी से परिमार्जित करके रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति है। हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित, एकान्त स्थान में मलमूत्रादि विसर्जित करना उत्सर्ग समिति है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों के अच्छे बुरे विषयों में राग द्वेष नहीं करना इन्द्रिय निरोध है। कोमल स्पर्श या कंकरीली भूमि आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, सरस मधुर या नीरस आदि भोजन में प्रीति–अप्रीति नहीं करना, सुगन्ध दुर्गंध में रागद्वेष नहीं करना, स्त्रियों के सुन्दर रूप या विकृत वेष आदि में रति अरति नहीं करना, सुन्दर गीत असुन्दर शब्द आदि में समभाव धारण करना ये पाँच इन्द्रियों के निरोध रूप पाँच व्रत हैं। इन्द्रियों को शुभ ध्यान में लगाना उनका निरोध है।

अवश-जितेन्द्रिय मुनियों का जो कर्तव्य है वह आवश्यक है। जीवन मरण आदि में समताभाव रखना और विधिवत् त्रिकाल देव वंदना करना समता या सामायिक आवश्यक है। वृषभ आदि तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव आवश्यक है। अर्हंत, सिद्ध आदि और उनकी प्रतिमाओं का कृतिकर्म विधि पूर्वक नमस्कार करना वन्दना है। व्रतों के अतिचार आदि को दूर करने के लिये निन्दा-गर्हा पूर्वक ऐर्यापथिक, रात्रिक दैवसिक आदि क्रिया करना प्रतिक्रमण है। भविष्य के दोषों का त्याग करना, आहार के अनन्तर पुनः आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है। दैवसिक, रात्रिक आदि क्रियाओं में १०८, ५४, २७, २५ आदि उच्छ्वासों से महामंत्र का ध्यान करना कायोत्सर्ग आवश्यक है।

दो, तीन या चार महीने में हाथों से शिर, दाढ़ी, मूंछ के केशों का लुंचन करना ये उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप से केशलोंच नाम का मूलगुण है। सभी प्रकार के वस्त्र-आभूषण का त्याग करके नग्न मुद्रा धारण करना आचेलक्य मूलगुण है। स्नान, उबटन आदि छोड़कर व्रतों से पवित्र रहना अस्नानमूलगुण है। कदाचित् रजस्वला स्त्री, चाण्डाल,

हड्डी, विष्ठा आदि के छू जाने से दण्डस्नान करके प्रायश्चित लेना होता है। निर्जन्तुक भूमि में, घास, पाटा, चटाई पर या शिला पर एक पार्श्व आदि से सोना क्षितिशयन व्रत है। दांतोन आदि से दन्तघर्षण नहीं करना अदंतधावनव्रत है। पाँवों में चार अंगुल अन्तर रखकर एक स्थान में खड़े होकर आहार लेना स्थिति भोजन है और सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में एक बार आहार लेना एकभक्त मूलगुण है। इस प्रकार ये २८ मूलगुण होते हैं।

चरण-करण—तेरह प्रकार के चरण और तेरह प्रकार के करण भी बतलाये हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति ये तेरह चरण या चारित्र हैं। पंच परमेष्ठी को नमस्कार, ६ आवश्यक क्रिया और असही, निःसही ये तेरह प्रकार के करण अथवा क्रियायें हैं। ये सभी इन २८ मूलगुणों में गर्भित हैं। मन्दिर, गुफा, वसतिका, वन आदि से निकलते समय "असही" शब्द के द्वारा वहाँ के स्थित व्यन्तर आदि को कहकर निकलना सो असही है और प्रवेश के समय "निःसही" शब्द के द्वारा उनसे पूछकर वहाँ रहना निःसही क्रिया है।

मुनि के बाह्य चिन्ह—आचेलक्य–वस्त्र आदि का त्याग, लोंच, शरीर संस्कार-हीनता-स्नान श्रृंगार आदि का अभाव और मयूरपिच्छिका धारण करना ये चार बाह्य चिन्ह दिगम्बर मुनियों के होते हैं। दीक्षा के समय आचार्य शिष्यों को मयूर पिच्छी देते हैं जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव रक्षा के लिये है अतः वह संयम का उपकरण है। यह पिच्छी धूलि को ग्रहण नहीं करती, पसीने से मलिन नहीं होती, अतिमृदु है, सुकुमार है और हल्की है। ये पाँच गुण इसमें होते हैं। ये चार चिन्ह मुनियों के माने गये हैं।

इसी प्रकार से मलमूत्रादि विसर्जन के समय शुद्धि के लिए काठ का कमंडलु देते हैं जिसमें गर्म जल भरा जाता है। यह शौचोपकरण है। ज्ञान की वृद्धि के लिये शास्त्र देते हैं। यह ज्ञानोपकरण है। इसके अतिरिक्त पाटे, चटाई, तृण-घास को सोने बैठने के लिये प्रयोग में लेते हैं। शेष सभी गृहस्थ के योग्य और अपने सयम के लिए अयोग्य वस्तुओं का उपयोग नहीं करते हैं।

समाचारी विधि—"समाचार" शब्द के मूलाचार में अनेक अर्थ किए हैं किन्तु यहाँ मुख्यरूप से दो अर्थ विवक्षित हैं। सम्-सम्यक्-निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान आचार सो समाचार है। अथवा सभी में पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है वह समाचार है;

इसके दो भेद हैं—औघिक, पदविभागिक। सामान्य आचार को औघिक समाचार कहते हैं इसके दश भेद हैं और पद-विभागी के अनेक भेद हैं।

औघिक समाचार—औघिक के दश भेद—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमंत्रणा और उपसम्पत्। सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना इच्छाकार है। व्रतादि में अतिचारों के होने पर "मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे" ऐसा कहकर उनसे दूर होना मिथ्याकार है। गुरु के मुख से सूत्रार्थ सुनकर "यही ठीक है" ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है। जिनमंदिर वसतिका आदि से निकलते समय "असही" शब्द से वहाँ के व्यंतर आदि से पूछकर जाना आसिका है। जिनमंदिर वसतिका आदि में प्रवेश के समय "निसही" शब्द से वहाँ के व्यंतर आदि को पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। गुरु आदि से वंदनापूर्वक प्रश्न करना, आहार आदि के लिए जाते समय पूछना आपृच्छा है। किसी बड़े कार्य आदि के समय गुरु से बार-बार पूछना प्रतिपृच्छा है। उपकरण आदि के ग्रहण करने में या वन्दना आदि क्रियाओं में आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति रखना छन्दन है। गुरु से विनय पूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना सनिमंत्रणा है। और गुरुजनों के लिये "मैं आपका ही हूँ" ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसम्पत् है।

इस अन्तिम उपसम्पत् के ५ भेद होते हैं—विनयोपसम्पत्, क्षेत्रोपसम्पत्, मार्गोपसम्पत्, सुखदुःखोपसम्पत् और सूत्रोपसम्पत्।

अन्य संघ से बिहार करते हुए आये मुनि को अतिथि कहते हैं। उनकी विनय करना, आसन आदि देना, उनके अंग मर्दन करना, प्रियवचन बोलना, आप किन आचार्य के शिष्य हैं? किस मार्ग से बिहार करते हुए आये हैं? ऐसा प्रश्न करना। उन्हें तृणसंस्तर, फलकसंस्तर, पुस्तक, पिच्छिका आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना, उन्हें संघ में स्वीकार करना विनय उपसम्पत् है। जिस क्षेत्र में संयम, गुण, शील, यम नियम आदि वृद्धिगत होते हैं उस देश में निवास करना क्षेत्र उपसम्पत् है। आगंतुक मुनि से मार्ग विषयक कुशल पूछना, अर्थात् आपका अमुक तीर्थक्षेत्र या ग्राम से सुखपूर्वक आगमन हुआ है न? मार्ग में आपके संयम, ज्ञान, तप आदि में निर्विघ्नता थी न? इत्यादि सुख दुःख प्रश्न आपस में पूछना मार्ग उपसम्पत् है। आपस में वसतिका, आहार, औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुख-दुःखोपसम्पत् है। अर्थात् जो आगंतुक मुनि आहार वसतिका आदि से सुखी हैं उनके साथ शिष्य आदि हैं तो उन्हें कमण्डलु आदि देना, रोग पीड़ित

मुनियों का आसन, औषधि आहार वैयावृत्ति आदि से उपचार करना और "मैं आपका ही हूँ" ऐसा बोलना यह सब "सुख-दुःख उपसम्पत्" है। साधु साधुओं के लिये आहार की व्यवस्था कराते हैं, वसतिका की व्यवस्था कराते हैं, औषधि की व्यवस्था कराते हैं और जो स्वयं शक्य है पुस्तक आदि देना, शरीर मर्दन आदि करना वह सब करते हैं यही उनका "सुख दुःख उपसम्पत्" समाचार है। सूत्र के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रोपसम्पत् है।

इस प्रकार से औघिक-संक्षिप्त या सामान्य समाचार के दश भेद रूप होता है।

पदविभागिक समाचार—कोई धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणों से युक्त मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध सम्पूर्ण शास्त्रों को पढ़कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिये जाना चाहता है तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार-बार प्रश्न करता है। अवसर देखकर तीन, पाँच या छह बार प्रश्न करता है। पुनः दीक्षा-गुरु और शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनियों को लेकर जाता है, क्योंकि हीन संहनन वाले सामान्य मुनियों के लिए जिनागम में एकलविहारी की आज्ञा नहीं है।

जो साधु द्वादशविध तप को करने में समर्थ हैं, द्वादशांग या तात्त्विक अनेक शास्त्रों के ज्ञाता हैं, प्रायश्चित ग्रन्थ के वेत्ता हैं, शरीर की हड्डी आदि बल से सम्पन्न हैं, उत्तम तीन संहननों में से किसी एक संहनन के धारी हैं, एकत्व भावना में तत्पर हैं, परीषहों को जीतने में समर्थ हैं, बहुत दिनों से दीक्षित हैं, महातपस्वी हैं और आचार शास्त्र के पारंगत हैं ऐसे महामुनि ही एकलविहारी हो सकते हैं अन्य नहीं।

"जो साधु स्वच्छंद गमनागमन करता है।" स्वच्छंदता पूर्वक उठता, बैठता, सोता है, स्वच्छन्दता पूर्वक बोलना चालना आदि क्रियायें करता है ऐसा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी क्यों न हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे[1]।" ऐसा श्री कुन्दकुन्ददेव का वाक्य है, क्योंकि स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार करने से गुरु की निन्दा, श्रुताध्ययन का विच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, मूर्खता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आ जाते हैं।

ऐसे साधु के जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था (देखा देखी वैसा ही अन्य भी)

1. मूलाचार गाथा १५०।

करने लगें) मिथ्यात्व की आराधना, आत्म गुणों का नाश और संयम की विराधना इन पाँच निकाचित दोषों का प्रसंग आ जाता है।[1]

आर्यिकाओं की चर्या—ये मूलगुण और समाचारी विधि जो मुनियों के लिए हैं वे ही आर्यिकाओं के लिये मानी हैं गाथा में जो "जहाजोग्गं" पद है उससे टीकाकार ने ऐसा अर्थ लिया है, कि वे आर्यिकायें वृक्षमूल आदि योग नहीं कर सकती हैं बाकी सब अहोरात्र की चर्या मुनियों के सदृश है।" जो विशेषता है वह यही है कि वे परस्पर में अनुकूल रहती हैं, गणिनी की आज्ञा बगैर कहीं नहीं जाती हैं और एकाकी नहीं रहती हैं। गुरु के पास वन्दना या प्रायश्चित्त के समय भी अपनी गुर्वानी के साथ जाती हैं। वे दो साड़ी ग्रहण करती हैं और बैठकर आहार करती हैं। स्त्रीपर्याय के निमित्त से उनके लिये ऐसी ही आज्ञा है।

आर्यिकाओं का आचार्यत्व (नेतृत्व) कौन करते हैं ?

जो आचार्य गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मितवादी हैं, अल्पकुतूहली हैं, चिरकाल से दीक्षित हैं, आचार ग्रन्थ प्रायश्चित आदि ग्रन्थों में कुशल हैं, पापभीरु हैं, वे ही आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं अन्य नहीं। यदि इन गुणों से व्यतिरिक्त कोई आर्यिकाओं का आचार्यत्व करते हैं तो वे गणपोषण, आत्मसंस्कार सल्लेखना और उत्तमार्थ इन चार की विराधना कर लेते हैं और लोक में स्वयं की, संघ की अथवा धर्म की निन्दा कराते हैं।[2]

अहोरात्र के कृतिकर्म—"जिन अक्षरों से या जिन परिणामों से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को काटा जाता हैं—छेदा जाता है वह कृतिकर्म है[3]।" ये कृतिकर्म २८ होते हैं। दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण के ४-४, तीन काल देववंदना के दो-दो ऐसे ६, चार काल के स्वाध्याय के तीन-तीन ऐसे १२, और रात्रि योग ग्रहण विसर्जन के एक-एक ये सब ४+४+६+१२+२=२८ कृतिकर्म होते हैं।

मूलाचार में कहा है कि "प्रतिक्रमण के ४, स्वाध्याय के ३ ऐसे पूर्वाण्ह के ७ और इसी तरह अपराण्ह के ७ मिलकर १४ कृतिकर्म होते हैं।" टीका में स्पष्टीकरण है कि "पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण के ४, स्वाध्याय के ३ और वन्दना के २, सूर्योदय के बाद

1. मूलाचार गाथा १५४। 2. मूलाचार गाथा १८३, १८४, १८५। 3. मूलाचार।

स्वाध्याय के ३, मध्यान्ह् वन्दना के २ ये पूर्वाण्ह् के १४ कृतिकर्म हुए। इस तरह कुल मिलाकर अहोरात्र के २८ कृतिकर्म होते हैं[1]।

अनगार धर्मामृत में इन्हें कायोत्सर्ग[2] नाम से कहा है।

त्रिकाल देववन्दना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति और पंचगुरुभक्ति सम्बन्धी दो-दो, २×३=६, दैवसिक–रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरणवीर और चतुर्विशति तीर्थंकर इन चार भक्ति सम्बन्धी चार-चार ४×२=८, पूर्वाण्ह्, अपराण्ह्, पूर्वरात्रिक; अपररात्रिक इन चारकालिक स्वाध्याय में अर्थात् स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति एवं समाप्ति में श्रुतभक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति सम्बन्धी तीन-तीन, ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन में योग भक्ति सम्बन्धी। और रात्रियोग निष्ठापन में योग भक्ति सम्बन्धी—ऐसे २, कुल मिलाकर २८ होते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण—यथाजात मुद्राधारी मुनि मन वचन काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति पूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करें। अर्थात् सामायिकस्तव पूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विशति स्तव पर्यंत जो क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म है। जिसका खुलासा इस प्रकार है जैसे पौर्वाण्हिक स्वाध्याय करना है उनका प्रयोग—

"अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रारम्भक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रुतभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।" ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके "णमो अरहंताणं से लेकर तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि" यहाँ तक पाठ करके तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है। पुनः कायोत्सर्ग करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके "थोस्सामि हं जिणवरे" यह थोस्सामि पाठ पढ़कर तीन आवर्त एक शिरोनति होती है। तदनन्तर श्रुतभक्ति पढ़ी जाती है। इस प्रकार एक कृतिकर्म या कायोत्सर्ग में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं। इन २८ कृतिकर्मों में साधुओं की अहोरात्र की चर्या विभाजित हो जाती है। इसी प्रकार से त्रिकाल में गुरु की वन्दना में लघु सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति की जाती है। यह सब तो नित्य क्रियायें हैं।

1. मूलाचार गाथा, ६०२। 2. अनगार धर्मामृत।

नैमित्तिक क्रियायें—चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववन्दना में चैत्यभक्ति के अनंतर श्रुतभक्ति करके पंचगुरुभक्ति करें अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शांतिभक्ति इन पांच भक्तियों को करें। अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचना चारित्र भक्ति अर्थात् चारित्र भक्ति पढ़कर "इच्छामि भंते अट्ठमियम्मि" इत्यादि प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करके शांति भक्ति पढ़ें। नन्दीश्वर पर्व में पूर्वाण्ह स्वाध्याय के अनन्तर सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करें। वीरनिर्वाण क्रिया के समय सिद्ध, निर्वाण, पंचगुरु और शांतिभक्ति की जाती है। वर्षा काल के प्रारम्भ में आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्यान्ह में मंगलगोचर मध्यान्ह देववन्दना में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांतिभक्ति करके गुरु वन्दना करें। आहार ग्रहण करने के अनंतर गुरु के पास वृहत्, सिद्ध, योगभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान (उपवास) ग्रहण कर आचार्य भक्ति और शांति भक्ति करें। आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में सिद्ध, योग भक्ति करके चारों दिशाओं में चार बार स्वयंभू स्तोत्र के दो-दो स्तोत्र सहित चैत्यभक्ति की जाती है पुनः पंच-गुरु और शांतिभक्ति करके वर्षायोग ग्रहण किया जाता है। ऐसे ही कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में इसी विधि से वर्षायोग समापन क्रिया की जाती है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण तो मुद्रित है उसी को पूरा विधिवत् किया जाता है। ऐसे ही तीर्थंकरों के कल्याणक और साधुओं की सन्यास क्रिया एवं निषद्या वन्दना में भक्तियों का विधान है। विशेष आचारसार आदि ग्रन्थों से समझना चाहिये।

उपर्युक्त सारी क्रियायें साधु के मूलगुण के अन्तर्गत हैं। साधुओं के लिये १२ तप और २२ परीषह ऐसे ३४ उत्तरगुण होते हैं। इससे अतिरिक्त चौरासी लाख भी उत्तरगुण होते हैं।

१२ तप—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायोत्सर्ग ये ६ बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये ६ अंतरंग तप हैं। अनशन—उपवास करना। अवमौदर्य—भूख से कम खाना। वृत्त-परिसंख्यान—घरों का या अन्य कुछ भी अटपटा नियम लेकर आहार को जाना। रसपरि-त्याग—दूध, दही आदि में से कोई रस या सब रस छोड़ना। विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में बैठना, सोना, कायक्लेश—एक आसन से बैठना, सोना, या शीत, उष्ण आदि बाधाओं को सहन करना। प्रायश्चित—व्रतों में दोष लग जाने पर गुरु से प्रायश्चित लेना। विनय—ज्ञान,

दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारकों की विनय करना। वैयावृत्य–रोगी, थके आदि साधुओं की सेवा शुश्रूषा आदि करना। स्वाध्याय ग्रन्थों का पढ़ना पढ़ाना। व्युत्सर्ग–अंतरंग बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना और ध्यान–धर्मध्यान आदि करना।

ऐसे ही क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परीषह होते हैं। इनको जीतने वाले मुनि परीषहजयी कहलाते हैं।

इस प्रकार से पूर्व में कहे गये २८ मूलगुण होते हैं और ये ३४ उत्तरगुण होते हैं। आज के मुनियों में मूलगुण पाये जाते हैं उत्तरगुण भी कुछ रहते है।

प्रत्येक तीर्थंकरों के तीर्थ में भी पाँच प्रकार के मुनि होते हैं उसी को कहते हैं।

पुलाक आदि मुनि—मुनियों के पांच भेद होते हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक।

पुलाक—जो उत्तरगुणों से हीन हैं और व्रतों में कदाचित् दोष लगा देते हैं वे बिना धुले हुये धान्य सदृश (किंचित् लालिमा सहित) होने से पुलाक कहलाते हैं।

वकुश—जो मूलगुणों को तो पूर्णतया पालते हैं, किन्तु शरीर के संस्कार, ऋद्धि, सुख, यश और विभूति के इच्छुक है वे बकुश हैं।

कुशील—कुशील मुनि के दो भेद हैं प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। जो परिग्रह की भावना सहित हैं, मूलगुण और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं, किंतु कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करने वाले हैं वे प्रतिसेवना कुशील हैं। ग्रीष्मकाल में जो जंघा प्रक्षालन आदि का सेवन करते हैं, संज्वलन मात्र कषाय के बशीभूत हैं वे कषायकुशील हैं।

निर्ग्रंथ—जल में खींची हुई रेखा के समान जिनके कर्मों का उदय अनभिव्यक्त है और जिनको अंतर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है वे निर्ग्रंथ हैं। ये बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि हैं।

स्नातक—केवली भगवान् स्नातक हैं।

यह बात विशेष है कि जिनके मूलगुणों में कदाचित् विराधना हो जाती है वे ही पुलाकमुनि होते हैं।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में इन सभी मुनियों को भावलिंगी पूज्य प्रामाणिक कहा है। इसी दृष्टि से आज भी इस पंचमकाल में सच्चे भावलिंगी मुनि होते हैं और होते ही रहेंगे। श्री कुंदकुंददेव के भी वाक्य यही हैं—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥७६॥

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इन्दत्तं।[1]
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

इस भरत क्षेत्र में दुःषमकाल में मुनि को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है, जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है। आज भी इस पंचमकाल में रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा-मुनि आत्मा का ध्यान करके इन्द्रत्व और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से च्युत होकर अर्थात् मनुष्य होकर दीक्षा लेकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

इसलिये आज जितने भी मुनि हैं वे २८ मूलगुण के धारी होने से पूज्य हैं।

1. मोक्षपाहुड़।

आर्यिकाचर्या

मूलगुण—

मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं। मूल शब्द के अनेक अर्थ होते हैं फिर भी यहाँ मूल का प्रधान या मुख्य ऐसा अर्थ लेना चाहिये। गुण शब्द से भी यहाँ पर आचरण विशेष अर्थ लेना है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक में हितकर हैं। इस लोक में सर्वजन, मान्यता, गुरुपना, सर्वजनों के साथ मैत्री भाव आदि गुण होते हैं और परलोक में देवों का ऐश्वर्य, तीर्थंकर पद, चक्रवर्ति पद आदि प्राप्त होते हैं।

मूलगुण अट्ठाईस होते हैं—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रियनिरोध, षट् आवश्यक क्रिया, तथा लोच, आचेलक्य, स्नान का त्याग, क्षितिशयन, दंतधावनत्याग, स्थिति भोजन और एक भक्त। मूलगुणों को वृद्धि करने वाले उत्तर गुण कहलाते हैं। ये उत्तर गुण चौंतीस हैं—बारह तप और बाईस परीषह जय।

आर्यिका की सभी चर्या मुनि के सदृश ही है—

"मूलगुणों के अनुरूप आचरण को समाचार कहते हैं। अर्थात् मुनि के समाचार का इससे पूर्व में जैसा वर्णन किया है वैसा ही आर्यिका के समाचार का भी वर्णन समझना चाहिये[1]। अर्थात् दिवस और रात्रि संबंधी सभी क्रियायें मुनियों के सदृश ही हैं। अंतर इतना ही है कि वृक्षमूल योग, आतापन योग, अभ्रावकाश योग ऐसे योगादिक ३ आचरण का आर्यिकाओं के लिये निषेध है, क्योंकि वह उनकी आत्मशक्ति के बाहर है[2]।"

आचारसार में भी कहा है—

---

1. एसो अज्जाणं पि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहाजोग्गं ॥६७॥ (मूलाचार-श्रीकुंदकुंदकृत)

2. वर्षाऋतु मे वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े हो जाना वृक्षमूल है। गर्मी में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन है और ठंडी में खुले मैदान में ध्यान करना अभ्रावकाश है तथा दिन में सूर्य की तरफ मुख कर खड़े होकर ध्यान करना आदि।

"जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिये बतलाई गई है, उसी प्रकार लज्जादि गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिये[1] ।"

तथा प्रायश्चित्त ग्रंथ में भी आर्यिकाओं को मुनियों के बराबर प्रायश्चित्त का विधान है तथा क्षुल्लकादि को उनसे आधा इत्यादि रूप से है । जैसे—

"जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिये कहा गया है वैसा ही आर्यिकाओं के लिये कहा गया है विशेष इतना है कि दिनप्रतिमा (दिन में खड़े होकर ध्यान करना), त्रिकालयोग चकार शब्द से अथवा ग्रन्थांतरों के अनुसार पर्यायच्छेद (दीक्षाच्छेद) मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित्त भी आर्यिकाओं के लिये नहीं है[2] ।"

आर्यिकाओं के लिये दीक्षा विधि भी अलग से नहीं है । मुनिदीक्षा विधि से ही उन्हें दीक्षा दी जाती है । इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के व्रत, चर्या आदि मुनियों के सदृश हैं ।

विशेष इनकी चर्या क्या है वह भी स्पष्ट करते हैं—

आर्यिकायें वसतिका में परस्पर में अनुकूल मत्सरभाव रहित, परस्पर में रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर, रोष, वैर, माया जैसे विकारों से रहित, लोकापवाद और निंदा से डरती हुई, उभय कुल के अनुरूप, लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से अपने चारित्र की रक्षा करती हुई एक साथ रहती हैं । अध्ययन, पुनरावृत्ति, श्रवण, कथन, अनुप्रेक्षाओं के चिंतन, तप, विनय, संयम तथा ज्ञानाभ्यास में सतत तत्पर रहती हुई मन वचन काय से शुभाचरण करती हैं ।

निर्विकार वस्त्र तथा वेश धारण करती हुई, साज श्रृंगार से रहित, जल्ल और मल से युक्त रहती हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुरूप निर्मल आचरण करती हैं । रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन कराना, रसोई बनाना, वस्त्र सीना, सूत

---

1. लज्जाविनय-वैराग्य-सदाचार-विभूषिते ।
आर्याव्राते समाचारः संयतेष्विव किन्त्विह ॥८१॥ ।आचारसार पृ० ४२।

2. साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च । दिनस्थानत्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥११४॥ (प्राय०)

कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ आदि कार्य नहीं करती हैं। मुनियों के पैरों में तेल लगाना, धोना, गीत गाना आदि कार्य भी वे नहीं करती हैं।[1]

वसतिका स्थान—

जो स्थान साधुओं के निवास स्थान से दूर हो, गृहस्थों के स्थान से न अति दूर हो न अति पास हो, जहाँ व्यसनी, चोर आदि का प्रवेश न हो, जिसमें मलोत्सर्ग के योग्य प्रदेश भी हो।

ऐसे स्थान में दो, तीन या तीस चालीस तक भी आर्यिकायें रहती हैं। क्योंकि आर्यिकाओं को अकेली कभी नहीं रहना चाहिये। कम से कम दो अवश्य होना चाहिए तीन, पाँच या सात मिलकर आपस में एक दूसरे की रक्षा करते हुए वृद्ध आर्यिकाओं के साथ-साथ निकल कर आहार के लिए श्रावक के यहाँ प्रवेश करती हैं। गृहस्थों के घर में कभी नहीं जाती हैं केवल आहार के समय ही जाती हैं। कभी कोई विशेष धर्म कार्य होने पर अथवा किसी को सल्लेखना आदि कराने के लिए साध्वी गृहस्थ के घर जा सकती है अन्यथा नहीं। उसमें भी गणिनी को पूछकर दो तीन आदि मिलकर ही जाना चाहिए।[2]

आर्यिकाओं के अट्ठाईस मूलगुण कैसे?—

प्रश्न—जब आर्यिकाओं के सभी व्रत मुनियों के सदृश हैं पुनः वे वस्त्र कैसे रखती हैं?

---

1. अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ। गयरोसबेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ ॥६८॥
अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए। तव-विणय-सजमेसु य अविरहिदुवजोगजुत्ताओ ॥६९॥
अविकार-वत्थ-वेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ। धम्मकुल-कित्तिदिक्खापडिरूव-विसुद्ध-चरियाओ ॥७०॥
रोदणह्लावण-भोयण-पयण सुत्तं च छव्विहारंभे। विरदाण पादमक्खण-धोवण-गेयं च ण वि कुज्जा ॥७३॥
(मूलाचार-श्रीकुंदकुंदकृत)

2. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसचारे। दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥७१॥
तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ। थेरेहिं सहंतरिता भिक्खाय समोदरंति सदा ॥७४॥
ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे। गणिणीमापुच्छिता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥७२॥ (मूला० कुंद०)

इस पर आचार्यों ने ऐसा कहा है कि—

"आर्यिकाओं को अपने पहनने के लिए दो साड़ी रखना चाहिए। इन दो वस्त्रों के सिवाय तीसरा वस्त्र रखने पर उसके लिए प्रायश्चित होता है।[1]"

इन दो वस्त्रों का ऐसा मतलब है कि दो साड़ी लगभग १६-१६ हाथ की रखती हैं। एक बार में एक ही पहनना होता है दूसरी को धोकर सुखा देती हैं जो कि द्वितीय दिवस बदली जाती है।

आचार्य वीरसागर जी महाराज कहते थे कि दो साड़ी रखने से आर्यिका का एक मूलगुण कम नहीं होता है किंतु उनके लिए आगम की आज्ञा होने से यही मूलगुण है, हाँ ! तृतीय साड़ी रखने से अवश्य ही मूलगुण में दोष आता है।[2] मुनिराज खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं। और आर्यिकाओं को बैठकर आहार लेना होता है। यह भी शास्त्र की आज्ञा होने से उनका मूलगुण ही है। इसलिए उनके भी अट्ठाईस मूलगुण मानने में कोई बाधा नहीं है। यही कारण है कि आर्यिकाओं के महाव्रतों को उपचार संज्ञा दी गई है। यथा—

"गणधर आदि देवों ने उन आर्यिकाओं की सज्जाति आदि को सूचित करने के लिए उनमें उपचार से महाव्रत का आरोपण करना बतलाया है। अर्थात् साड़ी धारण करने से आर्यिकाओं में देशव्रत ही होते हैं परन्तु सज्जाति आदि कारणों से गणधर आदि देवों ने उनके देशव्रतों में उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया है।[3]"

ये उपचार से महाव्रती है अतएव एक साड़ी धारण करते हुए भी लंगोटी मात्र अल्पपरिग्रह धारक ऐलक के द्वारा पूज्य हैं।[4] यथा—

---

1. वस्त्रयुग मसुवीभत्स-लिंग-पृच्छादनाय च। आर्याणा सकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते ॥119॥ (प्राय०)
2. चा० च आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पट्टशिष्य थे।
3. देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यते बुधैस्ततः। महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥८९॥ (आचारसार)
4. श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओं में से अंतिम ग्यारहवी प्रतिमाधारी के दो भेद हैं—
क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक के पास लंगोटी और चद्दर ये दो वस्त्र रहते हैं किंतु ऐलक के पास लंगोटी मात्र रहती है।

"अहो आश्चर्य है कि ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकते हैं, किंतु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्व परिणाम रहित होने से उपचार से महाव्रतिनी कहलाती हैं[1] ।" अर्थात् ऐलक लंगोटी त्याग कर सकता है फिर भी ममत्व आदि कारणों से धारण किये हैं किंतु आर्यिका तो साड़ी का त्याग करने में समर्थ नहीं है ।

आर्यिकाओं की यह साड़ी बिना सिली हुई होनी चाहिए । अर्थात् सिले हुये वस्त्र पहनने का उनके लिए निषेध है ।

निष्कर्ष यह निकला कि ये आर्यिकायें एक श्वेत साड़ी पहनती हैं, हाथ में मयूर पंख की पिच्छी रखती हैं तथा शौच के लिये काठ या नारियल का कमंडलु रहता है । ज्ञान साधन के लिए शास्त्र को रखती हैं । सोने या बैठने में बिछाने के लिए घास पाटा या चटाई भी रख सकती हैं । बाकी कुछ भी परिग्रह उनके पास नहीं रहता है ।

पठन-पाठन में या ग्रन्थ के लिखने के लिये कलम, स्याही, कागज आदि भी रख सकती हैं[2] । मुनियों की अपेक्षा मूलगुणों के पालन में दो ही बातों का अंतर है—एक तो एक साड़ी पहनना और दूसरा बैठकर आहार करना ।

दैनिक चर्या----

मुनि-आर्यिकाओं के दैनिक अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं, जो कि पिछली रात्रि से पूर्वरात्रि तक किये जाते हैं । उनका स्पष्टीकरण–पूर्वाह्न मध्याह्न, पूर्वरात्रिक और अपर-रात्रिक । इन चार काल के स्वाध्याय के १२ कायोत्सर्ग होते हैं । दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के ८, त्रैकालिक देववंदना के ६, रात्रियोग प्रतिष्ठापना और निष्ठापना में २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग होते हैं ।

पिछली रात्रि में अपररात्रिक स्वाध्याय होता है । निद्रा से उठकर हाथ-पैर आदि शुद्ध करके स्वाध्याय शुरू करना चाहिये । स्वाध्याय प्रारंभ करने से पहले श्रुतभक्ति और

1. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रत ।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति ।।३६।। (सागार० पृ० ५१८)

2. नेत्रज्योति कमजोर हो जाने से पढ़ने के लिये, ईर्यापथ शुद्धि से चलने के लिये और आहार को देखने शोधने के लिए कदाचित् चश्मा भी ले सकती हैं । (यह व्यवस्था गुरु परंपरागत है ।)

आचार्यभक्ति संबंधी दो कायोत्सर्ग होते हैं। नंतर स्वाध्याय के बाद श्रुतभक्ति संबंधी एक कायोत्सर्ग होता है ऐसे एक स्वाध्याय सम्बन्धी तीन कायोत्सर्ग हुये। पुनः सूर्योदय के २ घड़ी आदि से पहले रात्रि सम्बन्धी दोष का शोधन करने के लिये प्रतिक्रमण करना होता है। उसमें सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीर भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति इन चार भक्ति संबंधी चार कायोत्सर्ग होते हैं। पुनः रात्रियोग निष्ठापन सम्बन्धी एक कायोत्सर्ग होता है।

अनंतर पूर्वाण्ह् सामायिक (देववंदना) में चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति संबंधी दो कायोत्सर्ग होते हैं। पुनः लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य वंदना की जाती है। अनंतर सूर्योदय के दो घड़ी बाद पौवाण्हिक स्वाध्याय होता है उसमें भी पूर्वोक्त तीन कायोत्सर्ग हो जाते हैं।

पुनः यदि आचार्य के संघ में आर्यिकायें हैं तो शुद्ध वस्त्र बदलकर आचार्य श्री के समीप मंदिर में आ जाती है। आचार्य श्री के और क्रम से सभी मुनियों के आहारार्थ निकलने के बाद गणिनी आर्यिका निकलती है। उनके पीछे-पीछे सभी आर्यिकायें क्रम से आहार के लिये निकल जाती हैं। आहार से आकर गुरु के पास प्रत्याख्यान ग्रहण करके अपने स्थान पर चली जाती हैं।

पुनः मध्यान्ह् में सामायिक करती हैं। अनंतर मध्यान्ह् की चार घड़ी बीत जाने पर अपरान्हिक स्वाध्याय किया जाता है। जो नवदीक्षित हैं, अल्पज्ञ हैं वे विद्यार्थिनी के रूप में अपनी गुर्वानी से या उनकी आज्ञानुसार अन्य विद्वानों से गुर्वानी के पास बैठकर अध्ययन करती हैं। व्याकरण, न्याय, सिद्धांत, छंद, अलंकार आदि ग्रंथों को पढ़ती हैं। विदुषी आर्यिकायें भी पढ़ाती हैं। अनंतर दिवस संबंधी दोषों का शोधन करने के लिये सभी साधु-साध्वी मिलकर प्रतिक्रमण करते हैं। बाद में आचार्य की वंदना करते हैं। अनंतर मुनि अपने स्थान पर तथा आर्यिकायें अपनी वसतिका में जाकर रात्रियोग प्रतिष्ठापन करने में योग भक्ति संबंधी कायोत्सर्ग करती हैं। रात्रियोग का मतलब यह है कि "मैं आज रात्रि में इस वसतिका में ही निवास करूंगा" क्योंकि साधु जन रात्रि में यत्र-तत्र विचरण नहीं कर सकते हैं। मल मूत्रादि विसर्जन के लिये भी दिन में जगह देख लेते हैं जो कि वसतिका से अति दूर नहीं है, वहीं पर जाते हैं।

अनंतर आर्यिकायें सूर्यास्त काल में अपरान्हिक सामायिक शुरू करती हैं। सामायिक के बाद पुनः पूर्वरात्रिक स्वाध्याय करना होता है। जो शिष्यायें अध्ययन करने वाली हैं वे अपना पाठ याद करती हैं। बाद में णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुये चटाई पाटा पर सोती हैं। आर्यिका अकेली शयन नहीं कर सकती हैं चूंकि लोकापवाद का भय रहता है। दो चार आदि आर्यिकायें एक कमरे में सोती हैं। दिन में भी मिलकर ही रहती हैं। संक्षिप्त से यह दिगंबर जैनसंप्रदाय वाली आर्यिकाओं की चर्या है।

जो आर्यिकायें विदुषी होती हैं वे प्रातः या मध्यान्ह में अपने स्वाध्याय से समय निकालकर श्रावक श्राविकाओं की सभी में धर्मोपदेश भी देती हैं।

आर्यिकाओं के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य--

आर्यिकाये गुरु की वंदना को अकेली नहीं जा सकती है। गणिनी के साथ अथवा दो चार मिलकर ही जाती हैं। अकेले बैठकर दिगंबर मुनियों से चर्चा वार्तालाप आदि नहीं कर सकती हैं। मुनियों की सेवा, वैयावृत्ति आदि भी नहीं कर सकती हैं। गीत गाना, रोना, बुहारी देना, वस्त्र सीना, आदि कोई भी कार्य नहीं करती हैं। गृहस्थों के बच्चों का लाड़-प्यार नहीं करती है। गृहस्थ-महिलाओं से गृहस्थ के विवाह, व्यापार, रसोई, खान-पान आदि संबंधी चर्चा भी नहीं करती हैं। प्रत्युत इन्हें धर्म की, वैराग्य की शिक्षा देती हैं। नाटक, उपन्यास, शृंगार संबंधी पुस्तके नहीं पढ़ती हैं। राजनैतिक चर्चाओं में भाग नहीं लेती हैं। केवल परलोक सिद्धि के लिए धर्माराधन मे तत्पर रहती हैं, लौकिक प्रपंच आदि मे नहीं पड़ती हैं। आपस में ईर्ष्या द्वेष, कलह से दूर रहती हैं। एक दूसरे की अनुकूलता रखते हुए पठन-पाठन मे अपना समय व्यतीत करती हैं। आर्यिकाएँ कुछ भी आरंभ नहीं करती हैं जैसे पानी गरम करना, छानना, लाना, भरना आदि। गृहस्थ संबंधी कार्यों का त्याग रहता है। बीमारी में भी अपने हाथ से औषधि नहीं बनाती हैं। श्रावक-श्राविकाएँ शुद्ध काष्ठादि प्रासुक औषधि तैयार करके आहार के समय ही आहार में दे देते हैं अथवा लगाने के लिए शुद्ध तेल, घी आदि का प्रयोग कर लेती हैं।

श्रावक इनके कमंडलु में गरम जल भर देते हैं। वे अपनी साड़ी को एक कमंडलु के जल से धो सकती हैं। बिना गरम किया हुआ कच्चाजल हाथ से नहीं छूती हैं। या तो श्राविकायें छने जल से इनकी साड़ी धोकर सुखा देती हैं। आर्यिकाएँ साबुन आदि वस्तुओं का भी प्रयोग नहीं कर सकती हैं। वह आहार के लिये मन वचन काय से कुछ भी नहीं

कहलाती हैं। श्रावकों के यहाँ जैसा मिला वैसा दोषों से रहित प्रासुक आहार होना चाहिये नीरस हो या सरस, उन्हीं के द्वारा दिया गया आहार अपने हाथों की अंजुली में ग्रहण करती हैं। वे मुनि के समान दो, तीन या चार महीने में केशलोंच करती हैं। मुनियों की वसतिका में आर्यिकाओं का रहना, लेटना, बैठना, स्वाध्याय करना आदि वर्जित है।

मासिक धर्म की अवस्था में आर्यिकायें तीन दिन तक मौन से रहती है। जिन मंदिर से अलग वसतिका में रहती हैं। किसी को भी स्पर्श नहीं करती हैं, न कोई पुस्तक आदि ही छू सकती हैं। मौन पूर्वक केवल मन में णमोकार मन्त्र और बारह भावनाओं का चिंतवन करती हैं। षट् आवश्यक क्रियायें—सामायिक, प्रतिक्रमण आदि भी केवल मन में चिंतवन रूप से करती हैं। ओष्ठ, जिह्वा आदि न हिलने पाये ऐसा मन्त्र स्तोत्रादि का चिंतवन भी चलता है।

यदि उपवास करने की शक्ति है तो तीन दिन उपवास अन्यथा एक या दो उपवास कर लेती हैं। शक्ति न होने से तीनों दिन छहों रस रहित नीरस आहार कर लेती हैं। जो श्राविकायें आहार कराती हैं वे इनका स्पर्श नहीं करती हैं। तीन दिन के बाद श्राविकायें इन्हें गरम जल से स्नान करा देती हैं तब आर्यिका गणिनी के पास आकर यदि आचार्य संघ में हैं तो गणिनी के साथ आचार्य के पास जाती हैं, गणिनी आचार्य द्वारा इन्हें प्रायश्चित दिला देती हैं अथवा आचार्य के न होने पर गणिनी ही प्रायश्चित देती हैं।

चतुर्विधसंघ—

इस प्रकार चतुर्विध संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं का समूह अनादिकाल से चला आ रहा है। स्वतन्त्ररूप में भी जैसे मुनियों के संघ रहते हैं वैसे गणिनी आर्यिकाओं के नेतृत्व में आर्यिकाओं के संघ भी रहते हैं। दोनों व्यवस्थायें चतुर्थकाल में भी थीं और आज पंचमकाल में भी आचार्यसंघों में भी आर्यिकायें रहती हैं तथा स्वतन्त्र भी आर्यिकाओं के संघ विद्यमान हैं। यह चतुर्विध संघ पंचमकाल के अंत तक रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। इसलिये आज की आर्यिकायें भी पूज्य हैं और नवधाभक्ति की पात्र हैं ऐसा आगम-सम्मत मानकर उनकी भक्ति, पूजा करना चाहिये और उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देना चाहिये।

त्रिलोक विज्ञान—

सर्वज्ञ भगवान् से अवलोकित यह लोक आदि-अन्त से रहित, स्वभाव से ही उत्पन्न और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन छहों द्रव्यों से भरा हुआ है। यह अनन्तानन्त अलोकाकाश के बीचों बीच में है। इसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ऐसे तीन भेद हैं। अधोलोक का आकार वेत्रासन के सदृश, मध्यलोक का आकार खड़े किये हुये आधे मृदंग के ऊर्ध्वभाग के समान एवं ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुये मृदंग के सदृश है।[1] अथवा कोई पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमर पर रखकर खड़ा हो जाये तो जैसा आकार दिखता है वैसा ही यह लोक पुरुषाकार है।

संपूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। इसमें अधोलोक की ऊँचाई ७ राजू, मध्यलोक की ऊँचाई १ लाख योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई १ लाख योजन कम ७ राजू है। इस लोक की मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। अधोलोक के तलभाग में लोक का विस्तार ७ राजू, क्रम से घटते हुये मध्यलोक में १ राजू, पुनः बढ़ते हुये ब्रह्मस्वर्ग पर ५ राजू और पुनः घटते हुये ऊर्ध्वलोक के अंत में १ राजू है। "इस प्रकार से सिद्ध हुये त्रिलोक रूप क्षेत्र की मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाई का हम वैसे ही वर्णन करते हैं जैसा कि दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग से निकला[2] है। इस कथन से इस तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ की प्रमाणिकता सिद्ध हो जाती है।

लोक का घनफल—यह लोक तलभाग में ७ राजू, मध्य में १, पाँचवें स्वर्ग के पास ५ और अंत में १ राजू है। इनको जोड़ देने से ७+१+५+१=१४ राजू हुये। इस १४ में ४ का भाग देने से १४÷४=३½ राजू हुये। इसमें लोक के दक्षिण-उत्तर की मोटाई ७ राजू का गुणा कर देने पर ३½×७=२४½ राजू हुये। पुनः इस चौड़ाई मोटाई के गुणनफल में लोक की ऊँचाई १४ राजू से गुणा करने पर २४½×१४=३४३ राजू हुये। इस लोकाकाश का संपूर्ण घनफल ३४३ राजू प्रमाण है।

यह सम्पूर्ण लोक घनोदधिवातवलय घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित है। ये वातवलय एक प्रकार का सघन और स्थिर वायुमण्डल है।

---

1. तिलोयपण्णत्ति पृ० १७।
2. एदेण पयारेणं णिप्पण्णत्तिलोय-खेत्त-दीहत्तं।
   वासउदयं भणामो णिस्संदं दिट्ठिवादादो "१४८" तिलोय प० पृ० १८।

त्रसनाली—लोक के बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरहराजू ऊँची त्रसनाली त्रस जीवों का निवास क्षेत्र है। अर्थात् ३२१६२२४१$\frac{2}{3}$ धनुष कम १३ राजू ऊँची यह त्रसनाली है। इसे त्रसलोक भी कहते हैं।

इस त्रसलोक में ही पंचेंद्रिय जीवों का निवास है। अर्थात् दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। तथा एकेंद्रिय जीव बादर और सूक्ष्म भेदों से युक्त ये सब जीव इसमें रहते हैं। इसीलिये इसका त्रसलोक या त्रसनाली सार्थक नाम है। इससे परे त्रसनाली से बाहर संपूर्ण लोक में सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव ही पाये जाते हैं। वहाँ त्रसजीव नहीं हैं और बादर एकेंद्रिय भी नहीं हैं[1]।

अधोलोक—अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक-एक राजू के अंतराल से हैं। अर्थात् पहली और दूसरी पृथ्वी की मोटाई एक राजू में शामिल है। अतएव इन दोनों पृथिवियों का अंतर २ लाख, १२ हजार योजन कम एक राजू होगा। ऐसे आगे की पृथिवियों की मोटाई प्रत्येक राजू में शामिल है १ लाख ८० हजार योजन मोटी है। दूसरी आदि पृथ्वी की रत्नप्रभा पृथ्वी की क्रम से ३२०००, २८०००, २४०००, २००००, १६००० और ८००० योजन की मोटाई है। इन पृथिवियों के घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये नाम भी अनादिनिधन हैं। इन पृथिवियों में नारकी जीव रहते हैं जो मनुष्य और तिर्यंच हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापों में प्रवृत्ति करते हैं।

मध्यलोक—सुमेरु पर्वत के मूल से एक लाख योजन ऊंचाई वाले और एक राजू लंबे चौड़े क्षेत्र में तिर्यक्लोक-मध्यलोक है। अर्थात् १४ राजू ऊंचा लोक है। उसमें ७ राजू में अधोलोक है। और १ लाख योजन कम ७ राजू में ऊर्ध्वलोक है। इसलिये जब यह कथन है कि ७ राजू में अधोलोक, ७ राजू में ऊर्ध्वलोक है। तब मध्यलोक ऊर्ध्वलोक में समझना। यह ऊर्ध्वलोक के ७ राजू में से ही १ लाख योजन लेकर मध्यलोक बना है।

असंख्यात द्वीप-समुद्र—इस मध्यलोक में असंख्यात (२५ कोड़ा कोड़ी उद्धार पल्यों के रोमों प्रमाण) द्वीप-समुद्र हैं। ये सब समवृत्त गोलाकार है। इसमें से पहला द्वीप है,

---

1 तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४१, तत्वार्थसूत्र, अ० ३, सूत्र। 2. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ५१ 3. जबूद्वीपपण्णत्ति, पृ० ५८ 4. तिलोय, प० पृ० १६ 5 जबूद्वीप पण्णत्ति पृ० १६ 6. तिलोय, प० पृ० ५३ 7. तिलोय, प० पृ० १६।

अंतिम समुद्र है और मध्य में द्वीप समुद्र हैं। सब एक दूसरे को वेष्टित किये हुये हैं और विस्तार में एक से दूसरे दूने दूने प्रमाण वाले हैं। "सब ही समुद्र चित्रापृथ्वी को खण्डित कर वज्रापृथ्वी के ऊपर और सब द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित है[1]।"

सर्वप्रथम जंबूद्वीप है। यह १ लाख योजन विस्तृत है। इसे चारों ओर से घेरकर लवणसमुद्र है वह २ लाख योजन विस्तृत है। इसे घेरकर धातकी-खण्ड द्वीप है यह ४ लाख योजन विस्तृत है इस द्वीप को वेष्टित कर ८ लाख योजन विस्तृत कालोद समुद्र है। इसे घेरकर पुष्करद्वीप है यह १६ लाख योजन विस्तार वाला है। इसे घेरकर ३२ लाख योजन विस्तृत पुष्करसमुद्र है। आगे के द्वीप-समुद्र भी पुष्करद्वीप समुद्र समान ही सदृश नाम वाले हैं। अंतिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप है और अंतिम समुद्र का नाम स्वयं-भूरमण समुद्र है। ये द्वीप समुद्र असंख्यात हैं। अतः विस्तार में दूने-दूने प्रमाण वाले होने से आगे असंख्यात-असंख्यात योजन विस्तार वाले होते गए हैं। इनके नाम भी आगे ये ही जंबूद्वीप आदि पुनः-पुनः आते गये हैं क्योंकि शब्द संख्यात हैं अतः असंख्यात के नाम में वे ही फिर से आयेंगे ही आयेंगे।

मनुष्यलोक—पुष्करवर द्वीप के बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक मानुषो-त्तर पर्वत है।[2] इसके बाहर मनुष्यों का अस्तित्व नहीं है इसके अभ्यंतर भाग में जंबूद्वीप धातकीखंड और आधापुष्करवर द्वीप इन ढाई द्वीपों में ही मनुष्यों का निवास होने से इतने ही क्षेत्र को मनुष्यलोक कहते हैं। यह ४५ लाख योजन प्रमाण है। जंबूद्वीप १ लाख + लवण समुद्र दोनों तरफ २ + २ लाख, धातकीखण्ड दोनों तरफ से ४ + ४ लाख कालोदधि समुद्र ८ + ८ लाख और पुष्करार्ध ८ + ८ लाख = ४५। ऐसे ४५ लाख योजन हो जाते हैं।

ऊर्ध्वलोक—एक लाख योजन कम ७ राजू में ऊर्ध्वलोक स्थित है[3]। इसमें सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत, प्राणत और आरण-अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं।

इनके ऊपर अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयक ऐसे मुख्य तीन ग्रैवेयक हैं। इनमें से प्रत्येक के अधो, मध्य और ऊर्ध्व ये तीन-तीन भेद होने से नव ग्रैवेयक हो

1. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ५३० 2. तिलोयपण्णत्ति पृ० ४६५ 3. तिलोय प० पृ० १६।

जाते हैं। इनके ऊपर नव अनुदिश हैं। अर्चि, अर्चि मालिनी, वैर, वैरोचन, सोम, सोम-प्रभ, अंक, स्फटिक और आदित्य ये उनके नाम हैं। इनके ऊपर पाँच अनुत्तर हैं। विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये इनके नाम हैं।[1]

सिद्धशिला—सर्वार्थसिद्धि विमान से ध्वज दण्ड से १२ योजन ऊपर जाकर तीन लोक के मस्तक पर ईषत्प्राभार नाम की आठवीं पृथ्वी है। इसकी चौड़ाई १ राजू, लम्बाई (दक्षिण-उत्तर) ७ राजू और मोटाई ८ योजन प्रमाण है। इस पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय, छत्राकार ४५००००० योजन प्रमाण व्यास वाली सिद्धशिला है। इस सिद्ध क्षेत्र के उपरिवर्ती तनुवातवलय में सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त और अनंतसुख से तृप्त अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं।[2]

कोई भी भव्यजीव मनुष्य पर्याय प्राप्त कर धर्मपुरुषार्थ के बल पर अपनी आत्मा को कर्म बन्धन से छुटाकर सिद्ध परमेष्ठी स्वरूप परमात्मा बना सकता है। जब तक यह जीव अपने आप को नहीं पहचानता है तब तक इस ३४३ राजू प्रमाण लोक में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ जन्म मरण के दुःख भोगता रहता है। इसलिये तीन लोक के स्वरूप को जानकर उसके चतुर्गति भ्रमण को समाप्त कर लोक के अन्त भाग में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये यही विद्या अध्ययन का फल है।

यहाँ पर प्रसंगोपात्त राजू का मान शास्त्रीय गणित से दिखाया जा रहा है।

राजू का माप—राजू का प्रमाण क्या है? मध्य लोक में जितने द्वीप-समुद्र हैं वही एक राजू का प्रमाण है।

सर्वद्वीप समुद्र कितने हैं? पच्चीस कोड़ा कोड़ी उद्धारपल्यों के रोमों के प्रमाण द्वीप-समुद्र दोनों की संख्या है। इसमें आधी क्रमशः द्वीपों की और आधी समुद्रों की संख्या है[3]।

उद्धारपल्य—

अनन्तानन्त परमाणुओं का एक अवसन्नासन्न,

आठ अवसन्नासन्न का एक सन्नासन्न,

आठ त्रुटिरेणु का एक त्रसरेणु,

1. त्रिलोकसार गाथा ४५२ से ४५७।
2. त्रिलोकसार गाथा ५५६ से ५५८।
3. तिलोय प० अधिकार ५, गाथा ७।

आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु,

आठ रथरेणु का उत्तम भोगभूमि का एक बालाग्र,

आठ इन बालाग्र का एक मध्यम भोगभूमि का एक बालाग्र,

आठ इन बालाग्र का कर्मभूमि का एक बालाग्र,

आठ इन बालाग्र की एक लिक्षा,

आठ लिक्षा का एक जूं,

आठ जूं का एक जौ,

आठ जौ का एक अंगुल,

छह अंगुलो का एक पाद,

दो पादों की एक बितस्ति,

दो वितस्तियों का एक हाथ,

दो हाथों का एक रिक्कू,

दो रिक्कू का एक दण्ड अथवा धनुष,

दो हजार धनुष का एक कोश,

चार कोश का एक योजन।

एक योजन विस्तृत गोल गड्ढे को बनाकर गणित शास्त्र में निपुण विद्वान् को इसका घनफल निकाल लेना चाहिये। समान गोल क्षेत्र के व्यास के वर्ग को दश से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण निकलता है। तथा विस्तार अर्थात् व्यास के चौथे भाग से परिधि को गुणा करने पर उसका क्षेत्रफल निकलता है। तथा उन्नीस योजनों को चौबीस से विभक्त करने पर तीन प्रकार के पल्यों में से प्रत्येक का घन क्षेत्रफल होता है।

उदाहरण—१ योजन व्यास वाले गोल क्षेत्र का घनफल—

$$१ \times १ \times १० = १०, \; १० = \frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} = \frac{१९}{२४}$$ क्षेत्रफल,

$$\frac{१९}{२४} \times = \frac{१९}{२४}$$ घनफल,

उत्तम भोगभूमि के एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुये मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम पल्य (गड्ढे) को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिये।

इन भरे हुये रोमों की संख्या—अन्त में १८ शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पांच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य दो, आठ, शून्य, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक और चार, ये क्रम से पल्य के अंक हैं[1]।

यह व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या है। पुनः सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम खण्ड के निकालने से जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को व्यवहार पल्योपम कहते हैं। व्यवहार पल्प की रोम राशि में से प्रत्येक रोम खण्ड को, असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भर कर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकाले। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाये उतने काल को उद्धारपल्योपम समझना चाहिये। इस उद्धारपल्य से द्वीप समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है अर्थात् जो पहले पच्चीस कोड़ा कोड़ी उद्धारपल्यों के रोमों के प्रमाण मध्यलोक के सम्पूर्ण द्वीप समुद्रों की संख्या बतलाई है वे सब द्वीप समुद्र एक राजू प्रमाण विस्तृत क्षेत्र में है।

कोड़ाकोड़ी क्या है ?—एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ाकोड़ी होता है। १००००००० × १००००००० = १०००००००००००००० अर्थात् दस नील प्रमाण एक कोड़ाकोड़ी होता है।

ऐसे २५ × १० = २५०, दो सौ पचास नील उद्धारपल्यों के जितने रोम हैं उतने ही द्वीप समुद्र हैं। ये सभी द्वीप समुद्र दूने दूने प्रमाण वाले होने से बहुत विस्तृत अर्थात् आगे चलकर असंख्यात योजन विस्तार वाले होते गये हैं। इस प्रकार से एक राजू में कितने योजन होंगे सो बुद्धिमान लोग स्वयं सोच सकते हैं। निष्कर्ष यही निकलता है कि एक राजू में असंख्यातों योजन हो जाते हैं।

इस प्रकार अतिसंक्षेप में यह तीनलोक का कथन किया गया है।

1. तिलोय प० अधिकार १, पृ० १५।

"मानव लोक"

जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। इस लोक से परे चारों तरफ अनंत अलोकाकाश है। इस लोक के तीन भेद हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक में नारकी जीव रहते हैं और ऊर्ध्वलोक में देवों का निवास है तथा मध्यलोक में मनुष्य, तिर्यंच और देव भी रहते हैं। यह लोक पुरुषाकार है।

मध्यलोक—इसमें कटिभाग के समान मध्यलोक है इसका विस्तार एक राजू प्रमाण है और ऊँचाई निन्यान्वे हजार चालीस योजन मात्र है इस राजू प्रमाण—क्षेत्र में असंख्यात द्वीप समुद्र है। इसमें ठीक बीच में सर्वप्रथम द्वीप का नाम जंबूद्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार (थाली के समान) है। इसे चारों ओर से वेष्टित कर दो लाख योजन विस्तृत लवणसमुद्र है। इसे वेष्टित कर धातकीखंड द्वीप है। इसे वेष्टित कर पुष्करद्वीप है। ऐसे ही द्वीप को घेरे हुये समुद्र और समुद्र को घेरे हुये द्वीप आगे-आगे दूने-दूने विस्तार वाले होते चले गये हैं। अंतिम द्वीप का नाम स्वयंभूरमणद्वीप और समुद्र का नाम भी स्वयंभूरमण है।

मनुष्यलोक—यह मनुष्यलोक ढाई द्वीप और दो समुद्र तक ही है। तृतीय पुष्कर द्वीप के बीच में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत के इधर तक आधे द्वीप में और पहले के दो द्वीप में ही मनुष्य रहते हैं। इस मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य नहीं जा सकता है। इसलिये प्रथम जम्बूद्वीप, द्वितीय, धातकीखंड और आधे पुष्कर द्वीप को मिलाकर ढाई द्वीप होते हैं। प्रथम जम्बूद्वीप एक लाख योजन का, लवण समुद्र दोनों तरफ २–२ लाख, धातकीखंड दोनों तरफ ४–४ लाख, कालोद समुद्र दोनों तरफ ८–८ लाख और आधा पुष्कर द्वीप दोनों तरफ ८–८। ये सब मिलकर १+२+२+४+४+८+८+८+८=४५, लाख योजन का यह मनुष्यलोक है।

मनुष्य के भेद—

मनुष्य के दो भेद प्रसिद्ध हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज[1]।

---

1. माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा। (नियमसार गाथा १६)

जहाँ असि मषि कृषि विद्या वाणिज्य और शिल्प ये छह क्रियायें होती हैं। उसे कर्मभूमि कहते हैं। और जहाँ पर कल्पवृक्षों से भोग सामग्री मिल जाती है, उसे भोगभूमि कहते हैं।

कर्मभूमि—तीनलोक में अर्थात् सारे विश्व में कर्मभूमि पंद्रह ही है। इनके अवांतर भेद करने से एक सौ सत्तर हो जाती हैं।"ढाई द्वीप और दो समुद्रों के अंतर्गत कर्मभूमि पंद्रह हैं। वे पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेहों की हैं।[1]"

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप—इस प्रथम द्वीप में हिमवान आदि छह कुलाचलों से विभाजित भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इनमें से आदि मध्य और अन्त के क्षेत्रों में कर्मभूमि है। धातकी खंड में दक्षिण-उत्तर, इष्वाकार पर्वत होने से उसके पूर्वधातकी खंड और पश्चिम धातकी खंड ऐसे दो भाग हो गये हैं। वहाँ पर दोनों भागों में भरत आदि सात क्षेत्र होने से वहाँ के दो भरत, दो ऐरावत और महाविदेहों में कर्मभूमि है। ऐसे ही पुष्करार्ध में भी दो इष्वाकार के निमित्त से दो भाग हो जाने से दोनों तरफ के दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह हैं। ये सब ३+६+६=१५ कर्मभूमि हैं।

एक सौ सत्तर कर्मभूमि—जम्बूद्वीप के विदेह के ठीक बीच में सुदर्शनमेरु पर्वत है। इसके पूर्व और पश्चिम में सीता-सीतोदा नदी बहती हैं। इसलिये पूर्व विदेह के दक्षिण-उत्तर भाग एवं पश्चिम विदेह के भी दक्षिण उत्तर भाग हो गये हैं। प्रत्येक भाग में चार-२ वक्षार पर्वत और तीन-२ विभंगा नदी होने से इनके अंतराल में आठ-२ देश हो गये है। जिनके नाम कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा आदि हैं। इस तरह जंबूद्वीप के महाविदेह में बत्तीस विदेह देश हो गये हैं। ये एक-२ विदेह भरत के विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन से चौगुने की अपेक्षा भी बड़े हैं। अर्थात् प्रत्येक का विस्तार २२१२$\frac{7}{8}$ योजन है। ऐसे ही धातकी खंड में दो महाविदेह के ३२×२=६४ और पुष्करार्ध द्वीप के दो महाविदेह के ३२×२=६४ सब मिलाकर ३२+६४+६४=१६० हुये। इनमें पाँच भरत, पाँच ऐरावत के मिला देने से १६०+१०=१७० कर्मभूमि हो जाती हैं।

---

1. अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णरसकम्मभूमिसु। दससु भरहेरावेसु पंचसु महाविदेहेसु॥

शाश्वत कर्मभूमि—विदेह क्षेत्रों की १६० कर्मभूमियाँ शाश्वत कहलाती हैं। चूंकि वहाँ सदा ही चतुर्थ काल के प्रारम्भ जैसा काल रहता है। वहाँ पर हमेशा तीर्थंकर केवली, श्रुत-केवली और महामुनि विहार करते रहते हैं। आज भी वहाँ सीमंधर आदि बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। अतः वहाँ से कभी भी मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

अशाश्वत कर्मभूमि—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखंड में षट्काल परिवर्तन होने से तीन काल में भोगभूमि और तीन काल में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। इस परिवर्तन के निमित्त से यहाँ भरत क्षेत्र में अशाश्वत कर्मभूमि कहलाती हैं।

आर्यखण्ड—उपर्युक्त १७० कर्मभूमियों में ठीक बीच में लंबा विजयार्ध पर्वत होने से और गंगा सिंधु आदि दो नदियों के बहने से छह खंड हो जाते हैं। प्रत्येक में एक-एक आर्य खण्ड है। इनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि महापुरुष जन्म लेते रहते हैं।

म्लेच्छखण्ड—प्रत्येक कर्मभूमि के छहखंड में आर्यखंड के अतिरिक्त पाँच-पाँच म्लेच्छ खंड हैं। ऐसे (१७०×५=८५०) आठ सौ पचास म्लेच्छखंड हैं। यहाँ के मनुष्य संस्कार क्रियाओं से हीन होने से म्लेच्छ कहलाते हैं।

विजयार्ध पर्वत—एक सौ सत्तर कर्मभूमि में प्रत्येक के बीच में विजयार्ध पर्वत के होने से १७० ही विजयार्ध पर्वत हैं। इस पर्वत के दोनों तरफ तीन-तीन कटनी हैं। उनमें से प्रथम कटनी पर दोनों तरफ में विद्याधर मनुष्यों के ११०-११० नगर हैं। इस तरह १७०×११०=१८७०० विद्याधर नगर हैं। इनमें विद्या के बल से आकाश आदि में विचरण करने वाले मनुष्य होते हैं।

विदेहों के १६० कर्मभूमि के विजयार्ध की विद्याधर श्रेणियों में और सर्वम्लेच्छ खंडों में सतत् ही चतुर्थकाल के आदि जैसी ही अर्थात् विदेह क्षेत्र जैसी ही एक सदृश व्यवस्था रहती है। पाँच भरत, पाँच ऐरावत के विजयार्ध और म्लेच्छखंडों में चतुर्थकाल के आदि से लेकर अंत जैसा ही परिवर्तन होता है। अन्यकाल का परिवर्तन वहाँ नहीं है।

षट्काल परिवर्तन—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्र के आर्यखंड में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो काल वर्तते हैं। १० कोड़ाकोड़ी सागर की अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी होती है। इन दोनों के छह-छह भेद हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमादुष्षमा, दुषमासुषमा, दुष्षमा, अतिदुष्षमा। ये अवसर्पिणी के भेद हैं। इनसे उल्टे अतिदुष्षमा से लेकर उत्सर्पिणी

के भेद हैं। अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल में आयु, शरीर की ऊँचाई और सुख आदि की हानि होती जाती है तथा उत्तम भोगभूमि से जघन्य भोगभूमि तक व्यवस्था रहती है। पुनः आगे के तीन कालों में कर्मभूमि हो जाती है। उत्सर्पिणी के प्रथम तीन कालों में कर्मभूमि और अनन्तर के तीन कालों में भोगभूमि हो जाती है। इसमें क्रम से आयु, शरीर, सुख आदि की वृद्धि होती रहती है।[1]

वर्तमान में यहाँ भरत क्षेत्र के आर्यखंड में आज कल अवसर्पिणी का पंचमकाल चल रहा है। यह अवसर्पिणी भी हुंडावसर्पिणी[2] नाम से प्रसिद्ध है। यह असंख्यातों कल्पकालों के बाद आता है। इसमें कुछ अघटित बातें हो जाती हैं। जैसे तृतीय काल के अन्त में ही प्रथम तीर्थंकर का मोक्षगमन, चक्रवर्ती का मानभंग, नाना प्रकार के मिथ्यामतों की उत्पत्ति आदि।

भोगभूमि—ढाई द्वीप में कुल १२६ भोगभूमि हैं। इनमें से ३० सुभोगभूमि हैं एवं ९६ कुभोगभूमि हैं। जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों में से हैमवत और हैरण्वत में जघन्य भोगभूमि है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है और मेरु के दक्षिण में देवकुरु तथा उत्तर में उत्तरकुरु क्षेत्र हैं, इन दोनों में उत्तम भोगभूमि है। ये ६ भोगभूमि हुई। ऐसे ही धातकी खंड के दोनों भागों की ६–६ पुष्करार्ध द्वीप के दोनों भागों की ६–६ सब मिलाकर ६+१२+१२=३० भोग भूमि शाश्वत हैं इनमें भोजन, वस्त्र, मकान आदि को देने वाले दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जिनसे वहाँ के युगल-स्त्री पुरुष मन चाही भोग वस्तुओं को प्राप्त कर अपने जीवन भर सुखी रहते हैं। इसीलिये इनका भोगभूमि नाम सार्थक है।

कुभोगभूमि—लवण समुद्र में ४८ और कालोदधि समुद्र में ४८ ऐसी ९६ कुभोगभूमि हैं। इन्हें कुमानुष द्वीप या अंतरद्वीप भी कहते हैं। जम्बूद्वीप की जगती से लवणसमुद्र में ५०० योजन जाकर दिशा व विदिशा के ८ द्वीप हैं। इन आठों के अंतराल में ५५० योजन जाकर ८ द्वीप हैं तथा शिखरी पर्वत के तटों से ६०० योजन समुद्र में जाकर ८ द्वीप हैं। इस प्रकार लवण समुद्र के इस तट से परे २४ द्वीप हैं। ऐसे ही उस तट से अन्दर में भी २४ हैं। अतः ४८ अंतरद्वीप लवण समुद्र में हैं। ये सभी द्वीप जल से एक योजन ऊँचे हैं। ऐसे ही कालोद समुद्र में भी ४८ अंतरद्वीप हैं। इन द्वीपों में मनुष्य विकृत, पशु आदि के

1. त्रिलोकसार गाथा ७७९।
2. तिलोयपण्णत्ति अ० ४……।

मुख वाले होते हैं अतः इन्हें कुमानुष कहते हैं। जैसे कि किसी द्वीप के एक जंघा वाले, कहीं पूंछ वाले, कहीं सींग वाले, कहीं गूंगे, कहीं लंबकर्ण, कहीं सिंह, अश्व, श्वान आदि के मुख वाले मनुष्य होते हैं। एक जंघा वाले मनुष्य गुफाओं में रहते हैं और वहाँ की मीठी मिट्टी खाते हैं। शेष सभी कुमानुष वृक्षों के नीचे रहकर फल-फूलों से जीवन व्यतीत करते हैं[1]। अथवा कल्पवृक्षों से प्राप्त फलों का भोजन करते हैं[2]। ये मनुष्य भी युगल उत्पन्न होते हैं। रोग, शोक आदि से रहित पल्योपम आदि तक सुखपूर्वक जीवन यापन करने से भोगभूमिज कहलाते हैं। असल में इन भोगभूमियों में सभी को एक सदृश सुख भोग सामग्री प्राप्त होती है अतः सच्चा समाजवाद वहीं है। कर्मभूमियों में तो विषमता ही रहती है।

सर्व मनुष्य राशि—सर्व पर्याप्त मनुष्यों की संख्या २९ अंक प्रमाण है। यथा—१९८०७०४०६२८५६६०८४३९८३८५९८७५८४

इनमें से अंतर्द्वीपज-कुभोगभूमिज मनुष्य सबसे थोड़े हैं और विदेह क्षेत्र के मनुष्य सबसे अधिक होते हैं।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता—३४३ राजू प्रमाण इस तीन लोक में मात्र मानुषोत्तर पर्वत से पहले-पहले ढाई द्वीप तक ही मनुष्य होते हैं। उसमें भी एक सौ सत्तर कर्मभूमि और एक सौ छब्बीस भोगभूमि में होते हैं। ८४ लाख योनियों में भ्रमण करते हुये यह मनुष्य पर्याय चिंतामणी रत्न के समान अत्यंत दुर्लभ है।

मोक्ष प्राप्ति—इनमें भी १२६ भोगभूमियों में और १७० कर्मभूमि के ८५० म्लेच्छ खंडों से मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता। पाँच भरत, पाँच ऐरावत के आर्यखंडों से चतुर्थकाल में ही मोक्ष संभव है। मात्र १६० विदेह क्षेत्रों से सतत मोक्ष प्राप्त करने को अवसर मिलता है। इन आर्यखंडों में भी कुछ ही भव्यजीव पंचेंद्रियों के विषयों से विरक्त होकर आत्मसाधना में लगते हैं। कुछ ही भव्यजीव अणुव्रती होकर गार्हस्थ्य जीवन सफल करते हैं और कुछ सम्यग्दर्शन प्राप्त कर संसार परंपरा को सीमित कर पाते हैं।

---

1. त्रिलोकसार पृष्ठ ७०१। तिलोयपण्णत्ति पृष्ठ ४५५।
2. "कप्पदुमदिण्णफलभोजी" गाथा ९२० (जम्बूद्वीपपण्णत्ति)

सिद्धशिला—ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर ४५ लाख योजन विस्तृत अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला है। यह मर्त्यलोक भी ढाई द्वीप पर्यंत ४५ लाख योजन प्रमाण ही है। अतः इस ढाई द्वीप की कर्मभूमि से तो मनुष्य मोक्ष जाते ही हैं। किंतु देव या विद्याधर आदि द्वारा उपसर्ग किये जाने से कर्मभूमि से अतिरिक्त क्षेत्र, पर्वत, नदी, सरोवर, समुद्र आदि स्थानों से भी मोक्ष जाते हैं। इसलिये सिद्धशिला के ऊपर सिद्धलोक में अणुमात्र भी स्थान खाली नहीं है कि जहाँ पर सिद्ध भगवान् विराजमान न हों।

उपसंहार—इस मनुष्य भव को प्राप्त कर अपनी आत्मा को जन्म-मरण, रोग-शोक आदि के दुःखों से छुड़ाकर अनंतज्ञान और परमानंद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है। इस पुरुषार्थ में लगने से इस भव में भी सुख शांति मिलती है और मोक्ष प्राप्त करने तक परलोक भी सुखद बनता है। यही इस मानवलोक को जानने का सार है।

जंबूद्वीप

एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार (थाली सदृश) इस जम्बूद्वीप में हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी इन छह कुलाचलों से विभाजित सात क्षेत्र हैं। भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत भरत क्षेत्र का दक्षिण उत्तर विस्तार ५२६,६/१९ योजन है। आगे पर्वत और क्षेत्र के विस्तार विदेह क्षेत्र तक दूने-दूने हैं पुनः आधे-आधे हैं।

इनमें से भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन से भोगभूमि और कर्मभूमि की व्यवस्था चलती रहती है जो अशाश्वत कहलाती है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था है। विदेह क्षेत्र में दक्षिण-उत्तर में देव-कुरु-उत्तरकुरु नाम से क्षेत्र हैं जहाँ पर उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है। ये छहों भोगभूमियाँ शाश्वत है। विदेह क्षेत्र में पूर्व-पश्चिम में १६ वक्षार पर्वत और १२ विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ क्षेत्र हो जाते हैं। जिनके नाम कच्छा, सुकच्छा आदि है। इन बत्तीसों विदेह क्षेत्रों में कर्मभूमि की व्यवस्था सदा काल एक जैसी रहती है अतः इन्हें शाश्वत कर्मभूमि कहते है।

विदेह क्षेत्र का विस्तार (दक्षिण-उत्तर) ३३६८४, ४/१९ योजन है। और इसकी लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) १००००० योजन है। इस विदेह के ठीक मध्य में सुदर्शनमेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। पृथ्वी पर इसकी चौड़ाई १० हजार योजन है और घटते-घटते ऊपर जाकर ४ योजन मात्र की रह गई है। इस सुमेरु की चारों विदिशाओं में एक-एक गजदंत पर्वत है जो कि एक तरफ से सुमेरु का स्पर्श कर रहे हैं और दूसरी तरफ से निषध-नील पर्वत को छूते हुये है। इन पर्वतों के निमित्तों से भी विदेह की चारों दिशायें पृथक्-पृथक् विभक्त हो गई है। सुमेरु से उत्तर की ओर उत्तर कुरु में ईशान कोण में जम्बूवृक्ष है और सुमेरु से दक्षिण की ओर देवकुरु है जिसमें आग्नेय कोण में शाल्मली वृक्ष है। इन दोनों कुरुओं में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होने से वहाँ पर सदा ही उत्तम भोग-भूमि की व्यवस्था रहती है।

सुमेरु के पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा नदियाँ बहती हैं। इससे पूर्व-पश्चिम विदेह में भी दक्षिण-उत्तर भाग हो जाते हैं। सुमेरु के पूर्व में और सीता नदी के

उत्तर में सर्वप्रथम भद्रसालवन की वेदिका है, पुनः क्षेत्र है। पुनः वक्षार पर्वत है जो कि ५०० योजन विस्तृत, १६५६२,२/१६ योजन लम्बा तथा नील पर्वत के पास ४०० योजन एवं सीता नदी के पास ५०० योजन ऊँचा है। यह पर्वत सुवर्णमय है इस पर चार कूट हैं। जिनमें से नदी के पास के कूट पर जिन मंदिर एवं शेष तीन कूटों पर देव-देवियों के आवास हैं। इस पर्वत के बाद क्षेत्र, पुनः विभंगानदी पुनः क्षेत्र, पुनः वक्षार पर्वत ऐसे क्रम से चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियों के अंतराल से तथा एक तरफ भद्रसाल की वेदी और दूसरी तरफ देवारण्यवन की वेदी के निमित्त से इस एक तरफ के विदेह में आठ क्षेत्र हो गये है। ऐसे ही सीता नदी के दक्षिण तरफ ८ क्षेत्र पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर में ८-८ क्षेत्र ऐसे बत्तीस क्षेत्र हैं। बत्तीस विदेह क्षेत्रों के नाम—कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया, रम्यकावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिनी, कुमुद, सरित, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला और गंधमालिनी।

कच्छा विदेह का वर्णन—यह कच्छा विदेह क्षेत्र पूर्व-पश्चिम में २२१२,७/८ योजन विस्तृत है और दक्षिण-उत्तर में १६५६२,२×१६ योजन लम्बा है। इस क्षेत्र के बीचों बीच में ५० योजन चौड़ा २२१२, ७/८ योजन लम्बा और २५ योजन ऊँचा विजयार्ध पर्वत है। इस विजयार्ध में भी भरत क्षेत्र के विजयार्ध के समान दोनों पार्श्व भागों में दो-दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। इन दोनों तरफ की श्रेणियों पर विद्याधर मनुष्यों की ५५-५५ नगरियाँ हैं। इस विजयार्ध पर्वत पर ६ कूट हैं, इनमें से एक कूट पर जिनमंदिर और शेष ८ कूटों पर देवों के भवन हैं। नील पर्वत की तलहटी में गंगा-सिंधु नदियों के निकलने के लिये दो कुण्ड बने हैं। इन कुण्डों से ये दोनों नदियाँ निकलकर सीधी बहती हुई विजयार्ध पर्वत की तिमिस्र गुफा और खण्डप्रपात गुफा में प्रवेश कर बाहर निकल कर क्षेत्र में बहती हुई आगे आकर सीता नदी में प्रवेश कर जाती हैं। इस कच्छा देश में विजयार्ध और गंगा-सिंधु के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से नदी के पास के मध्य में आर्यखण्ड है। और शेष पाँचों म्लेच्छखण्ड हैं। इस आर्यखण्ड के बीचों बीच में क्षेमा नाम की नगरी है, जो कि मुख्य राजधानी है। यह एक कच्छा विदेह देश का वर्णन है। इसी प्रकार से महाकच्छा आदि इक्कतीस विदेह देशों की व्यवस्था है ऐसा समझना।

विदेह क्षेत्र की व्यवस्था—प्रत्येक विदेह में ६६ करोड़ ग्राम, २६ हजार नगर, १६ हजार खेट, २४ हजार कर्वट, ४ हजार मटंब, ४८ हजार पत्तन, ६६ हजार द्रोण, १४ हजार संवाह और २८ हजार दुर्गाटवी है।

जो चारों ओर कांटों की बाड़ से वेष्टित हो, उसे ग्राम कहते हैं। चार दरवाजों युक्त कोट से वेष्टित को नगर कहते हैं। नदी और पर्वत दोनों से वेष्टित को खेट कहते है। पर्वत से वेष्टित कर्वट हैं। ५०० ग्रामों से संयुक्त मटंब हैं। जहां रत्नादि वस्तुओं की निष्पत्ति होती है, वे पत्तन हैं। नदी से वेष्टित को द्रोण, समुद्र की वेला से वेष्टित संवाह और पर्वत के ऊपर बने हुये को दुर्गाटवी कहते हैं। प्रत्येक विदेह देश में प्रधान राजधानी और महानदी के बीच स्थित आर्यखण्ड में एक-एक उपसमुद्र है और उस उपसमुद्र में एक-एक टापू हैं, जिस पर ५६ अन्तरद्वीप, २६ हजार रत्नाकर और रत्नों के क्रय-विक्रय के स्थान भूत ऐसे ७०० कुक्षिवास होते हैं। सीता-सीतोदा नदियों के समीप जल में पूर्वादि दिशाओं में मागध, वरतनु और प्रभास नामक व्यंतर देवों के तीन द्वीप हैं।

विदेह क्षेत्र में वर्षा ऋतु—विदेह क्षेत्र में वर्षाकाल में सात प्रकार के काल मेघ सात-सात दिन तक अर्थात् ४६ दिनों तक और द्रोण नाम वाले बारह प्रकार के श्वेत मेघ सात-सात दिन तक (१२ × ७ = ८४) दिनों तक बरसते हैं। इस प्रकार वहां वर्षा ऋतु में कुल ४६ + ८४ = १३३ दिन मर्यादा पूर्वक वर्षा होती है।

विदेह देश में क्या-क्या नहीं है? विदेह क्षेत्र में सर्वत्र कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता है। सात प्रकार की "ईति" नहीं हैं। १. अतिवृष्टि, २. अनावृष्टि, ३. मूषक प्रकोप, ४. शलभ प्रकोप (टिड्डी), ५. शुक प्रकोप, ६. स्वचक्र प्रकोप और ७. परचक्र प्रकोप ये सात ईतियां वहां नहीं हैं। तथा गाय या मनुष्य आदि जिसमें अधिक मरने लगें उसे मारि रोग कहते हैं वह भी वहां नहीं है। वहां कुदेव, कुलिंगी साधु और कुमत भी नहीं हैं। अर्थात् वहां पर दुर्भिक्ष, ईति, मारिरोग, कुदेव, कुलिंगी और कुमतों का अभाव है[1]। यहां विदेह में हमेशा चतुर्थकाल सदृश ही वर्तना रहती है। अर्थात् सतत् ही उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले मनुष्य होते हैं और वहां मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है। वहां पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण ही होते हैं। जो कि असि, मषि, कृषि आदि के द्वारा आजीविका करते हैं। वहां पर हमेशा गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म चलता

1. त्रिलोकसार गाथा ६७४, से ६८० तक।

रहता है। वहाँ पर हमेशा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण होते रहते हैं। इस जम्बूद्वीप के ३२ विदेहों में यदि अधिक तीर्थंकर आदि होते हैं तो ३२ होते हैं और कम से कम ४ अवश्य होते हैं। वहाँ चार तीर्थंकर आज भी विद्यमान हैं जिनके नाम हैं—सीमंधर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु। ये विहरमाण तीर्थंकर भी कहलाते हैं। ऐसे ही पाँचों मेरु संबंधी ३२×५=१६० विदेह होते हैं। उनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि भी अधिक रूप से १६० और कम से कम २० माने गये हैं।[1]

चौदह नदियाँ—हिमवान आदि छह पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिन्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे छह सरोवर हैं। इनमें पद्म तथा पुण्डरीक सरोवर से तीन-तीन एवं शेष चार सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं। जिनके नाम हैं—गंगा, सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्ण-कूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा। ये चौदह नदियाँ दो-दो मिलकर भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

भरत क्षेत्र—इस क्षेत्र का विस्तार ५२६,६/१९ योजन है। इसके बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा, ५० योजन चौड़ा और २५ योजन ऊँचा एक विजयार्ध पर्वत है। इसमें दक्षिण-उत्तर बाजू में विद्याधरों की नगरियाँ है। इस पर्वत में दो गुफायें हैं। जिनके नाम हैं—तमिस्र गुफा, खण्ड प्रपात गुफा। हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्व तोरणद्वार से गंगा एवं नदी पश्चिम तोरण द्वार से सिन्धु नदी निकलकर ५००-५०० योजन तक पूर्व-पश्चिम दिशा में पर्वत पर ही बहकर पुनः दक्षिण की ओर मुड़कर पर्वत के किनारे आ जाती है। वहाँ पर गोमुख आकार वाली नालिका से नीचे गिरती हैं। हिमवान पर्वत की तलहटी में नदी गिरने के स्थान पर गंगा सिन्धु कुण्ड बने हुये हैं। जिनमें बने कूटों पर गंगा सिन्धु देवी के भवन हैं। भवन की छत पर फूल हुये कमलासन पर अकृत्रिम जिनप्रतिमा विराजमान हैं उन प्रतिमा के मस्तक पर जटाजूट का आकार बना हुआ है। ऊपर से गिरती हुई गंगा सिन्धु नदियाँ ठीक भगवान् की प्रतिमा के मस्तक पर अभिषेक करते हुये के समान पड़ती है। पुनः कुण्ड से बाहर निकलकर क्षेत्र में कुटिलाकार से बहती हुई पूर्व पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इसलिये इस भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिंधु नदी के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से जो दक्षिण की तरफ में बीच के

1. त्रिलोकसार गाथा ६८।

खंड हैं वह आर्यखंड है, शेष पाँच म्लेच्छ खंड हैं। उत्तर की तरफ के तीन म्लेच्छ खंडों में से बीच वाले म्लेच्छ खंड में एक वृषभाचल पर्वत है। चक्रवर्ती जब इन छहों खंडों को जीत लेता है तब अपनी विजय प्रशस्ति इसी पर्वत पर लिखता है।

भरत क्षेत्र के आर्यखंड के मध्य में अयोध्या नगरी है। इस अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूर पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है और पश्चिम में १००० योजन दूरी पर सिन्धु नदी की तट वेदी है अर्थात् आर्यखंड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर दिशा में विजयार्ध, पूर्व दिशा में गंगा नदी एवं पश्चिम दिशा में सिन्धु नदी हैं ये चारों आर्यखंड की सीमारूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण में ४७६००० मील (चार लाख छियत्तर हजार मील) जाने से लवण समुद्र है और उत्तर में ४,७६००० मील जाने से विजयार्ध पर्वत है। उसी प्रकार अयोध्या से पूर्व में ४०००००० (चालीस लाख) मील दूर पर गंगा नदी तथा पश्चिम में इतनी ही दूर पर सिन्धु नदी है। आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्यखंड में है। हम और आप सभी इस आर्यखंड में ही भारतवर्ष में रहते हैं। इस भरत क्षेत्र के आर्यखंड से विदेह क्षेत्र की दूरी २० करोड़ मील से अधिक ही है। भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखंड में सदा ही अरहट घटी यंत्र के समान छह कालों का परिवर्तन होता रहता है।

षट्काल परिवर्तन—"भरत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो कालों के द्वारा षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इनमें अवसर्पिणी काल में जीवों के आयु, शरीर आदि की हानि एवं उत्सर्पिणी में वृद्धि होती रहती है।[1]

अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा ऐसे छह भेद हैं। ऐसे ही उत्सर्पिणी के इनसे उल्टे अर्थात् दुःषमादुःषमा, दुषमा, दुःषम-सुषमा, सुषमादुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा ये छह भेद हैं।

अवसर्पिणी के सुषमासुषमा की स्थिति ४ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा की ३ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमादुःषमा को २ कोड़ाकोड़ी सागर, दुषमासुषमा को ४२ हजार वर्ष कम

---

1. भरहेसुरेवदेसु य ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा। उस्सेधाउबलाणं हाणीवड्ढो य होंतित्ति ॥७७९॥ त्रि०सा०

एक कोड़ाकोड़ी सागर, दुषमा की २१ हजार वर्ष की एवं अतिदु:षमा की २१ हजार वर्ष की है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में २१ हजार वर्ष समझना।

इन छह कालों में से प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में क्रम से उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है तथा चौथे, पाँचवें और छठे काल में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। उत्तम भोगभूमि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। मध्यम भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई दो कोश, आयु दो पल्य होती है और जघन्य भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई एक कोश और आयु एक पल्य की है। यहाँ पर दश प्रकार के कल्प वृक्षों से भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है। चतुर्थकाल में उत्कृष्ट अवगाहना सवा पाँच सौ धनुष और उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष है। पंचम काल में शरीर की ऊँचाई ७ हाथ और आयु १२० वर्ष है। छठे काल में शरीर २ हाथ का और आयु २० वर्ष है।

इस वर्तमान की अवसर्पिणी में "तृतीय काल में पल्य का आठवां भाग शेष रहने पर प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय और उनके पुत्र ऋषभदेव ये कुलकर उत्पन्न हुये हैं[1]।" अर्थात् अन्यत्र ग्रन्थों में नाभिराय को १४वें अंतिम कुलकर माने हैं। यहाँ पर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को भी कुलकर संज्ञा दे दी है।

इस युग में कर्मभूमि के प्रारम्भ में तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने जब प्रजा आजीविका की समस्या लेकर आई, तभी प्रभु की आज्ञा से इंद्र ने ग्राम, नगर आदि की रचना कर दी। पुनः प्रभु ने अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की सारी व्यवस्था को ज्ञात कर प्रजा में वर्ण व्यवस्था बनाकर उन्हें आजीविका के साधन बतलाये। यही बात श्री नेमिचन्द्राचार्य ने भी कही है—

नगर, ग्राम, पत्तन आदि की रचना, लौकिक शास्त्र, असि, मषि, कृषि आदि लोक व्यवहार और दया प्रधान धर्म का स्थापन आदिब्रह्मा श्रीऋषभनाथ तीर्थंकर ने किया है[2]।"

---

1. त्रिलोकसार गाथा ७९२–७९३–७९४।
2. पुरगामपट्टणादी लोयियसत्थ च लोयववहारो।
   धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबह्मेण ॥ ८०२ ॥ त्रिलोकसार।

आर्यखण्ड में ही वृद्धि ह्रास होता है, अन्यत्र नहीं—

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। उस सब के मध्य सर्वप्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन (४० करोड़ मील) विस्तार वाला, थाली के समान गोल है। इस द्वीप के बीचों बीच एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसका भूमि पर विस्तार दस हजार योजन है। इस जम्बूद्वीप में पूर्व-पश्चिम लम्बे, दक्षिण दिशा से लेकर हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ऐसे छह कुल पर्वत हैं। इनसे विभाजित भरत, हैमवत, हरि विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के १९०वां भाग अर्थात् (१०००००÷१९०= ५२६,६/१९) पांच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन प्रमाण है। इससे आगे हिमवान पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। आगे-आगे के क्षेत्र और पर्वत विदेह क्षेत्र तक दूने-दूने होते हुये पुनः आगे आधे-आधे होते गये हैं। अन्तिम ऐरावत क्षेत्र, भरत क्षेत्र के समान प्रमाण वाला है। भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। यह ५० योजन (२०००००) मील चौड़ा और २५ योजन (१००००० मील) ऊँचा है यह दोनों कोणों से लवण समुद्र को स्पर्श कर रहा है। रजतमयी है, इसमें तीन कटनी है, अन्तिम कटनी पर कूट और जिनमन्दिर है।

हिमवान आदि छहों पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महा-पुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं। इन सरोवरों से गंगा सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियां निकलती हैं प्रथम और अन्तिम सरोवर से तीन-तीन एवं अन्य सरोवरों से दो-दो नदियां निकलती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती है। प्रत्येक सरोवर में एक-एक पृथ्वीकायिक कमल हैं। जिन पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ निवास करती हैं। इनमें देवियों के परिवार कमल भी हैं जो कि मुख्य कमल से आधे-प्रमाण वाले हैं। भरत क्षेत्र में गंगा सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत तथा रक्ता रक्तोदा नदियों के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं।

इस जम्बूद्वीप में भरत और ऐरावत क्षेत्र में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। हैमवत, हरि, विदेह के अन्तर्गत देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत इन छह स्थानों पर भोगभूमि की व्यवस्था है जो कि सदा काल एक सदृश होने से शाश्वत है। विदेह क्षेत्र में पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह ऐसे दो भेद हो गये हैं। उनमें भी वक्षारपर्वत तथा विभंगा नदियों के निमित्त से बत्तीस विदेह हो गये हैं। इन सभी में विजयार्ध पर्वत हैं तथा गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। इस कारण प्रत्येक विदेह में भी छह-छह खण्ड हो जाते हैं। सभी में मध्य का एक आर्यखण्ड है शेष पाँच म्लेच्छखण्ड हैं। सभी विदेह क्षेत्र में चतुर्थ काल के प्रारम्भ के समान कर्मभूमि की व्यवस्था सदा काल रहती है अतः इन विदेहों में शाश्वत कर्मभूमि की रचना है। मात्र भरत-ऐरावत क्षेत्र में ही वृद्धि ह्रास होता है। जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है—

"भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिन्यव-सर्पिणीभ्याम्" "२८"

भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल परिवर्तन के द्वारा वृद्धि-ह्रास होता रहता है। इस सूत्र के भाष्य में श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि—"तात्स्थ्यातात्छब्द्यसिद्धेर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रास योगः अधिकरण निर्देशो वा तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुः प्रमाणादिकृतौ वृद्धि ह्रासौ षट्कालाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणी-भ्याम्।"

उसमें स्थित हो जाने के कारण उसके वाचक शब्द द्वारा कहे जाने की सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रों के वृद्धि और ह्रास का योग बतला दिया है। अथवा अधिकरण निर्देश मान करके उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तिर्यंच आदि जीवों के अनुभव, आयु, शरीर की ऊँचाई, बल, सुख आदि का वृद्धि ह्रास समझना चाहिये[1]।

आगे के सूत्र में स्वयं ही श्रीउमास्वामी महाराज ने कह दिया है।

"ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः" ॥२९॥

इन दोनों क्षेत्रों के अतिरिक्त जो भूमियाँ हैं वे ज्यों की त्यों अवस्थित हैं। अर्थात् अन्य हैमवत आदि क्षेत्रों में जो व्यवस्था है सो अनादि निधन है वहाँ षट्काल परिवर्तन नहीं है। इस बात को इसी ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय के "मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।"

---

1. तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पचम खण्ड, पृ० ३४६।

"इस सूत्र के भाष्य में श्री विद्यानंद आचार्य ने अपने शब्दों में ही स्पष्ट किया है। जिसकी हिन्दी पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने की है।

"वह भूमि का नीचा ऊँचापन भरत ऐरावत क्षेत्रों में काल वश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकार का इस प्रकार वचन है कि भरत ऐरावत क्षेत्रों के वृद्धि और ह्रास छह समय वाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों करके हो जाते हैं। अर्थात् भरत और ऐरावत में आकाश की चौड़ाई न्यारी-न्यारी एक लाख के एक सौ नब्बेवें भाग यानी पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन की ही रहती हैं। किन्तु अवगाहन शक्ति के अनुसार इतने ही आकाश में भूमि बहुत घट-बढ़ जाती है। न्यून से न्यून पाँच सौ छब्बीस, छह बटे उन्नीस योजन भूमि अवश्य रहेगी। बढ़ने पर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थूल कहीं बीसों कोस ऊंचे, नीचे टेढ़े, तिरछे, कोनियाये हो जाते हैं। अतः भ्रमण करता हुआ सूर्य जब दोपहर के समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्य से सीधी रेखा पर समतल भूमि में खड़े हुए मनुष्यों की छाया किंचित् भी इधर-उधर नहीं पड़ेगी। किन्तु नीचे, ऊँचे, तिरछे प्रदेशों पर खड़े हुए मनुष्यों की छाया इधर-उधर पड़ जायेगी। क्योंकि सीधी रेखा का मध्यम ठीक नहीं पड़ा हुआ है। भले ही लकड़ी को टेढ़ी या सूधी खड़ी कर उसकी छाया को देख लो।

तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितो न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मन्तव्यं, गौणशब्दाप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यो, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुलंघिता स्यात्।

थोड़े आकाश में बड़ी अवगाहना वाली वस्तु के समा जाने में आश्चर्य प्रगट करते हुए कई विद्वान यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत क्षेत्रों की वृद्धि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहने वाले मनुष्यों के शरीर की उच्चता अनुभव, आयु, सुख आदि करके वृद्धि और ह्रास हो रहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्गलों करके भूमि के वृद्धि और ह्रास सूत्र में नहीं कहे गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिए। क्योंकि गौण हो रहे शब्दों का सूत्रकार ने प्रयोग नहीं किया। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है। इसलिये भरत ऐरावत शब्द का मुख्य अर्थ पकड़ना चाहिए। तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रों की वृद्धि और हानि हो रही मुख्य रूप से समझ लेनी चाहिए। हाँ, गौणरूप से तो उन दोनों क्षेत्रों में ठहर रहे मनुष्यों के अनुभव आदि करके वृद्धि और

ह्रास हो रहे समझ लो, यों तुम्हारे यहाँ सूत्रकार का जिस प्रकार का वचन सफलता को प्राप्त हो जावो और क्षेत्र की वृद्धि या हानि मान लेने पर प्रत्यक्ष सिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है।

भावार्थ—समय के अनुसार अन्य क्षेत्रों में नहीं केवल भरत ऐरावत में ही भूमि ऊँची, नीची, घटती-बढ़ती हो जाती है तदनुसार दोपहर के समय छाया का घटना-बढ़ना या क्वचित् सूर्य का देर या शीघ्रता से उदय, अस्त होना घटित हो जाता है। तभी तो अगले "ताभ्यामपरा भूमयोवस्थिताः" इस सूत्र में पड़ा हुआ "भूमयः" शब्द व्यर्थ संभव न होकर ज्ञापन करता है कि भरत ऐरावत क्षेत्र की भूमियाँ अवस्थित नहीं हैं। ऊँची, नीची, घटती-बढ़ती हो जाती हैं।

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिखा है कि कोई गहरे कुयें में खड़ा है उसे मध्यान्ह में दो घंटे ही दिन प्रतीत होगा बाकी समय रात्रि ही दिखेगी।"[1]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि आज जो भारत और अमेरिका आदि में दिन रात का बहुत बड़ा अन्तर दिख रहा है वह भी इस क्षेत्र की वृद्धि हानि के कारण ही दिख रहा है। तथा जो पृथ्वी को गोल नारंगी के आकार की मानते हैं उनकी बात भी कुछ अंश में घटित की जा सकती है। श्री यतिवृषभ आचार्य कहते हैं—

छठे काल के अन्त में उनंचास दिन शेष रहने पर घोर प्रलय काल प्रवृत्त होता है। उस समय सात दिन तक महागंभीर और भीषण संवर्तक वायु चलती है जो वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण कर देती है पुनः तुहिन-बर्फ, अग्नि आदि की वर्षा होती है। अर्थात् तुहिन जल, विषजल, धूम, धूलि-व्रज और महाग्नि इनकी क्रम से सात-सात दिन तक वर्षा होती है। अर्थात् भीषण वायु से लेकर उनंचास दिन तक विष अग्नि आदि की वर्षा होती है। "तब भरत क्षेत्र के भीतर आर्यखण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महा अग्नि के बल से आर्यखण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कंध स्वरूप को छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।[2]

---

1. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, पंचम खण्ड, पृ० ५७२-५७३।

2. एवं कमेण भरहे अज्जाखण्डम्मि जोयणं एक्कं ॥
चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वड्ढिगदा भूमि ॥१५५१॥
वज्जमहाग्गिबलेण अज्जाखण्डस्स वड्ढिया भूमि।
पुव्विल्ल खंधरूवं मुत्तूणं जादि लोयंतं ॥ १५५२॥ "तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ ॥"

यह एक योजन २००० कोस अर्थात् ४००० मील का है। इस आर्यखण्ड की भूमि जब इतनी बढ़ी हुई है तब इस बात से जो पृथ्वी को नारंगी के समान गोल मानते हैं उनकी बात कुछ अंशों में सही मानी जा सकती है हां यह नारंगी के समान गोल न होकर कहीं-कहीं आधी नारंगी के समान ऊपर में हुई हो सकती है।

षट्काल परिवर्तन—त्रिलोक सार में कहते हैं—

पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो काल वर्तते हैं। अवसर्पिणी काल के सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुःषमासुषमा दुःषमा और अतिदुःषमा नाम से छह काल होते हैं। उत्सर्पिणी के इससे उल्टे अतिदुःषमा, दुःषमा, दुःषमासुषमा सुषमादुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा नाम से छह काल होते हैं। उन सुषमा-सुषमा आदि की स्थिति क्रम से चार कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर, दो कोड़ाकोड़ी सागर, ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, इक्कीस हजार वर्ष और इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है। उत्सर्पिणी में इससे विपरीत है। इनमें से सुषमा-सुषमा आदि तीन कालों में उत्तम, मध्यम और जघन्य भोग भूमि की व्यवस्था है।

प्रथम काल की आदि में मनुष्यों की आयु का प्रमाण तीन पल्य है, आगे ह्रास होते-होते अंत में दो पल्य प्रमाण हैं। द्वितीय काल के प्रारम्भ में दो पल्य और अन्त में एक पल्य प्रमाण है। तृतीय के प्रारम्भ में एक पल्य और अन्त में पूर्वकोटि प्रमाण है। चतुर्थ काल के प्रारम्भ में पूर्व कोटि वर्ष, अन्त में १२० वर्ष है। पंचम काल की आदि में १२० वर्ष, अन्त में २० वर्ष है। छठे काल के प्रारम्भ में २० वर्ष अन्त में १५ वर्ष प्रमाण है। उत्सर्पिणी में इससे उल्टा समझना।

प्रथम काल के मनुष्य तीन दिन बाद भोजन करते हैं, द्वितीय काल के दो दिन बाद, तृतीय काल के एक दिन बाद, चतुर्थ काल के दिन में एक बार, पंचम काल के बहुत बार और छठे काल के बार-बार भोजन करते हैं।

तीन काल तक के भोगभूमिज मनुष्य दश प्रकार के कल्प वृक्षों से अपना भोजन आदि ग्रहण करते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी की व्यवस्था—इस अवसर्पिणी काल के तृतीय काल में पल्य का आठवां भाग अवशिष्ट रहने पर प्रतिश्रुति से लेकर ऋषभदेव पर्यन्त १५ कुलकर हुए हैं।

तृतीय काल में ही तीन वर्ष साढे आठ मास अवशिष्ट रहने पर ऋषभदेव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर भी चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने पर मोक्ष गये हैं तथा पंचमकाल के अन्त में अंतिम वीरांगद मुनि के हाथ से कल्कि राजा द्वारा ग्रास को कर रूप में माँगे जाने पर मुनि का चतुर्विध संघ सहित सल्लेखना ग्रहण व धर्म का अन्त एक साथ होगा।

प्रलय काल—छठे काल के अन्त में संवर्तक नाम की वायु पर्वत वृक्ष और भूमि आदि को चूर्ण कर देती है। तब वहां पर स्थित सभी जीव मूर्च्छित हो जाते हैं। विजयार्ध पर्वत, गंगा, सिंधु नदी और क्षुद्र बिल आदि के निकट रहने वाले जीव इनमें स्वयं प्रवेश कर जाते हैं। तथा दयावान देव और विद्याधर कुछ मनुष्य आदि युगलों को वहाँ से ले जाते हैं। इस छठे काल के अन्त में पवन, अतिशीत, क्षाररस, विष, कठोरअग्नि, धूलि और धुंवा इन सात वस्तुओं की क्रम से सात-सात दिन तक वर्षा होती है। अर्थात् ४६ दिनों तक इन अग्नि आदि की वर्षा होती है। उस समय अवशेष रहे मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं काल के वश से विष और अग्नि से दग्ध हुई पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है।

इस अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी काल आता है उस समय मेघ क्रम से जल, दूध घी, अमृत और रस की वर्षा सात-सात दिन तक करते हैं। तब विजयार्ध की गुफा आदि में स्थित जीव पृथ्वी के शीतल हो जाने पर वहाँ से निकल कर पृथ्वी पर फैल जाते हैं। आगे पुनः अतिदुःषमा के बाद दुःषमा आदि काल वर्तते हैं। इस प्रकार भरत और ऐरावत के आर्य खण्डों में यह षट्काल परिवर्तन होता है अन्यत्र नहीं है।

अन्यत्र क्या व्यवस्था है—

देवकुरु और उत्तरकुरु में सुषमासुषमा काल अर्थात् उत्तम भोगभूमि सदा एक सदृश है। हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र में सुषमा काल अर्थात् मध्यम भोग-भूमि की व्यवस्था है। और हैरण्यवत में सुषमा-दुषमा काल अर्थात् जघन्य भोग-भूमि की व्यवस्था है। तथा विदेह क्षेत्र में सदा ही चतुर्थ काल वर्तता है। भरत और ऐरावत के पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्डों में तथा विजयार्ध की विद्याधर की श्रेणियों में चतुर्थ काल के आदि से लगाकर उसी काल के अन्त पर्यंत हानि वृद्धि होती रहती है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्र में व क्षेत्रस्थ मनुष्य, तिर्यंचों में जो आयु अवगाहना आदि का ह्रास देखा जा रहा है वह अवसर्पिणी काल के निमित्त से है तथा

जो भी जल के स्थान पर स्थल, पर्वत के स्थान पर क्षेत्र आदि परिवर्तन दिख रहे हैं वे भी इसी आर्यखण्ड में ही हैं। आर्यखण्ड के बाहर में न कहीं कोई ऐसा परिवर्तन हो सकता है और न कहीं ऐसा नाश ही सम्भव है क्योंकि प्रलय काल इस आर्य खण्ड में ही आता है, यही कारण है कि यहाँ आर्यखण्ड में कोई भी नदी, पर्वत, सरोवर, जिनमन्दिर आदि अकृत्रिम रचनायें नहीं हैं। ये गंगा आदि नदियाँ जो दृष्टिगोचर हो रही हैं वे अकृत्रिम न होकर कृत्रिम हैं। तथा अकृत्रिम नदियाँ व उनकी परिवार नदियाँ भी यहाँ आर्य खण्ड में नहीं हैं जैसा कि कहा है—

गंगा महानदी की ये कुण्डों से उत्पन्न हुई १४००० परिवार नदियाँ ढाई म्लेच्छ खण्डों में ही हैं आर्य खण्ड में नहीं हैं[1]।

आर्य खण्ड कितना बड़ा है—

यह भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के १९०वें भाग (५२६, ६/१९) योजन प्रमाण है। इसके बीच में ५० योजन विस्तृत विजयार्ध है। उसे घटाकर आधा करने से दक्षिण भरत का प्रमाण आता है। यथा (५२६, ६/१९-५०) ÷ २ = २३८,३/१९ योजन है। हिमवान पर्वत पर पद्मसरोवर की लम्बाई १००० योजन है, गंगा सिन्धु नदियाँ पर्वत पर पूर्व पश्चिम में ५-५ सौ योजन बहकर दक्षिण में मुड़ती हैं। अतः यह आर्यखण्ड पूर्व-पश्चिम में १०००+५००+५०० = २००० योजन लम्बा और दक्षिण उत्तर में २३८ योजन गुणा २००० = ४७६००० वर्ग योजन प्रमाण आर्य खण्ड का क्षेत्रफल हुआ। इसके मील बनाने से ४७६०००×४००० = १९०४००००० (एक सौ नब्बे करोड़ चालीस लाख) मील प्रमाण क्षेत्रफल होता है।

इस आर्य खण्ड के मध्य में अयोध्या नगरी है। अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूरी पर विजयार्ध, पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है अर्थात् आर्य खण्ड की दक्षिण दिशा में लवणसमुद्र, उत्तर में विजयार्ध, पूर्व में गंगा नदी एवं पश्चिम में सिन्धु नदी है। ये चारों आर्यखण्ड की सीमारूप हैं। अयोध्या से दक्षिण में (११९×४००० = ४७६०००) चार लाख छियत्तर हजार मील जाने पर विजयार्ध पर्वत

1. तिलोयपण्णत्ति प्रथम भाग पृ० १७१।

है। ऐसे ही अयोध्या के पूर्व में (१००० × ४००० = ४००००००) चालीस लाख मील जाने पर गंगा नदी एवं पश्चिम में इतना ही जाने पर सिंधु नदी है।

आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्य खण्ड में है। जम्बूद्वीप उसके अंतर्गत पर्वत, नदी, सरोवर, क्षेत्र,आदि के माप का योजन २००० कोस का माना गया है।

जम्बूद्वीप पण्णत्ति की प्रस्तावना में प्रो० लक्ष्मीचन्द्र एम० एस० सी० ने भी इसके बारे में अच्छा विस्तार किया है। जिसके कुछ अंश देखिये—

इस योजन की दूरी आजकल के रैखिक माप में क्या होगी। यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूल रूप से एक योजन ८०००००० गज के बराबर अथवा ४५४५.४५ मील के बराबर प्राप्त होता है। यदि हम एक कोस को आजकल के २ मील के बराबर मान लें तो एक योजन ४००० मील के बराबर प्राप्त होता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जम्बूद्वीप में जो भी सुमेरु, हिमवान आदि पर्वत, हैमवत, हरि, विदेह आदि क्षेत्र, गंगा आदि नदियां, पद्म आदि सरोवर हैं ये सब आर्यखण्ड के बाहर हैं।

आर्य खण्ड में क्या-क्या है?—इस युग की आदि में प्रभु श्री ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने देश, नगर, ग्राम आदि की रचना की थी तथा स्वयं प्रभु श्रीऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था बनाई थी, जिसका विस्तार आदि पुराण में है। उस समय के बनाये गये बहुत कुछ ग्राम, नगर, देश आज भी उपलब्ध हैं। यथा—

अथानंतर प्रभु के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये। इन्द्र ने शुभ मुहूर्त में अयोध्यापुरी के बीच में जिनमन्दिर बनाये। तदनंतर कौशल आदि महादेश अयोध्या आदि नगर, वन और सीमासहित गाँव तथा खेड़ों आदि की रचना की।

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, कराहट, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, आभार, कांकण, वनवास, आन्ध्र, कर्नाटक, कौशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिंधु, गान्धार, यवन, चेदी, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुड़क, शक और केकय, इन देशों की रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशों का विभाग किया।

अब सारभूत विषय यह समझने का है कि—

१. एक राजू चौड़े निन्यानवें हजार चालीस योजन ऊँचे इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमें सर्वप्रथम द्वीप जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन अर्थात् ४० करोड़ मील विस्तृत है।

२. इस जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है। इसी में भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र हैं। हिमवान आदि छह पर्वत हैं। नदी, सरोवर आदि अनेक रचनायें हैं।

३. इसके एक सौ नब्बेवें भाग प्रमाण भरतक्षेत्र व इतने ही प्रमाण ऐरावत क्षेत्र में जो आर्यखण्ड हैं उन आर्यखण्ड में ही षट्काल परिवर्तन से वृद्धि ह्रास होता है। अन्यत्र कहीं भी परिवर्तन नहीं है।

४. अवसर्पिणी के कर्मभूमि की आदि में तीर्थंकर ऋषभदेव की आज्ञानुसार इन्द्र ने ग्राम, नगर, देश आदि की रचना की थी। जिनमें से अयोध्या, हस्तिनापुर आदि नगरियाँ आज भी विद्यमान हैं।

५. इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ही आज का उपलब्ध सारा विश्व है। इस आर्य खण्ड के भीतर में गंगा-सिन्धु नदी, सुमेरु पर्वत और विदेह क्षेत्र आदि को मानना त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों के अनुकूल नहीं है क्योंकि अकृत्रिम गंगा-सिन्धु नदी तो आर्यखण्ड के पूर्व-पश्चिम सीमा में हैं। सुमेरु पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य में है इत्यादि।

अलौकिक गणित

मान के दो प्रकार के भेद हैं—लौकिक और अलौकिक—

१. लौकिक मान ६ प्रकार का है—

मान, उनमान, अवमान, गणितमान, प्रतिमान, तत्प्रतिमान। पाई वगैरह को मान कहते हैं। तराजू के तौल को उनमान कहते हैं। बर्तन के माप को अवमान कहते हैं। १, २, ३, ४, आदिक गिनती को गणितमान कहते हैं। तोला माशा आदिक को प्रतिमान कहते हैं। घोड़े के मोल इत्यादिक को तत्प्रतिमान कहते हैं।

२. अलौकिक मान के ४ भेद हैं—

द्रव्यमान, क्षेत्रमान, कालमान, भावमान।

द्रव्यमान में जघन्य परमाणु उत्कृष्ट सब पदार्थों का परिमाण आता है।

क्षेत्रमान में जघन्य प्रदेश, उत्कृष्ट सब आकाश।

कालमान में जघन्य समय, उत्कृष्ट तीनों कालों का समय समूह।

भावमान में जघन्य सूक्ष्म निगोदिया लब्धि अपर्याप्तक का लब्धि अक्षर ज्ञान और उत्कृष्ट केवलज्ञान।

द्रव्यमान के दो भेद हैं—१. संख्यामान, २. उपमा मान।

संख्यामान के ३ भेद हैं—१. संख्यात, २. असंख्यात, ३. अनंत।

संख्यात के भी ३ भेद हैं—१. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट।

असंख्यात के ९ भेद हैं—१. परीतासंख्यात, २. युक्तासंख्यात, ३. असंख्यातासंख्यात, इन तीनों के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के भेद से असंख्यात के ९ भेद हैं।

अनंत के भी ९ भेद हैं—परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत, इन तीनों के भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के भेद से ९ भेद हैं। इस प्रकार से संख्यामान के २१ भेद हुये।

दो संख्या को जघन्य संख्यात कहते हैं। तीन से लेकर के एक कम उत्कृष्ट संख्यात पर्यंत मध्यम संख्यात के भेद हैं। और एक कम जघन्य परीतासंख्यात को उत्कृष्ट संख्यात कहते हैं।

उत्कृष्ट संख्यात १५० अंक प्रमाण है। इससे अधिक संख्या को असंख्यात कहते हैं।

जघन्य परीतासंख्यात समझने के लिये विधि बताते हैं—

एक-एक लाख योजन के चौड़े, एक-एक हजार योजन के गहरे चार कुंड बनावे। उनके नाम अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं। दो हजार कोस का एक योजन होता है।
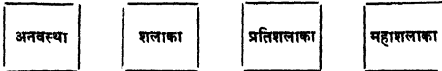
अनवस्था नाम के कुंड में ४५ अंक प्रमाण सरसों भर देवे और उस सरसों की आकाश में जो राशि है तो ४६ अंक प्रमाण होवे इतनी सरसों से अनवस्था कुंड भरा। पुनः शलाका कुंड में एक सरसों डालकर अनवस्था कुंड की सब सरसों लेकर के क्रम से एक द्वीप में, एक समुद्र में, एक द्वीप में, एक समुद्र में ऐसे ही डालते चले जायें जहाँ पर अथवा जिस द्वीप में सब सरसों पूरी हो जावें तो उसी द्वीप के प्रमाण और एक अनवस्था कुंड बनावें। उस अनवस्था कुंड को भी सरसों से भर देना। पुनः शलाका कुंड में एक सरसों डालकर अनवस्था कुंड की सब सरसों निकाल कर एक द्वीप में, एक समुद्र में ऐसे ही क्रम से फिर डालते जाना जिस द्वीप में सब सरसों पूरी हो जायें उसी द्वीप की सूची प्रमाण वहीं पर एक अनवस्था कुंड फिर बनाना और उसको फिर सरसों से पूरा भर देना फिर शलाका कुंड में एक सरसों डाल कर फिर उस तीसरे अनवस्था कुंड की सब सरसों लेकर एक द्वीप, एक समुद्र में डालते जाना जब सब सरसों खाली हो जाये तब एक अनवस्था कुंड फिर बनाना फिर शलाका कुंड में एक सरसों डाल देना इस प्रकार शलाका कुंड भरने तक यह काम करना।

जब शलाका कुंड भर गया तब एक सरसों प्रतिशलाका कुंड में डालिये और शलाका कुंड को खाली करे पिछले अनवस्था कुंड बनाये, वहीं से क्रम से एक अनवस्था कुंड बनाकर उसमें सरसों भर करके और शलाका कुंड में एक सरसों डालकर आगे वहीं से सभी द्वीप समुद्रों में एक, एक सरसों डालता चला जाये जहाँ सब सरसो खाली हो जाये वहीं द्वीप में उस द्वीप की सूची प्रमाण अनवस्था कुंड बनाकर सरसों से भरे पुनः शलाका कुंड में एक सरसों डालकर फिर अनवस्था कुंड की सब सरसों लेकर एक द्वीप में, एक

समुद्र में डालता चला जावे फिर एक अनवस्था कुंड बनावे और सरसों से भर कर शलाका कुंड में एक सरसों डाल दे यह काम शलाका कुंड भरने तक करना चाहिये।

दूसरी बार जब शलाका कुंड भर जावे तब प्रतिशलाका में एक सरसों डाले और सलाका कुंड खाली कर दिया और वहीं आगे से अनवस्था कुंड बनाना और उसको सरसों से भर देना और खाली किये हुये शलाका कुंड मे एक सरसों डालकर अनवस्था कुंड की सब सरसों लेकर के द्वीप समुद्र में डालते जाना जब सब सरसों खतम हो जाये तब उसी द्वीप की सूची प्रमाण एक अनवस्था कुंड फिर बनाना और सरसों से भरकर एक सरसों शलाका कुंड में डालकर अनवस्था कुंड की सब सरसों लेकर एक द्वीप, एक समुद्र में डालते जाना यह काम शलाका कुंड भरने तक करना और जब शलाका कुंड भर जावे तब उसको खाली करके एक सरसों प्रतिशलाका कुंड मे डाली ऐसे ही ऊपर कही हुई विधि से शलाका कुंड भरा, भर करके उसे खाली कर प्रतिशलाका कुंड में एक सरसों डाल देना ऐसे ही प्रतिशलाका कुंड भरने तक अनवस्था कुंड के द्वारा शलाकाकुंड भर-भर कर एक-एक सरसों प्रतिशलाका कुंड में डाली जाती है।

इस तरह से प्रतिशलाका कुंड को भर करके एक सरसों महाशलाका कुंड में डालना और शलाका कुंड प्रतिशलाका कुंड दोनों ही खाली कर देना पुनः ऊपर कही हुई विधि से एक-एक अनवस्था कुंड के द्वारा एक-एक सरसों शलाका कुंड में भी डालना और एक-एक शलाका कुंड भर-भर कर एक-एक सरसों प्रतिशलाका कुंड में डालना ऐसे करते-करते प्रति-शलाका कुंड जब पूरा भर जावे तब दूसरी सरसों महाशलाका कुंड में डालना पुनः ऊपर कही हुई विधि से शलाका प्रतिशलाका कुंड खाली करके उस ही विधि से प्रतिशलाका कुंड भर कर तब एक तीसरी सरसों महाशलाका कुंड में डाली इस प्रकार से अनवस्था कुंड के द्वारा शलाकाकुंड और शलाकाकुंड के द्वारा प्रतिशलाकाकुंड और प्रतिशलाकाकुंड के द्वारा महाशलाका कुंड भी पूरा करे।

महाशलाका कुंड भरने तक जितने अनवस्था कुंड हुये उसमें जो अन्तिम अनवस्था कुंड है उसमें जितनी सरसों आई हैं उतने समय प्रमाण को जघन्य परीतासंख्यात कहते हैं। इस जघन्य परीतासंख्यात में एक सरसों घटायें तो उत्कृष्ट संख्यात हो जाता है। दो को जघन्य संख्यात कहते हैं दो से ऊपर और उत्कृष्ट संख्यात में एक कम करने पर मध्यम संख्यात के अनेक भेद होते हैं और जघन्य परीतासंख्यात के ऊपर एक-एक बढ़ाते जावो, एक कम उत्कृष्ट परीतासंख्यात पर्यंत मध्यम परीतासंख्यात के भेद जानना।

सूची किसे कहते हैं—किसी भी द्वीप अथवा समुद्र का जितना प्रमाण है उसको चौगुना करके ३ लाख घटाने से सूची बन जाती है जैसे धातकीखण्डद्वीप ४ लाख योजन का है ४ का चौगुना करने से १६ हुआ और १६ लाख में ३ लाख घटाने से १३ लाख रहा। १३ लाख की धातकी खण्ड की सूची हुई।

एक कम जघन्य युक्तासंख्यात को उत्कृष्ट परीतासंख्यात कहते हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात किसको कहते हैं सो बताते हैं जघन्य परीतासंख्यात को विरलन कीजिये पुन: एक-एक सरसों के ऊपर एक-एक जघन्य परीतासंख्यात लिखिये और फिर परस्पर गुणा कर दीजिये तो जो प्रमाण आयेगा सो जघन्य युक्तासंख्यात हो जाता है। जैसे जघन्य परीतासंख्यात में चार सरसों है तो विरलन ४४४४ किया। जघन्य परीतासंख्यात को परस्पर में गुणा किया तो २५६ हुये ये जघन्य युक्तासंख्यात हुआ। जघन्य युक्तासंख्यात में जितनी सरसों हैं उतने समय की एक आवली होती है।

जघन्य युक्तासंख्यात के ऊपर एक-एक बढ़ाते जाओ, एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात पर्यन्त मध्य युक्तासंख्यात के भेद होते हैं। एक कम जघन्य असंख्यातासंख्यात परिणाम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। अब जघन्य असंख्यातासंख्यात का प्रमाण बताते हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात को जघन्य युक्तासंख्यात से गुणा करने पर जो संख्या आती है उसको जघन्य असंख्यातासंख्यात कहते है और इसके ऊपर एक-एक बढ़ाते हुये एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात पर्यन्त मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद जानना चाहिये।

एक कम जघन्य परीतानन्त को उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात कहते हैं।

जघन्य परीतानन्त किसको कहते हैं—

जघन्य असंख्यातासंख्यात की तीन राशि करना।

एक का नाम शलाका राशि, दो का नाम विरलन राशि। तीन का नाम देय राशि। (श०) (वि०) (दे०)

जैसे—विरलन राशि में १०० बार एक-एक रख दिया १००, १००, १००, १००

१ १ १ १

और देय राशि में भी १०० सरसों हैं देय राशि को विरलन राशि के ऊपर रख दिया और परस्पर में गुणा करे फिर शलाका राशि से एक सरसों घटा दो। गुणा करने पर जो राशि

आई उसको विरलन करो और उसके ऊपर उसी राशि को रखकर परस्पर में गुणा करना और शलाका राशि में एक सरसों घटा देना।

जैसे गुणा करने पर एक लाख सरसों आई तो एक लाख बार एक-एक सरसों विरलन करो और एक-एक सरसों के ऊपर एक-एक लाख रख कर परस्पर में गुणा कर दो और शलाका राशि में एक सरसों घटा दो, शलाका पूरी खाली होने तक यह काम करना।

अब जो राशि उत्पन्न हुई उतनी-उतनी राशि के तीन राशि करो एक शलाका राशि, एक विरलन राशि, एक देय राशि। पूर्वोक्त विधि से विरलन राशि को विरलन करके उसके ऊपर देयराशि देवे और परस्पर में गुणा कर देवे और शलाका राशि में एक घटा देवे फिर गुणा करने से जो संख्या आई उसी प्रमाण एक विरलन राशि, एक देय राशि, दो राशि करे पूर्वोक्त विधि से गुणा करते-करते शलाका राशि खाली करने तक यह काम करना। इसी प्रकार से जो संख्या आई उसी समान फिर तीन राशि करें। एक शलाका राशि, एक विरलन राशि, एक देय राशि। और ऊपर कही हुई विधि से फिर शलाका राशि को खाली कर देवे यह शलाका त्रयनिष्ठापन विधि हुई। अब शलाका त्रयनिष्ठापन विधि से जो संख्या उत्पन्न हुई उसमें धर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश एक जीव के असंख्यात प्रदेश और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश मिला देवे फिर उससे भी असंख्यात गुणे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण उसमें मिला देवे और उससे भी असंख्यात लोक गुणित असंख्यात लोक प्रमाण सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण मिला देवे।

और फिर यह राशि उत्पन्न हुई उसी समान तीन राशि करे एक शलाका राशि, एक विरलन राशि, एक देय राशि करके पूर्वोक्त विधि से शलाका त्रयनिष्ठापन करे अब जो महाराशि आई उसमें २० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल रूप कल्पकाल के संख्यात पल्यमात्र समय और असंख्यात लोक मात्र स्थित बन्ध के कारण भूत जो परिणाम तिनके स्थान और इनसे असंख्यात लोक गुणे तो भी असंख्यात लोक प्रमाण मन वचन काय योगों के अविभागी प्रतिच्छेद इसमे मिला देवें।

अब जो महाराशि हुई उसके फिर एक शलाका राशि, एक विरलन राशि, एक देय राशि करके पूर्वोक्त विधि से शलाका त्रयनिष्ठापन विधि हुई, ऐसे करते हुये जो परिमाण होवे सो जघन्य परीतानन्त है। इसके ऊपर एक-एक बढ़ाते हुये एक कम उत्कृष्ट परीतानन्त पर्यन्त मध्यम परीतानन्त के भेद होते हैं।

और एक कम जघन्य युक्तानन्त प्रमाण उत्कृष्ट परीतानन्त होता है जघन्य युक्तानन्त का लक्षण कहते हैं—

जघन्य परीतानन्त को विरलन करके एक-एक के ऊपर जघन्य परीतानन्त की संख्या रख करके परस्पर में गुणा करने से जो संख्या आती है सो जघन्य युक्तानन्त है सो यह अभव्य राशि प्रमाण है अर्थात् अभव्य राशि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है।

अब इसके ऊपर एक-एक बढ़ते हुये एक कम उत्कृष्ट युक्तानन्त पर्यन्त मध्यम युक्तानन्त के भेद होते हैं। यह एक कम जघन्य अनन्तानन्त प्रमाण युक्तानन्त होता है उत्कृष्ट जघन्य युक्तानन्त को जघन्य युक्तानन्त से गुणा करने पर जघन्य अनन्तानन्त होता है पुनः इसके ऊपर एक-एक बढ़ता हुआ एक कम केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद प्रमाण उत्कृष्ट अनन्तानन्त पर्यन्त मध्यम अनन्तानन्त के भेद जानना।

जघन्य अनन्तानन्त प्रमाण शलाका राशि, देय राशि, विरलन राशि करके शलाका त्रयनिष्ठापन विधि पहले कही अनुसार करना ऐसे करते जो मध्यमअनन्तानंत भेद रूप प्रमाण होवे उसमें ये छह राशि मिलाना। १. जीव राशि के अनन्तवे भाग सिद्ध राशि, २. उससे अनंत गुणे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, त्रसराशिरहित संसारी जीव मात्र निगोदराशि, ३. प्रत्येक वनस्पति सहित निगोद राशि प्रमाण वनस्पतिराशि, ४. जीवराशि से अनन्तगुणे पुद्गलराशि, ५. पुद्गलराशि से अनन्तगुणा व्यवहार काल के समयों की राशि, ६. पुनः इससे भी अनन्तानंतगुणा अलोकाकाश के प्रदेशों की राशि, यह छह राशि का प्रमाण उसमें मिलाना। और मिलाने पर जो प्रमाण हुआ उसी प्रमाण शलाका राशि, विरलन राशि, देय राशि रख कर पूर्वोक्त विधि से शलाकात्रयनिष्ठापनविधि करना ऐसा करने से जो संख्या आई वह सब मध्यम अनन्तानन्त के भेद में शामिल होती है। फिर इसी में धर्म द्रव्य के, अधर्म द्रव्य के, अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों का प्रमाण अनन्तानन्त है सो मिला देना। ऐसा करने पर जो महा परिमाण हुआ उस प्रमाण शलाका, विरलन, देयराशि करके पूर्वोक्त विधि से शलाका त्रयनिष्ठापन करना, ये सब मध्यम अनन्तानन्त के ही भेद है इसी प्रमाण को केवलज्ञान की शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह रूप परिमाण में से घटाकर पीछे ज्यों का त्यों मिलावे। तब केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का प्रमाण स्वरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है ऐसे ये २१ भेद संख्यामान के हुये हैं।

दशलक्षण धर्म

उत्तम क्षमादि दश धर्म—

यह भादों मास सभी महीनों, में राजा है उत्तम जग में ।
यह धर्म हेतु है औ अनेक, व्रत रत्नों का सागर सच में ।।
यह महापर्व है पर्यूषण, दशधर्म मयी मंगलकारी ।
रत्नत्रय निधि को देता है, सोलह कारण मय सुखकारी ।।

उत्तम क्षमा

सब कुछ अपराध सहन करके, भावों से पूर्ण क्षमा करिये ।
यह उत्तम क्षमा जगन्माता, इसकी नितप्रति अर्चा करिये ।।
कमठासुर ने भव भव में भी, उपसर्ग अनेकों बार किया ।
पर पार्श्वप्रभू ने सहन किया, शान्ति का ही उपचार किया ।।१।।

क्या वैर से वैर मिटा सकते, क्या रज से रज धुल सकता है ?
क्या क्रोध से भी शान्ति मिलती, क्या क्रोध सुखी कर सकता है ?
यदि अपकारी पर क्रोध करो, तो क्रोध महा अपकारी है ।
इस क्रोध पे क्रोध करो बंधु, यह शत्रु महा दुखकारी है ।।२।।

यह क्रोध महा अग्नि क्षण में, संयम उपवन को भस्म करे ।
यह क्रोध महा चांडाल सदृश, आत्मा की शुचि अपहरण करे ।।
पांडव आदि मुनियों ने भी, इस क्षमा को मन में धारा था ।
मुनिगण ने सर्वंसह असि से, इस क्रोध शत्रु को मारा था ।।३।।

यह क्रोध अनंत अनुबंधी, अगणित भव तक संस्कार रहे ।
अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, छह महीना ऊपर नहीं रहे ।।
यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, पन्द्रह दिन तक रह सकता है ।
संज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त, से अधिक नहीं टिक सकता है ।।४।।

उदयागत क्रोध द्रव्य पुद्गल, इसको भी निज से भिन्न करूं।
फिर निज में ही स्थिर होकर, सब भाव क्रोध को छिन्न करूं॥
निज उत्तम क्षमा स्वाभावमयी, नज को निज में पा जाऊं मैं।
पर से संबंध पृथक करके, निज पूर्ण सौख्य प्रगटाऊं मैं॥५॥

उत्तम मार्दव

मृदुता का भाव कहा मार्दव, यह मान शत्रु मर्दनकारी।
यह दर्शन ज्ञान चरित्र तथा, उपचार विनय से सुखकारी॥
मद आठ जाति कुल आदि हैं, क्या उनसे सुखी हुआ कोई।
रावण का मान मिला रज में, यमनृप ने सब विद्या खोई॥१॥

था इन्द्र नाम का विद्याधर, वह इन्द्र सदृश वैभवशाली।
रावण ने उसका मान हरा, अपमान हृदय को दुःखकारी॥
जब चक्री गर्व सहित जाकर, वृषभाचल पूर्ण लिखा लखते।
हो मान शून्य इक नाम मिटा, निज नाम प्रशस्ति को लिखते॥२॥

बहु इन्द्र सदृश भी सुख भोगे, औ बार अनन्त निगोद गया।
बहु ऊंच नीच पर्याय धरी, नहिं किंचित् भी तब मान रहा॥
यह मान स्वयं निज आत्मा का, अपमान सदा करवाता है।
मार्दव गुण अपनी आत्मा को, सन्मान सदा दिलवाता है॥३॥

व्यवहार विनय सब सिद्ध करे, इसको सब शिव द्वार कहें।
गुणमणि साधुजन का नित प्रति, बहु विनय भक्ति सत्कार रहे॥
अपनी आत्मा है अनन्त गुणी, दुर्गति से उसे बचाऊं मैं।
निज स्वाभिमान रक्षित करके, अपने को अपना पाऊं मैं॥४॥

निज दर्शन ज्ञान चरित गुण का, सन्मान करूं सब मान हरूं।
निज आत्म सदृश सबको लखकर, नहिं किस ही का अपमान करूं॥
निज आत्मा के मार्दव गुण को, निज में परिणत कर सौख्य भरूं।
निज स्वाभिमानमय परमामृत, पीकर निज को झट प्राप्त करूं॥५॥

उत्तम आर्जव

ऋजु भाव कहा आर्जव उत्तम, मन वच औ काय सरल रखना।
इन कुटिल किये माया होती, तिर्यंचगति के दुःख भरना।।
नृप सगर छद्म से ग्रन्थ रचा, मधुपिंगल का अपमान किया।
उसने भी कालासुर होकर, हिंसामय यज्ञ प्रधान किया।।१।।

मृदुमति मुनी ने ख्याति पूजा-हेतु माया को ग्रहण किया।
देखो हाथी का जन्म लिया, इस माया को धिक्कार दिया।।
यह कुटिल भाव गति कुटिल करे, औ अशुभ नाम का बंध करें।
ऋजु गती से मुक्ति गमन होता, ऋजु भावी सुख से प्राप्त करे।।२।।

जो मन में हो वह ही वच से, तन चेष्टा भी वैसी होवे।
दुर्गति स्त्री पशुयोनि छुटे, भव भव का भ्रमण तुरत खोवे।।
मैं अपने योग सरल करके, अपने में ही नितवास करूं।
पर से विश्वास हटा करके, अपने में ही विश्वास करूं।।३।।

माया कषाय से रहित स्वयं, आत्मा ऋजु गुण से मंडित है।
यह भाव विभाव कहा ऋषि ने, बहिरात्मा इसमें रंजित है।।
मैं अन्तर आत्मा निर्विकार, शुद्धात्मा स्वयं का ध्यान करूं।
पर से अपने को पृथक समझ, निज परमात्मा को प्राप्त करूं।।४।।

अपने त्रय योग अचल करके, रत्नत्रय निज गुण प्राप्त करूं।
योगों की चंचलता छूटे, अपना भव भ्रमण समाप्त करूं।।
मन वच काया से आत्मा को, ध्यानानल से मैं पृथक करूं।
निजदर्शन ज्ञान वीर्य सुखमय, अनुपम निज पद के विभव भरूं।।५।।

उत्तम शौच

शुचि का जो भाव शौच वो ही, मन से सब लोभ दूर करना।
निर्लोभ भावना से नित ही सब जग को स्वप्न सदृश गिनना।।
जमदग्नि ऋषि की कामधेनु, हर ली वह कार्तवीर्य लोभी।
बस परशुराम ने नष्ट किया क्षत्रिय कुल सात बार क्रोधी।।१।।

तनु इन्द्रिय जीवन औ निरोग, के लोभ महादुखदायी हैं।
इनको तज निज गुण का लोभी, मैं बनूं वही सुखदायी है ॥
निर्लोभवती भगवती कही, उसको मैं वंदन करता हूं।
जिसके प्रसाद से सभी जगत, को इन्द्रजाल सम गिनता हूं ॥२॥

'देहि' यह शब्द उच्चरते ही, जन परमाणु सम लघु होते।
आकाश समान विशाल वही, जो जन देकर दानी होते ॥
जल मंत्र और व्रत से त्रयविध, स्नान सदा जो करते हैं।
शुचि धौत वसन धरकर पूजन, दानादि क्रिया जो करते हैं ॥३॥

व्यवहार शुद्धि करते श्रावक, मुनि निश्चय शुद्धि करते हैं।
वे ब्रह्मचारी हैं नित्य शुचि, रत्नत्रय से शुचि रहते हैं ॥
यद्यपि रज स्वेद सहित मुनिवर, अति शुष्क मलिनतन होते हैं।
पर वे अन्तः शुचि गुणधारी, नितकर्म मल को धोते हैं ॥४॥

यह आत्मा कर्म मलीमस है बस प्राणों को धर धर मरता।
जब तन से लोभ समस्त हरता, तब बाह्याभ्यंतर मल हरता ॥
मैं ज्ञानामृत का लुब्धक बन, पर में सब लोभ समाप्त करूं।
तब स्वयं शौचगुण से पवित्र, अपने में परमाह्लाद भरूं ॥५॥

उत्तम सत्य

सत् सम्यक् और प्रशस्त वचन, कहना है सत्यधर्म सुन्दर।
अस्ति को अस्ति रूप कहना, मिथ्या अपलाप रहित सुखकर ॥
गर्हित निंदित पैशून्य वचन, अप्रिय कर्कश हिंसादि वचन।
क्रोधादि वैर अपमान करी, उत्सूत्र और आक्रोश वचन ॥१॥

छेदनभेदन सावद्य वचन, आरोप अरति करने वाले।
मंत्री श्रीवंदक सम झूठे, वच निज के दृग् हरने वाले ॥
वसु नृपति असत् का पक्ष लिया, सिंहासन पृथ्वी में धसका।
मरकर वह सप्तम नरक गया, है झूठ वचन सबको दुखदा ॥२॥

प्रिय वचनों से मन को हरते, ऐसे मृदुभाषी बहु जन हैं।
जो अप्रिय परहितकर होवे, ऐसे वक्ता श्रोता कम हैं।।
हितकर औ पथ्य सहित वाणी, जग में वच सिद्धि करती है।
सच भाषा सचमुच ही जग में, दिव्यध्वनि को भी वरती है।।३।।

प्रिय हित मित मधुर वचन सुन्दर, सबमें विश्वास प्रगट करते।
ये उत्तम सत्य वचन जग में, अप्रिय जन को भी वश करते।।
विश्वासघात है पाप महा, नहिं कभी भूलकर करना तुम।
जैसा तुम अपने प्रति चाहो वैसा सबके प्रति करना तुम।।४।।

आत्मा से भिन्न सभी पर हैं, उनको नहिं अपना मानो तुम।
सब से मन भाव हटा करके, अपने को ही पहचानों तुम।।
हे आत्मन्! अपने में सम्यक्, अपना अवलोकन करलो तुम।
सब ही संकल्प विकल्पों को, तजकर अपने को भज लो तुम।।५।।

उत्तम संयम

व्रत धारण समिति का पालन, क्रोधादि कषाय विनिग्रह है।
मन वच तन की चेष्टा त्यागे, इन्द्रिय जय संयम पांच कहै।।
अथवा त्रसथावर षट्कायों की, रक्षा पंचेंद्रिय मन जय।
द्वादशविध संयम को पालें, वे मुनिवर संतत व्रतगुणमय।।१।।

इस जीव लोक में हे स्वामिन्! कैसे आचरण करें मुनिगण?
कैसे ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोयें, कैसे भोजन?
कैसे बोलें जिस विध पापों, से बंध नहीं फिर हो सकता?
बस यत्नाचार प्रवृत्ति हो, तब बंध स्वयं ही रुक सकता।।२।।

जितना भी संयम पालो, थोड़ा भी संयम गुणकारी।
श्रावक भी एक देश पालें, त्रस हिंसा के नित परिहारी।।
रावण के एक नियम से ही, सीतेंद्र नरक में जा करके।
सम्यक् निधि देकर तृप्त किया, लक्ष्मण से वैर मिटा करके।।३।।

यह संयम है व्यवहार धर्म, निश्चय संयम को प्रगट करे।
आत्मा में ही निश्चिल होकर, रागादि विभाव अभाव करे ।।
निश्चय संयम ही इन्द्रिय के, मन के व्यापार खत्म करके।
अपनी ही रक्षा करता है, षट् जीव काय का वध हरके ।।४।।

इन्द्रिय व्यापार नियन्त्रण कर, मन का भी निग्रह कर पाऊं।
उस क्षण में अन्तर में थिर हो, निज स्वात्म सुधारस को पाऊं ।।
सम्यक् पूर्वक यम के बल से, यमराज शत्रु को वश्य करूं।
निज उत्तम संयम धर्म सहित, मैं सिद्धि वधू को शीघ्र करूं ।।५।।

उत्तम तप

उत्तम तप द्वादश विध माना, बाह्याभ्यंतर के भेदों से।
अनशन ऊनोदर वृत्तपरीसंख्या,[1] रस त्याग प्रभेदों से ।।
एकान्त शयन आसन करना, तनु क्लेश यथा शक्ति तप है।
तपने से स्वर्ण शुद्ध होता, आत्मा भी तप से शुद्धि लहै ।।१।।

प्रायश्चित विनय सुवैयावृत, स्वाध्याय उपधि का त्याग कहे।
शुचि ध्यान छहों अन्तर तप ये, इनसे ही कर्म कलंक दहै ।।
आगम विधि से सम्यक् तप ये, आत्मा की पूर्ण शुद्धि करते।
जो तप से तन को कृश करते, वे आत्मबली सिद्धि वरते ।।२।

व्रत कर्म दहन चारित्र शुद्धि, जिन गुण संपति कहे उत्तम।
कनकावली रत्नावली आदिक, सर्वतोभद्र जग में उत्तम ।।
व्रत श्रेष्ठ सिंहनिष्क्रीडितादि, नन्दन मुनि ने भी व्रत पाला।
सोलह कारण भावित करके, महावीर बने सब अघ टाला ।।३।।

'मय' मुनि को कर स्पर्श सती, सिंहेंदु का स्पर्श किया।
पति भी निर्विष हो खड़ा हुआ, मय मुनि की पूजा भक्ति किया ।।
तप बल से शुद्धि सभी प्रगटें, भविजन के बहुविध त्रास हरें।
ऋषिस्वयं तपोधन होकर भी, निस्पृह हो निज सुख चाह करें ।।४।।

---

1. व्रतपरिसंख्यान

सब इच्छाओं का रोध करूं, बस स्वात्म सुखामृत को चाहूं ।
निज आत्मा में ही लीन हुआ, निश्चय सम्यक्तप को पाऊं ॥
बहिरंतर तप तपते तपते, मैं स्वयं तपोधन बन जाऊं ।
अपने में ही रमते-रमते, मैं स्वयं स्वयंभू बन जाऊं ॥५॥

उत्तम त्याग

उत्तम त्याग कहा जग में, जो त्यागे विषय कषायों को ।
शुभ दान चार विध के देवें, उत्तम आदि त्रय पात्रों को ॥
आहार सुऔषधि ज्ञान दान, औ अभय दान उत्तम सबमें ।
नृपवज्रजंघ और श्रीमती, आहार दान से पूज्य बने ॥१॥

नृप वृषभ हुए श्रीमती तभी श्रेयांस हुए जग में वंदित ।
श्री कृष्ण मुनि को औषधि दे, तीर्थंकर होंगे पुण्य सहित ॥
ग्वाला भी शास्त्र दान फल से, कौंडेस मुनि श्रुतपूर्ण हुआ ।
मुनि को देकर सूकर अभयदान, लड़कर मरकर सुर शीघ्र हुआ ॥२॥

रत्नों की वर्षा पुष्प वृष्टि, अनहद बाजे वायु सुरभित ।
जयजय कारा ये पाँच कहें, आश्चर्य वृष्टि सुरगण निर्मित ॥
पंचाश्चर्यों की वर्षा बस, आहार दान में ही होती ।
भद्रों को मिलती भोग भूमि, समकित को सुर शिव गति होती ॥३॥

पात्रों का दान सुफल देता, कुपात्रों का कुत्सित फल है ।
हो दान अपात्रों का निष्फल, ये चारों दान महा फल हैं ॥
थोड़े में भी थोड़ा दीजे, बहु धन की इच्छा मत करिये ।
इच्छा की पूर्ति नहीं होगी, सागर में कितना जल भरिये ॥४॥

यह सब व्यवहार त्याग माना, निश्चय से आत्मा सिद्ध सदृश ।
सब त्याग ग्रहण से रहित सदा, टाँकी से उकेरी मूर्ति सदृश ॥
संपूर्ण विभावों को तजकर, गुणपुंज अमल निज को ध्याऊँ ।
बस ज्ञायक भाव हमारा है, उसमें ही तन्मय हो जाऊँ ॥५॥

उत्तम आकिंचन्य

नहिं किंचित् भी मेरा जग में, यह ही आकिंचन भाव कहा।
बस एक अकेला आत्मा ही, यह गुण अनन्त का पुंज अहा ।।
अणुमात्र वस्तु को निज समझें, वे नरक निगोद निवास करें।
जो तन से भी ममता टारें, वे लोक शिखर पर वास करें ।।१।।

जमदग्नि मिथ्या तापस ने, निज व्याह रचा था आश्रम में ।
परिग्रह का पोट धरा शिर पर, बस डूब गया भवसागर में ।।
जिनमत के मुनिगण सब परिग्रह, तज दिग अम्बर को धरते हैं ।
बस पिच्छी और कमंडल लेकर, भवसागर से तिरते हैं ।।२।।

धन्य-२ महामुनी वे जग में, गिरि शिखरों पर तप करते हैं ।
वे जग में रहते हुए सदा निज, में ही विचरण करते हैं ।।
ग्रीष्म में पर्वत चोटी पर, सर्दी सरिता के तट तिष्ठें ।
वर्षा में तरुतल ध्यान धरें, निश्चलतन से परिषह सहते ।।३।।

मैं काल अनादि से अब तक, एकाकी जन्म मरण करता ।
एकाकी नरक निगोदों के, चारों गतियों के दुख सहता ।।
इस जग में जितने भी भव हैं, मैं उन्हें अनन्तों बार धरा ।
बस मेरा निर्मम एक शुद्ध पद उसे न अब तक प्राप्त करा ।।४।।

भगवन् ! ऐसी शक्ति दीजे मैं निर्मम हो वनवास करूं ।
आतापन आदि योग धरूं, भवभव का त्रास विनाश करूं ।।
उपसर्ग परीषह आ जावें, मुझको नहिं किंचित् भान रहे ।
हो जाय अवस्था ऐसी ही, बस मेरा ही इक ध्यान रहे ।।५।।

उत्तम ब्रह्मचर्य

यह ब्रह्मस्वरूप कही आत्मा, इसमें चर्या ब्रह्मचर्य कहा ।
गुरुकुल में वास रहे नित ही वह भी है ब्रह्मचर्य दुखहा[1] ।।
सब नारी को माता भगिनी, पुत्रीवत् समझें पुरुष सही ।
महिलायें पुरुषों को भाई, पितु पुत्र सदृश समझें नित ही ।।१।।

1. दुख को हनन करने वाला ।

इक अंक लिखे बिन अगणित भी, बिन्दु की संख्या क्या होगी।
इक ब्रह्मचर्य व्रत के बिन ही, धर्मादि क्रिया फल क्या देगी॥
भोगों को जिनने बिन भोगे, उच्छिष्ट समझकर छोड़ दिया।
उन बालयती को मैं नित प्रति, वंदूं प्रणमूं निज खोल हिया॥२॥

इक देश ब्रह्मव्रत जो पाले, वे शीलव्रती नर नारी भी।
सीता सम अग्नि नीर करें, सुर वंदित मंगलकारी भी॥
शूली से सिंहासन देखा, वह सेठ सुदर्शन यश मंडित।
रावण से नरक गति पहुँचे, वह चन्द्रनखा भी यश खंडित॥३॥

मेरी आत्मा है परम ब्रह्म, भगवन् अमल चिद्रूपी है।
यह है शरीर अपवित्र अथिर, आत्मा शाश्वत चिन्मूर्ती है॥
यह द्रव्य कर्म मल भावकर्म, मल आत्म स्वरूप मलिन करते।
जब मैं इन सबसे पृथक रहूं, तब सब कर्म स्वयं भगते॥४॥

निज आत्मा में ही रमण करूं, निज सौख्य सुधा को पाऊं मैं।
पर के संकल्प विकल्पों को, इक क्षण में ही ठुकराऊं मैं॥
पर का किंचित् भी भान न हो, निज में तन्मयता पाऊं मैं।
निज 'ज्ञानमती' लक्ष्मी पाकर त्रैलोक्यपती बन जाऊं मैं॥५॥

है उत्तम क्षमा मूल जिसमें, मृदुता सुतना, आर्जव शाखा।
शुचि भाव नीर पत्ते सच हैं, संयम तप त्याग कुसुम भाषा॥
आकिंचन ब्रह्मचर्य कोंपल, से सुन्दर वृक्ष सघन छाया।
फल स्वर्ग मोक्ष का देता है, दश धर्म कल्पद्रुम मन भाया॥१॥

दोहा

धर्म कल्पद्रुम के निकट मांगू शिवफल आज।
"ज्ञानमती" लक्ष्मी सहित पाऊं सुख साम्राज्य॥२॥

अध्यात्म-पीयूष

हिन्दी पद्य—शुद्धात्मभावना—

मेरा तनु जिन मंदिर उसमें, मन कमलासन शोभे सुन्दर।
उस पर मैं ही भगवान् स्वयं, राजित हूँ चिन्मय ज्योति प्रवर॥
मैं शुद्ध बुद्ध हूँ सिद्ध सदृश, कर्मांजन का कुछ लेप नहीं।
मैं स्वयं स्वयंभू परमात्मा, मेरा पर से संश्लेष नहीं॥१॥

मैं भाव कर्म औ द्रव्यकर्म, नो कर्म रहित शुद्धात्मा हूँ।
मैं अरस अगंध अरूपी हूँ, स्पर्श रहित सिद्धात्मा हूँ॥
संस्थान शरीर वचन मन से, विरहित पुद्गल से भिन्न कहा।
मैं आयु श्वासोच्छ्वास रहित, जीवन औ मरण विविक्त रहा॥२॥

मैं आधि व्याधि शोकादि रहित, मद मोह विषाद विवर्जित हूँ।
क्रोधादि कषायों से विरहित, विषयादिक सौख्य विवर्जित हूँ॥
मैं निर्मम हूँ एकाकी हूँ, मेरा अणुमात्र नहीं कुछ भी।
मैं ज्ञायक एक स्वभावी हूँ, पर में अनुराग नहीं कुछ भी॥३॥

मैं वीतमोह मैं वीतराग, मैं वीतद्वेष मैं मद विरहित।
मैं इन्द्रिय सुख औ दुःख रहित, मैं इन्द्रिय ज्ञान रहित हूं नित॥
मैं सकल विमल केवलज्ञानी, परमाल्हादक सुखास्वादी।
मैं चिन्मय मूर्ति अमूर्तिक हूँ, निज समरस भाव सुधास्वादी॥४॥

मैं हूँ अपने में स्वयं सिद्ध, पर की भक्ति का काम नहीं।
मैं भक्त नहीं भगवान् स्वयं, मेरा निजपद शिवधाम सही॥
मैं हूँ अनंत गुणपुंज अतुल, अविनाशी ज्योति स्वरूपी हूँ।
मैं हूँ अखंड चित्पिंड परम आनंद सौख्य चिद्रूपी हूँ॥५॥

मैं नित्य निरंजन परं ज्योति, मैं चिच्चैतन्य चमत्कारी।
मैं ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हूं, मैं बुद्ध जिनेश्वर सुखकारी ॥
मैं ही निज का कर्ता धर्ता, मैं अनवधि सुख का भोक्ता हूँ।
मैं रत्नत्रय निधि का स्वामी, अगणित गुणमणि का भर्ता हूँ ॥६॥
मैं सकल निकल हूँ अमल अचल, अविकारी अनुपम गुणकारी।
मैं जन्म रहित हूँ अजर अमर, मैं अरुज अशोक मर्महारी ॥
मैं परम पुरुष हूँ परम हंस, समता पीयूष रसास्वादी।
मैं ज्ञायक टंकोत्कीर्ण एक, चिन्मय चिज्ज्योति महाभागी ॥७॥
मैं लोकालोक प्रकाशी हूँ, निजज्ञान किरण से व्यापक हूँ।
मैं भूत भविष्यत वर्तमान, अनवधि पर्यय का ज्ञायक हूँ ॥
मैं इन्द्रिय बल उच्छ्वास आयु, आदि दश प्राणों से विरहित।
सुख सत्ता दर्शन ज्ञानमयी, चेतन प्राणों से नित अन्वित ॥८॥
मैं हूँ संसारातीत सदा, मैं देहातीत निराला हूँ।
मैं हूँ अनंत दृग ज्ञान वीर्य, सुखरूप चतुष्टय वाला हूँ ॥
मैं दोष विखंडित गुण मंडित, मैं निश्चय से त्रिभुवन गुरु हूँ।
मैं अर्हंत् सिद्ध सूरि पाठक, साधु मैं पंच परम गुरु हूँ ॥६॥
यद्यपि जड़कर्म अनादि से, मेरे संघ बंधे हुए फिर भी।
निश्चय नय से मैं मुक्ति रमा-पति बंध मोक्ष से रहित सही ॥
जब मैं सदृष्टि ज्ञान चरणरत, बहिरंतर परिग्रह त्यागी।
निश्चय से निज में निश्चल हो, निज को ध्याऊं निज में रागी ॥१०॥
माया मिथ्यादि शल्य रहित, अविरति आस्रव बंधादि रहित।
मैं संयत हूँ मैं महाश्रमण, यति मुनि ऋषि हूँ व्रत गुण भूषित ॥
निज शुद्धात्मा मैं सम्यक्रुचि, सुज्ञान चरण मय सुस्थिर हूँ।
मैं निश्चय रत्नत्रय परिणत, शुद्धोपयोग में स्थिर हूँ ॥११॥

परिषह उपसर्ग भले ही हों, मैं किंचित् नहिं घबराऊंगा।
परमानंदामृत पी करके, निज में ही तृप्ति पाऊंगा॥
उस समय स्वयं ही मैं तत्क्षण, सब कर्मों से छुट जाऊंगा।
निज ज्ञान सूर्य प्रगटित होगा, मैं त्रिभुवन पति कहलाऊंगा॥१२॥
बहिरात्मदशा को छोड़ स्वयं, अंतर आत्मा शुद्धात्मा हूं।
मैं ज्ञान चेतनामय परिणत, निश्चयनय से परमात्मा हूं॥
मैं सुख-दुख जीवन-मरण महल-वन कनक-कांच में समभावी।
मैं लाभ-अलाभ मित्र-शत्रु, परिजन-पुरजन में समभावी॥१३॥
मैं इष्ट वियोग अनिष्ट योग, से रहित इष्ट आराध्य स्वयं।
पर में अपनत्व यही बुद्धि, है नित्य अनिष्टमयी दुखदं॥
मेरी आत्मा विश्वस्त स्वयं, पर में विश्वास करूं फिर क्या?।
पर जन लौकिकजन मुझसे फिर, विश्वासघात कर सकते क्या? ॥१४॥
मैं त्रयगुप्ति से गुप्त सदा, आक्रोश बाण कर सकते क्या?।
पर के निन्दा वच कर्णपूर, भूषण होवें फिर उनसे क्या? ॥
पर के बंधन पीड़न यंत्रों, के पीलन आदि उपद्रव भी।
कटु कर्म उदीर्ण करें क्षण में, वे बंधन मुक्त करें झट ही॥१५॥
मैं क्षमा मूर्ति हूं गुणग्राही, क्रोधादि पुनः कैसे होंगे?।
मैं इच्छा रहित तपोधन हूं, फिर कर्म नहीं क्यों छोड़ेंगे? ॥
मैं हूं निश्चय से कर्म रहित, फिर कर्मोदय कर सकते क्या?।
मैं हर्षविषाद विभाव रहित, मुझको परिणत कर सकते क्या? ॥१६॥
मुझमें कषाय का उदय नहीं, संक्लेश भला कैसे होगा?।
मैं हूं अमूर्त यह कर्ममूर्त, संश्लेश भला कैसे होगा? ॥
यद्यपि निज आत्म प्रदेशों से, ये कर्म एकता किये हुए।
हैं क्षीर नीरवत् एकमेक, फिर भी निश्चय से भिन्न कहे॥१७॥

वे कर्म स्वयं हैं जड़ पुद्गल, इनके औपाधिक भाव प्रगट।
वे भी जब मुझसे भिन्न कहे, फिर तनु आदिक तो स्वयं पृथक्॥
तनु से संबंधित शिष्यादिक, वे तो सचमुच में पृथक् पृथक्।
उनमें ममता कैसे करना, यह ममता ही निजसुख घातक॥१८॥

मेरे हृदयाम्बुज में नित प्रति, चिन्मय भगवान् विराज रहे।
मेरे अंतर में आनंदघन, अमृतमय पूर्ण प्रवाह बहे॥
वह आनन्द घनाघन ही, कलिमल को दूर करे क्षण में।
सब दुरित सूर्य का ताप शमन, कर शाश्वत शांति भरे मुझमें॥१९॥

मैं सब संकल्प विकल्प शून्य, मैं अहंकार ममकार रहित।
मैं निर्विकल्प शुचि वीतराग–मय परम समाधि में सुस्थित॥
मैं ध्याता ध्यान ध्येय विरहित, मैं हूं एकाग्र परम निश्चल।
मैं ध्यान अग्नि से नाश करूं, निज के सब बाह्याभ्यंतर मल॥२०॥

मैं आर्तरौद्र से रहित सदा, हूं धर्म शुक्ल ध्यानी ज्ञानी।
मैं आशा तृष्णा रहित सदा, हूं स्वपर भेद का विज्ञानी॥
मैं निज के द्वारा ही निज को, निज से निज हेतु स्वयं ध्याकर।
निज में ही निश्चल हो जाऊं, पाऊं स्वात्मैक सिद्धि सुन्दर॥२१॥

पत्थर खनि से पत्थर प्रगटे, हीरे की खनि से हीरा ही।
निज को अशुद्ध समझे जब तक, तब तक यह जीव अशुद्ध सही॥
जब निज को शुद्धात्मा समझे, ध्यावे शुद्धात्मा बन जावे।
निज को परमात्मा ध्या-ध्या कर, निज में परमात्मा प्रगटावे॥२२॥

सब जीव अनंतानंत कहे, वे मुक्त तथा संसारी हैं।
मैं उन सबसे हूं भिन्न सदा, वे निज सत्ता के धारी हैं॥
पुद्गल भी नंतानंत कहे, उनसे कुछ भी संबंध नहीं।
हैं धर्म अधर्म अचेतन ही, उनसे फिर क्या संबंध सही॥२३॥

आकाश अनंतानंत रहा, इससे भी मैं अस्पर्शित हूँ।
कालाणु असंख्यातों मिलकर, मुझमें परिवर्तन करें नहीं ॥
नोकर्म वर्गणायें मिलकर, मन वच काया को रचा करें।
सब कर्म वर्गणायें आकर, मुझमें सम्बन्धित हुआ करें ॥२४॥
सब भावकर्म एकत्रित हो, मुझ में वैभाविक भाव भरें।
फिर भी मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, ये मेरा नहीं बिगाड़ करें ॥
मेरे घर में ही रहते ये, फिर भी मुझमें कुछ गंध नहीं।
ये निज अस्तित्व लिये हैं सब, इनका मुझसे सम्बन्ध नहीं ॥२५॥
एकेंद्रिय आदि निगोद जीव, से लेकर पंचेन्द्रिय तक भी।
है आत्मा सब की एक सदृश, गुण पुंज असंख्य प्रदेशी ही ॥
यद्यपि ये कर्म करें अन्तर, फिर भी निश्चय से भेद नहीं।
सब सिद्ध सदृश शुद्धात्मा हैं, व्यवहार करे सब भेद सही ॥२६॥
ब्राह्मण क्षत्रिय औ वैश्य शूद्र, ये वर्ण जिनागम भाषित हैं।
फिर भी निश्चय से वर्ण रहित, आत्मा ज्ञानैक प्रभावित है ॥
जाति कुल गोत्र सभी माने, यद्यपि मुक्ति पथ में साधक।
फिर भी व्यवहार नयाश्रित ये, निश्चय से शुद्धातम साधक ॥२७॥
जो स्त्री पुरुष नपुंसक भी, हैं भेद कहे सिद्धान्तों में।
व्यवहार नयाश्रित ये सच्चे, निश्चय से क्या इन बातों में ॥
व्यवहार बिना निश्चय यद्यपि, निश्चय एकांत कहाता है।
व्यवहार बिना उत्पन्न न हो, फिर भी व्यवहार मिटाता है ॥२८॥
यह निश्चयनय जब निश्चित हो, ध्यानस्थ अवस्था पाता है।
तब दोनों नयके भेद रहित, आत्मा शुद्धात्म कहाता है ॥
यह स्वपर भेद विज्ञान तभी, स्वात्मैक्य अभेद प्रगट करता।
भव भव के कल्मष धोकर के, झट कैवलसूर्य उदित करता ॥२९॥

चारों गतियों के दुःख यद्यपि, यह जीव सहन करता जग में ।
फिर भी इनको यदि अपना नहिं, माने तब पहुँचे शिवपथ में ।।
जब देह स्वयं पुद्गलमय है, फिर उसके दुःख में क्या दुःख है ।
जब मैं तनु से हूँ भिन्न सदा, फिर उसके निर्मम में सुख है ।।३०।।
चाहे तन को बहुरोगादिक, पीड़ें चाहे तन नाश करें ।
चाहे कोई अग्नि ज्वालें, चाहे तन छेदें घात करें ।।
चाहे मच्छर सर्पादिक, भी डसलें सिंहादिक प्राण हरें ।
फिर भी मैं अचल रहूँ निज में, मेरा मन समरस पान करे ।। ३१।।
चाहे सुरनर पशुगण मिलकर, उपसर्ग अनेकों बार करें ।
मैं स्वयं स्वयं में लीन रहूँ, मुझको नहिं हो कुछ भान अरे ।।
चाहे सुरनर आदिक मिलकर, सत्कार करें बहु भक्ति सहित ।
नहिं राग रहे उन पर मेरा, मैं हूँ रागादि विकार रहित ।।३२।।
तन धन यौवन इन्द्रिय सुख ये, सब क्षण भंगुर हैं नित्य नहीं ।
मैं नित्य अचल अविनश्वर हूँ, स्वाभाविक शक्ति अचिंत्य कही ।।
मैं नित्य नमूं निज आत्मा को, अविनश्वर पद के पाने तक ।
मैं ज्ञाता दृष्टा बन जाऊं, सर्वज्ञ अवस्था आने तक ।।३३।।
जग में क्या शरण कोई देगा, सब शरण रहित अशरणजन हैं ।
आत्मा इक शरणागत रक्षक, उस ही का शरण लिया मैंने ।।
यद्यपि अर्हत् जिन पंचगुरु, हैं शरणभूत निज भक्तों के ।
पर निश्चय से निज आत्मा ही, रक्षा करती भव दुःखों से ।।३४।।
हैं द्रव्य क्षेत्र औ काल तथा, भव भाव पंच विध परिवर्तन ।
निज आत्मा के अन्दर रमते, ही रुक जाते सब परिभ्रमण ।।
मैं हूँ निश्चय से भ्रमणरहित, शिवपुर में ही विश्राम मेरा ।
मैं निज में स्थिर हो जाऊँ, फिर होवे भ्रमण समाप्त मेरा ।।३५।।

मैं हूँ अनादि से एकाकी, एकाकी जन्म मरण करता।
फिर भी अनंतगुण से युत हूँ, मैं जन्म मृत्यु भय का हर्ता ॥
स्वयमेक आत्मा को ध्याऊँ, पूजूं वंदूं गुणगान करूं।
एकाकी लोकशिखर जाकर, स्थिर हो निज सुख पान करूं ॥३६॥
मेरी आत्मा से भिन्न सभी, किंचित् अणुमात्र न मेरा है।
में सबसे भिन्न अलौकिक हूँ, बस पूर्ण ज्ञान सुख मेरा है ॥
मैं अन्य सभी पर द्रव्यों से, सम्बन्ध नहीं रख सकता हूँ।
वे सब अपने में स्वयं सिद्ध, मैं निज भावों का कर्त्ता हूँ ॥३७॥
यह देह अपावन अशुचिमयी, सब शुचि वस्तु अपवित्र करे।
इस तन में राजित आत्मा ही, रत्नत्रय से तन शुद्ध करे ॥
तन सहित तथापि अशरीरी, आत्मा को ध्याऊं रुचि करके।
चैतन्य परम आल्हादमयी, परमात्मा बन जाऊं झट से ॥३८॥
मिथ्या अविरती कषायों से, कर्मास्रव हैं आते रहते।
पर ये जड़ अशुचि अचेतन हैं, जड़ ही इनको रचते रहते ॥
मेरा है चेतन रूप सदा, मैं इन कर्मों से भिन्न कहा।
मैं निज आत्मा को भिन्न समझ, इन कर्मास्रव से पृथक् किया ॥३९॥
गुप्ति समितियुत संयम ही, कर्मों का संवर करते हैं।
निश्चय से निज में गुप्त रहूँ, तब कर्मास्रव भी रुकते हैं ॥
मैं निर्विकल्प निज परमध्यान, में लीन रहूँ परमारथ में।
फिर कर्म कहो आते कैसे, ये भी रुक जाते मारग में ॥४०॥
ध्यानाग्नि से सब कर्मपुंज, को जला जला निर्जरा करूं।
बहिरंतर तप तपसे तपते, निज से कर्मों को जुदा करूं ॥
मैं कर्मरहित निज आत्मा को, जब निज में स्थिर कर पाऊं।
तब कर्म स्वयं ही झड़ जावे, मैं मुक्तिश्री को पा जाऊं ॥४१॥

यह लोक अनादि अनिधन है, यह पुरुषाकार कहा जिन ने ।
नहिं किंचित् सुख पाया क्षण भर, मैं घूम घूमकर इस जग में ।।
अब मैं निज का अवलोकन कर, लोकाग्रशिखर पर वास करूं ।
मैं लोकालोकविलोकी भी, निज का अवलोकन मात्र करूं ।।४२।।

दुर्लभ निगोद से स्थावर, त्रस पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ ।
दुर्लभ उत्तम कुल देश धर्म, रत्नत्रय भी पाना दुर्लभ ।।
सबसे दुर्लभ निज को पाना, जो नित प्रति निज के पास सही ।
दुर्लभ निज को पाकर निज में, स्थिर हो पाऊं सौख्य मही ।।४३।।

जो भव समुद्र में पतित जनों, को निज सुखपद में धरता है ।
है धर्म वही मंगलकारी, वह सकल अमंगल हर्ता है ।।
वह लोक में है उत्तम सबमें, औ वही शरण है सब जन को ।
निज धर्ममयी नौका चढ़कर, मैं शीघ्र तिरूं भव सिंधू को ।।४४।।

इस विध एकाग्रमना होकर, जो निजगुण कीर्तन करते हैं ।
वे भव्य स्वयं अगणित गुण मणि, भूषित शिवलक्ष्मी वरते हैं ।।
वे निज में रहते हुए सदा, आनन्द सुधारस चखते हैं ।
आर्हंत्यश्री 'सज्ज्ञानवती', पाकर निज में ही रमते हैं ।।४५।।

शांतिभक्ति

(पूज्यपाद कृत)

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् ! पादद्वयं ते प्रजाः ।
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः, संसारघोरार्णवः ॥
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकर-व्याकीर्ण-भूमण्डलो ।
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिल-च्छायानुरागं रविः ॥१॥

भगवन् ! सब जन तव पद युग की शरण प्रेम से नहिं आते ।
उसमें हेतु विविधदुःखों से भरित घोर भववारिधि है ॥
अतिस्फुरित उग्र किरणों से व्याप्त किया भूमंडल है ।
ग्रीषम ऋतु रवि राग कराता इंदुकिरण, छाया, जल में ॥१॥

क्रुद्धाशीर्विषदष्टदुर्जयविष-ज्वालावलीविक्रमो ।
विद्याभैषजमन्त्रतोयहवनै-र्याति प्रशांतिं यथा ॥
तद्वत्ते चरणारुणांबुजयुग-स्तोत्रोन्मुखानां नृणाम् ।
विघ्नाः कायविनायकाश्च सहसा, शाम्यन्त्यहो ! विस्मयः ॥२॥

क्रुद्धसर्प आशीविष डसने से विषाग्नियुत मानव जो ।
विद्या औषध मंत्रित जल हवनादिक से विष शांति हो ॥
वैसे तव चरणाम्बुज युग स्तोत्र पढ़े जो मनुज अहो ।
तनु नाशक सब विघ्न शीघ्र अति शांत हुवे आश्चर्य अहो ॥२॥

संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगौरद्युते ।
पुंसां त्वच्चरणप्रणामकरणात्, पीडाः प्रयान्ति क्षयं ॥
उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशत-व्याघातनिष्कासिता ।
नानादेहिविलोचनद्युतिहरा, शीघ्रं यथा शर्वरी ॥३॥

तपे श्रेष्ठ कलकाचल की शोभा से अधिक कांतियुत देव।
तव पद प्रणमन करते जो पीड़ा उनकी क्षय हो स्वयमेव ॥
उदित रवी की स्फुट किरणों से ताड़ित ही झट निकल भगे।
जैसे नाना प्राणी लोचन द्युतिहर रात्रि शीघ्र भगे ॥३॥

त्रैलोक्येश्वर भंगलब्धविजयादत्यन्तरौद्रात्मकान्।

नानाजन्मशतान्तरेषु पुरतो, जीवस्य संसारिणः ॥

को वा प्रस्खलतीह केन विधिना, कालोग्रदावानला।

न्न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगल-स्तुत्यापगावारणम् ॥४॥

त्रिभुवन जन सब जीत विजयि बन अतिरौद्रात्मक मृत्युराज।
भव भव में संसारी जन के सन्मुख धावे अति विकराल ॥
किस विध कौन बचे जन इससे काल उग्र दावानल से।
यदि तव पाद कमल की स्तुति नदी बुझावे नहीं उसे ॥४॥

लोकालोकनिरन्तरप्रवितत-ज्ञानैकमूर्ते!विभो!।

नानारत्नपिनद्धदंडरुचिर-श्वेतातपत्रत्रय !॥

त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः शीघ्रं द्रवन्त्यामयाः।

दर्पाध्मातमृगेन्द्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुंजराः ॥५॥

लोकालोक निरन्तर व्यापी ज्ञानमूर्तिमय शांति विभो।
नानारत्न जटित दण्डेयुत रुचिर श्वेत छत्रत्रय है ॥
तव चरणाम्बुज पूतगीत रव से झट रोग पलायित हैं।
जैसे सिंह भयंकर गर्जन सुन वन हस्ती भगते हैं ॥५॥

दिव्यस्त्रीनयनाभिराम विपुलश्रीमेरुचूडामणे!।

भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहर! प्राणीष्टभामंडल !॥

अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं, त्यक्तोपमं शाश्वतं।

सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगल-स्तुत्यैव संप्राप्यते ॥६॥

दिव्यस्त्रीदृगसुन्दर विपुला श्रीमेरु के चूड़ामणि।
तव भामंडल बाल दिवाकर द्युतिहर सबको इष्टअति ॥
अव्याबाध अचिंत्य अतुल अनुपम शाश्वत जो सौख्य महान्।
तव चरणारविंदयुगलस्तुति से ही हो वह प्राप्त निधान ॥६॥

यावन्नोदयते प्रभापरिकरः, श्री भास्करो भासयं- ।
स्तावद् धारयतीह पंकजवनं, निद्रातिभारश्रमम् ॥
यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्न स्यात्प्रसादोदय ।
स्तावज्जीवनिकाय एव वहति प्रायेण पापं महत् ॥७॥

किरण प्रभायुत भास्कर भासित करता उदित न हो जब तक ।
पंकजवन नहिं खिलते निद्राभार धारते हैं जब तक ॥
भगवन् ! तव चरणद्वय का हो नहीं प्रसादोदय जब तक ।
सभी जीवगण प्रायः करके महत् पाप धारें तब तक ॥७॥

शांतिशांतिजिनेन्द्र ! शांतमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात् ।
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शांत्यर्थिनः प्राणिनः ॥
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो ! दृष्टिं प्रसन्नां कुरु ।
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शांत्यष्टकं भक्तितः ॥८॥

शांति जिनेश्वर शांतिचित्त से शांत्यर्थी बहु प्राणीगण ।
तव पादाम्बुज का आश्रय ले शांत हुये हैं पृथिवी पर ॥
तव पदयुग की शात्यष्टकयुत स्तुति करते भक्ति से ।
मुझ भाक्तिक पर दृष्टि प्रसन्न करो भगवन् ! करुणा करके ॥८॥

शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं, शीलगुणव्रतसंयमपात्रम् ।
अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तमम्बुजनेत्रम् ॥९॥

शशि सम निर्मल वक्त्र शांतिजिन शीलगुणव्रत संयम पात्र ।
नमूं जिनोत्तम अंबुजदृग को अष्टशतार्चित लक्षण गात्र ॥९॥

पंचममीप्सितचक्रधराणां, पूजितमिंद्र-नरेन्द्रगणैश्च ।
शांतिकरं गणशांतिमभीप्सुः षोडशतीर्थकरं प्रणमामि ॥१०॥

चक्रधरों में पंचमचक्री इन्द्र नरेन्द्र वृंद पूजित ।
गण की शांति चहूं षोडश तीर्थंकर नमूं शांतिकर नित ॥१०॥

दिव्यतरुः सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेजः ॥११॥

तरुअशोक सुरपुष्पवृष्टि दुंदुभि दिव्यध्वनि सिंहासन।
चमर छत्र भामंडल ये अठ प्रातिहार्य प्रभु के मनहर ॥११॥

तं जगदर्चितशांतिजिनेन्द्रं, शांतिकरं शिरसा प्रणमामि।
सर्वगणाय तु यच्छतु शांतिं मह्यमरं पठते परमां च ॥१२॥

उन भुवनार्चित शांतिकरं शिर से प्रणमूं शांति प्रभु को।
शांति करो सब गण को, मुझको पढ़ने वालों को भी हो ॥१२॥

येभ्यर्चिता मुकुटकुंडलहाररत्नैः।
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः ॥
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपाः।
तीर्थंकराः सततशांतिकरा भवंतु ॥१३॥

मुकुटहारकुंडल रत्नों युत इन्द्रगणो से जो अर्चित।
इन्द्रादिक से सुरगण से भी पादपद्म जिनके संस्तुत ॥
प्रवरबंश में जन्मे जग के दीपक वे जिन तीर्थंकर।
मुझको सतत शांतिकर होवें वे तीर्थंकर शांतिकर ॥१३॥

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानां।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥१४॥

संपूजक प्रतिपालक जन यतिवर सामान्य तपोधन को।
देशराष्ट्र पुर नृप के हेतू हे भगवन्! तुम शांति करो ॥१४॥

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यांतु नाशं ॥
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां, मा स्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं, सर्वसौख्यप्रदायि ॥१५॥

चौर मारि दुर्भिक्ष न क्षण भी जग में जन पीड़ा कर हो।
नित ही सर्व सौख्यप्रद जिनवर धर्मचक्र जयशील रहो ॥१५॥

तद्द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभः स देशः, संतन्यतां प्रतपतां सततं सकालः।
भावः स नन्दतु सदायदनुग्रहेण, रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षुवर्गे ॥१६॥

वे शुभद्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव वर्ते नित वृद्धि करें।
जिनके अनुग्रह सहित मुमुक्षु रत्नत्रय को पूर्ण करें ॥१६॥

प्रध्वस्तघातिकर्माणः, केवलज्ञानभास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतां शांतिं, वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥१७॥

घातिकर्म विध्वंसक जिनवर केवलज्ञानमयी भास्कर।
करें जगत में शांति सदा वृषभादि जिनेश्वर तीर्थंकर ॥१७॥

अंचलिका—

इच्छामि भंते संतिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं, बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं बलदेववासुदेवचक्कहर रिसिमुणि जइअणगारोवगूढाणं थुईसयसहस्स णिलयाणं, उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अंचलिका—

हे भगवन् ! श्री शांतिभक्ति का कायोत्सर्ग किया उसके।
आलोचन करने की इच्छा करना चाहूँ मैं रुचि से ॥
अष्टामहाप्रातिहार्य सहित जो पंचमहाकल्याणक युत।
चौंतिस अतिशय विशेष युत बत्तिस देवेन्द्र मुकुट चर्चित ॥
हलधर वासुदेव प्रतिचक्री ऋषि मुनि यति अनगार सहित।
लाखों स्तुति के निलय वृषभ से वीर प्रभू तक महापुरुष ॥
मंगल महापुरुष तीर्थंकर उन सबको शुभ भक्ति से।
नित्यकाल मैं अर्चूं पूजूं वंदूं नमूं महामुद से ॥
दुःखों का क्षय कर्मों का क्षय मम बोधिलाभ होवे।
सुगति गमन हो समाधिमरण, मम जिनगुण संपति होवे ॥

ज्ञानामृत प्रशस्ति

शंभु छंद

श्री शांतिनाथ के वंदन से, आत्यंतिक शांती मिल जावे ।
मुरझायी ज्ञानकली मेरी, रविज्ञान किरण से खिल जावे ।।
श्रीगौतमस्वामी गुणधर यति, धरसेनसूरि गुरु कुंदकुंद ।
बहु ऋषियों के वचनामृत का, यह 'ज्ञानामृत' है सिंधु बूंद ।।१।।
जिन आगम पढ़ पढ़कर मैंने, विंदु-विंदु अमृतकण से ।
यह नूतन ग्रंथ तैयार किया, 'ज्ञानामृत' नाम धरा रुचि से ।।
शुभ दानतीर्थ यह हस्तिनागपुर क्षेत्र प्रसिद्ध हुआ जग में ।
यह जंबूद्वीप बना सुंदर मेरु से शोभ रहा जग में ।।२।।
रत्नत्रयनिलय वसतिका में मुझ ज्ञानमती ने पूर्ण किया ।
ज्ञानामृत से निजमन को भी पोषण कर समरस पूर लिया ।।
आश्विन शुक्ला पूर्णिमा शरद् पूनो दिन मंगल ख्यात हुआ ।
वीराब्द पचीस शतक चौदह उस दिन यह ग्रंथ समाप्त हुआ ।।३।।
श्रीमूलसंघ में सर्व मान्य यह कुंदकुंद आम्नाय कहा ।
इसमें सरस्वती गच्छ तथा यह बलात्कार गण शोभ रहा ।।
चारित्रचक्रवर्ती भुविमणि आचार्य शांतिसागर यतिवर ।
उन पट्टाधीश महामुनिवर आचार्य वीरसागर गुरुवर ।।४।।
इनकी शिष्या मैं ज्ञानमती, रत्नत्रय आराधन निमित्त ।
नित प्रति जिनवचन हृदय धरती होता उससे पर का भी हित ।।
जब तक जग में जिनधर्म रहे, यह मेरु सुदर्शन बना रहे ।
तब तक 'ज्ञानामृत' ग्रंथ रहे, भविजन मन आनन्द घना रहे ।।५।।

इति प्रशस्ति संपूर्णा ।